माजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन र
माजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन र
जिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन र
जिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रस
क मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्ध
ांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का

॥ रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन ॥

डॉ० दुर्गा दीक्षित

माजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन र
ाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन र
जिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन र
जिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रस
मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्ध
कन रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का

॥ रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन ॥

डॉ. दुर्गा दीक्षित

रससिध्दान्त का सामाजिक मूल्यांकन

रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन

[पुणे विद्यापीठ की पी-एच.डी. की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध]

★

डॉ. (कु.) दुर्गा दीक्षित

हिंदी विभाग, पुणे विद्यापीठ, पूना ७

पुणे विद्यापीठ

गणेशखिंड, पुणे ४११००७

१९७४

This thesis was accepted by the University of Poona for the Degree of Doctor of Philosophy (1971) and is now published by the University with financial assistance from the University Grants Commission New Delhi.

□ मुद्रक :
श्री. ज. श्री. टिळक
केसरी मुद्रणालय
५६८ नारायण, पूना ३०

□ प्रकाशक :
श्री. पां. स. सावंत
कुलसचिव, पुणे विद्यापीठ
पूना ७

□ © प्रथमावृत्ति, मार्च १९७४

□ मूल्य रुपये १५/-

श्रद्धेय गुरुवर

डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित

को

साविनय समर्पित

भूमिका

रस-सिद्धान्त काव्य-विशेष एवं नाट्यास्वाद से लिए प्रस्तावित समस्त भारतीय सिद्धान्तों में प्रधानभूत सिद्धांत रहा है। शास्त्र-लेखन के आदिकाल से लेकर अद्यतन रूप में इसकी मान्यता किसी-न-किसी स्तर पर निरंतर बनी रही है। भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक इस सिद्धांत का विवेचन नाट्य एवं श्रव्य के प्रसंग में अविरत होता आया है। एक साथ काव्य के दोनों विभेदों के संघर्ष में और किसी सिद्धान्त की मान्यता स्थापित नहीं की जा सकी। पण्डितराज जगन्नाथ के बाद भी विवेचन की परंपरा का प्रवाह अनवरुद्ध गति से प्रवाहित होता रहा। मध्य काल में उसमें कुछ मन्थरता भले ही आयी हो, आधुनिक काल में भारतीय भाषाओं से इस सिद्धान्त को पुनः सार्वदेशिक विचार का विषय बनने का अवसर प्राप्त हुआ।

काल प्रवाह के साथ काव्यगत धारणाओं में परिवर्तन के संकेत सदैव मिलते रहते हैं। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में समाज का बौद्धिक स्तर उसकी संवेदना को अपने रूप से नये मोड़ देता रहता है। फलतः अभिव्यक्ति के रूपाकार में ही नहीं उसके अपने आन्तरिक रूप में भी अन्तर आता रहता है। बाह्याभ्यन्तर के इसी अन्तर लक्षित करने पर पुराने उपयोगी सिद्धांतों की नयी परख, उनके पुनर्मूल्यांकन और पुनर्विश्लेषण-विवेचन की आवश्यकता जान पड़ती है। जो यह मानते हैं, कि काव्य भले ही बदलता हो, काव्य शास्त्र नहीं बदलता, उसकी धारणाएँ स्थिर रहती हैं। वे या तो जानबूझकर सत्य से आँख मूँद लेना चाहते हैं या उन सूक्ष्म ब्योरों को पकडने में अक्षम होते हैं, जो बिना गहराई में डूबे सतही तौर पर हाथ नहीं आते।

रस-सिद्धांत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि काल की गति ने भरतमुनि पण्डितराज के बीच कितने ही मोड़ लिए हैं और स्वयं रस-सिद्धान्त को भी अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए अनेक उतार-चढाव देखने पड़े हैं। जो इन उतार–चढावों को लक्षित नहीं कर पाते या अलक्षित ही छोड़ देना चाहते हैं वे भारतीय

मनीषा की अनवरत अन्वेषणशीलता की, उसकी गतिमानता की अवमानना करते हैं। रससिद्धान्तको उसके सामाजिक संदर्भ में रखकर देखने पर उसकी गतिशीलता और उसके आरोहावरोहों का रोचक परिचय प्राप्त होता है। आधुनिक काल की वैज्ञानिक दृष्टि और विवेक शक्ति ने इस रोचक इतिहास में कुछ और जोड़ने का ही यत्न किया है। परिणामस्वरूप रससिद्धान्त के पक्ष–विपक्षमें तार्किकों का समुदाय जुटा हुआ दिखाई देता है। नए सिद्धान्तों के आलोक में रस-सिद्धान्त के पुनः परीक्षण और संयोजन की ही नहीं, परीक्षा की घड़ी भी उपस्थित है। ऐसी स्थिति में सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उसका विचार आवश्यक हो गया है, ताकि एक ओर ऐतिहासिक संदर्भ में उसके विकास का दर्शन किया जा सके और दूसरी ओर नये संदर्भों में स्थिर तत्त्वों की खोज की जा सके। कु. दुर्गा दीक्षित का प्रयत्न इसी दिशा में है।

रस-सिद्धान्त का विचार अभी तक मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं नैतिक धरातल पर ही हुआ था। प्रगतिवाद ने समाजवादी दृष्टि से उस पर कतिपय आरोप भी किए थे और इधर नयी कविता ने बौद्धिकता के बल पर उसके समक्ष प्रश्नचिन्ह भी अंकित किए, किन्तु डॉ. रमेश कुंतल मेघ के अतिरिक्त किसी ने उसे ऐतिहासिक–सामाजिक भूमिका पर परखने का प्रयत्न नहीं किया था। इधर भी अभी कुछ ग्रंथ इस विषय पर प्रकाशित हुए हैं, परंतु उनमें भी इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया गया, बल्कि उनमें पुनरावृत्ति और आग्रहपूर्ण अनुमोदन ही अधिक दिखाई देता है। मुझे इस दिशा में विचार की आवश्यकता का अनुभव कई वर्ष से हो रहा था। मुझे प्रसन्नता है कि कुमारी दुर्गा दीक्षित ने इस दिशा में कार्य करने में पूरे अभिनिवेश से काम लिया है। उन्होंने यह कार्य मेरे निर्देशन में सन् १९६६ में आरंभ कर दिया था। तब तक डॉ. रमेश कुंतल मेघ की पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। इस दृष्टि से दुर्गा दीक्षित का यह कार्य स्वतंत्र रूप में आरंभ हुआ। इस बीच डॉ. कुंतल मेघ का ग्रंथ भी प्रकाशित हो गया। प्रबंध लेखिका को उससे लाभ ही हुआ और उसे अनेक दिशाओं में अपनी स्वतंत्रता बनाये रखने का अवसर प्राप्त हुआ।

कु. दुर्गा दीक्षित ने वर्षों मनोयोगपूर्वक संस्कृत, हिन्दी, मराठी रस-शास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन किया है, साथ ही उन्होंने स्वयं अनेक अन्य शास्त्रों से संबंधित अंग्रेज़ी पुस्तकों और भारतीय इतिहास तथा संस्कृति का विवेचन करनेवाले ग्रंथों का भी अध्ययन किया। इस समस्त अध्ययन के परिणाम-स्वरूप उपस्थित उनकी इस कृति का उचित सम्मान होगा, इसमें मुझे संदेह नहीं है।

डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना (महाराष्ट्र)

२४ मार्च १९७४

प्राक्कथन

पूर्वसूत्र :

भारतीय काव्यशास्त्र में प्राचीनतम ग्रन्थ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' और प्राचीनतम काव्यसिद्धान्त रससिद्धान्त है । इस सिद्धान्त के सन्दर्भ में प्राचीन काल से आजतक आलोचनात्मक तथा व्याख्यात्मक अनेक ग्रंथों की रचना हुई है । आधुनिक काल में भी हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के विद्वानों ने शास्त्रीय दृष्टि अपनायी और रसनिष्पत्ति, रससिद्धान्त के स्वरूप आदि को लेकर ग्रंथों की निर्मिति की । एक ओर रससिद्धान्त को शाश्वत मानकर गौरवान्वित करनेवाले विद्वानों का आग्रह है और दूसरी ओर आधुनिक काल में उसे निरर्थक एवं कालबाह्य माननेवाले आलोचकों का स्वर भी कुछ कम नहीं है । ऐसी स्थिति में इस प्राचीनतम सिद्धान्त को आधुनिक सन्दर्भ में नयी सामाजिक दृष्टि से मूल्यांकित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है ।

उपलब्ध सामग्री :

रससिद्धान्त की शास्त्रीय दृष्टिकोण से पर्याप्त चर्चा, व्याख्यान–प्रव्याख्यान किया गया है । शास्त्रीय दृष्टिकोण से लिखे गये कई ग्रन्थ हिन्दी, मराठी तथा अन्य भाषाओं में उपलब्ध हैं । इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी रससिद्धान्त को परखा गया । इस सन्दर्भ में व्याख्यात्मक रूप में लिखे गये हिन्दी के प्रमुख आधुनिक ग्रंथों की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं । डॉ. श्यामसुन्दरदास ने साहित्यशास्त्रीय चर्चा के सन्दर्भ में 'साहित्यालोचन' में रससिद्धान्त की चर्चा की है । आचार्य शुक्ल ने 'रसमीमांसा' में सर्वप्रथम रससिद्धान्त की व्यावहारिक रूप में चर्चा करते हुए लोक-मंगलवादी दृष्टि अपनाकर विचारप्रवर्तन के लिए मार्ग प्रशस्त किया । डॉ. गुलाबराय ने 'नवरस' में और पं. रामदहिन मिश्र ने 'काव्यदर्पण' में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस-सिद्धान्त को परखा । डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित द्वारा 'रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण' में रससिद्धान्त के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसके अन्तर्गत उठनेवाले प्रश्नों का भारतीय दृष्टि के अनुकूल समाधान प्रस्तुत किया गया । उन्होंने प्राचीन और नव्य समीक्षा सिद्धान्तों की परीक्षा करके रससिद्धान्त की दार्शनिक एवं नैतिक व्याख्या प्रस्तुत की है । इसके अतिरिक्त सामान्य शास्त्रीय दृष्टि से लिखे गये अन्य कई ग्रंथ हैं । डॉ. तारक-नाथ बाली ने 'रससिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या' में दार्शनिक और नैतिक दृष्टि से रससिद्धान्त की परख की है । डॉ. नगेन्द्र लिखित 'रससिद्धान्त' ग्रंथ उल्लेखनीय है । श्री. राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा 'रसविमर्श' में शास्त्रीय दृष्टिकोण से रस की गहनतम चर्चा की गई है । डॉ. निर्मला जैन ने 'रससिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र' में

पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर रससिद्धान्त को तुलनात्मक रूप में परखा है। डॉ. रामलखन शुक्ल का 'साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन' साधारणीकरण की शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करता है।

इसके अतिरिक्त कुछ छुटपुट लेखों आदि के द्वारा रससिद्धान्त के सन्दर्भ में चर्चा होती रही है। कुछ विद्वानों ने एक-एक रस को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे। यथा डॉ. कृष्णदेव झारी द्वारा 'बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य' 'रसशास्त्र और साहित्यसमीक्षा', काव्य मनोविज्ञान और अद्भुत रस, डॉ. व्रजवासीलाल श्रीवास्तव द्वारा 'करुण रस', डॉ. श्रीनिवास शर्मा द्वारा 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में वात्सल्य रस,' डॉ. बरसानेवाले चतुर्वेदी द्वारा 'हिन्दी साहित्य में हास्य रस', बटेकृष्ण द्वारा 'वीर रस का शास्त्रीय अध्ययन'। शृंगार रस पर डॉ. राजेश्वर चतुर्वेदी, डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त के साथ ही डॉ. इन्द्रपालसिंह का 'शृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन' उल्लेखनीय है। डॉ. रामतीर्थ चौधरी 'अभिनव' का 'मधुर रस स्वरूप और विकास' भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

मराठी में रससिद्धान्त के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से परिपूर्ण ग्रंथ डॉ. वाटवे का 'रस-विमर्श' है। डॉ. ग. त्र्यं. देशपांडे का 'भारतीय साहित्यशास्त्र' रससिद्धान्त की शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करता है। श्री. मा. ग. देशमुख का 'भावबंध' रस की नवीनतम व्याख्या का प्रयास है। स्व. दि. के. बेडेकर का कार्य इस संबंध में उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'साहित्यविचार' में रससिद्धान्तगत कतिपय प्रश्नों की चर्चा की है। श्री. न. चिं. केळकर द्वारा लिखित 'हास्य-विनोद-मीमांसा' हास्य रस पर लिखा हुआ एक मौलिक ग्रंथ है। डॉ. प्र. न. जोशी का 'मधुरा भक्ति' भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध के पूर्ण होने के उपरान्त कुछ ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। यथा डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त द्वारा 'रससिद्धान्त–पुनर्विवेचन,' डॉ. तारकानाथ बाली द्वारा 'साधारणीकरण, संप्रेषण और प्रतिबद्धता'। परंतु प्रस्तुत विषय के अध्ययनमें मैंने उन्हीं ग्रंथों का आधार लिया है जो प्रबंध पूर्ण होने के पूर्व उपलब्ध थे। अतः मूल रूप में कोई परिवर्तन या परिवर्धन न करते हुए प्रबंध का उसी मूल रूप में प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रस्तुत विषय का महत्त्व :

इन सभी ग्रन्थों में विभिन्न दृष्टियाँ अपनाने के बावजूद कहीं भी सामाजिक सन्दर्भ में रससिद्धान्त का विचार नहीं किया गया है। इस सन्दर्भ में डॉ. रमेशकुन्तल मेघ द्वारा लिखित 'मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध' ही विशेष उल्लेखनीय ग्रंथ है। आचार्य शुक्ल के विवेचन में निहित व्यवहारवादी एवं लोक-मंगलवादी दृष्टि से इस विचार के लिये प्रेरणा तो मिलती है, परंतु वह विचार भी पूर्णतः सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित नहीं कर पाता। प्रा. दि. के. बेडेकर द्वारा मूलतः

मराठी में लिखित और हिन्दी में अनुवादित दो निबन्ध इस दिशा में उल्लेखनीय हैं। वे 'साहित्यविचार' में संकलित हैं। रससिद्धान्त का सामाजिक सन्दर्भ में विचार-विवेचन करने की आवश्यकता है। इस प्रकार के कार्य की आशा प्रगतिवादियों से थी, परंतु डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. रांगेयराघव आदि के छुटपुट लेखों को छोड़कर इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ। इन लेखों में रससिद्धान्त के कुछ पहलुओं पर ही विचार किया गया है।

अतः नितान्त सामाजिक दृष्टि को अपनाकर रससिद्धान्त का मूल्यांकन करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। रससिद्धान्तगत बातें, उनका क्रमिक विकास और समाज से सम्बन्ध परखने की आवश्यकता है। समाज के बदलते सन्दर्भ के साथ उसकी शाश्वतता का भी निर्णय करना होगा। अतएव सामाजिक सन्दर्भ में रस-सिद्धान्त का विचार करने के लक्ष्य से यह शोध-कार्य किया जा रहा है।

शोध-कार्य की दृष्टि एवं प्रक्रिया :

इसमें रससिद्धान्त की शास्त्रीय चर्चा करने और पूर्वचर्चित बातों को फिर से दोहराना हमारा उद्देश्य नहीं है। आज तक विद्वानों द्वारा चर्चित सामग्री से सर्वमान्य निधि के रूप में मान्य निष्कर्षों को ग्रहण करके सामाजिक सन्दर्भ में उनका परीक्षण करना यहाँ अभीष्ट है। अतः पूर्वाचार्यों की मान्यताओं को ही इस अध्ययन के लिए आधारस्वरूप मानना हमें उचित प्रतीत हुआ, क्योंकि हम इस सिद्धान्त के मूल में सामाजिक दृष्टि को खोजना चाहते हैं। एक दृष्टि से यह भी सैद्धान्तिक आलोचना ही है, अतएव यथासम्भव तार्किक शैली अपनायी गई है, परंतु जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई, वहाँ कुछ उदाहरणों से काम लिया है। कुछ उदाहरण लोकप्रमाणसिद्ध एवं अनुभवसिद्ध हैं और कुछ कल्पित हैं। साहित्य के कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए उनकी व्याख्या भी की गई है।

अध्ययन में विवेचनपद्धति को उद्धरणों की भरमार से सर्वथा बचाया गया है। कारण स्पष्ट है कि उद्धरणों की अपेक्षा सामाजिक सन्दर्भ में मूल प्रश्नों को सुलझाने एवं मूल्यांकन करने की महत्ता हमने अधिक समझी। विशेषतः विषय के सैद्धान्तिक होने से दुर्बोधता की भी सम्भावना रहती है, अतः स्पष्टता के लिए उदाहरण देकर अपने कथनों का औचित्य प्रकट किया गया है।

यों तो मूलतः रससिद्धान्त का अध्ययन कठिन विषय है, साथ ही उसके संदर्भ में मान्य एवं अनुभवसम्पन्न प्रथितयश विद्वानों द्वारा विस्तृत विवेचन किया गया है। ऐसी स्थिति में शोधकर्ता को शोध-कार्य की पूरी प्रक्रिया में भारी उत्तरदायित्व का अनुभव होता रहा। साथ ही सामाजिक संदर्भ में मूल्यांकन करने के कार्य की व्याप्ति भी अधिक थी, जिसके लिए अनेक सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन से काम लेना

पड़ा। इस कार्य के विवेचनक्रम में समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, दैवतशास्त्र, नीतिशास्त्र, मानववंशशास्त्र, इतिहास आदि सामाजिक शास्त्रों के सिद्धान्तों के अध्ययन की आवश्यकता थी। अतः एक तरीके से यह कार्य परिश्रमसाध्य एवं व्यापक रहा है। सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन से एक व्यापक सामाजिक दृष्टि के निर्माण में सहायता ली गई है। साथ ही इन शास्त्रों के सिद्धान्तों को प्रत्यक्षतः प्रसंगों एवं साहित्य के सन्दर्भों में परखने का अवसर भी मिल सकता है।

इस व्यापक कार्य में विभिन्न प्रकार के ग्रंथों की अनुपलब्धि, पूर्वविवेचन की कमी एवं गहन अध्ययन की आवश्यकता के कारण उसे समाप्त करने में पर्याप्त समय बिताना पड़ा। साथ ही अधिक सावधानी एवं सतर्कता से अध्ययन करते हुए किसी निष्कर्ष को प्रथम बार ही सीधे तरीके से स्वीकार न करके बार-बार परिशोधन की आवश्यकता जानकर कार्य करना पड़ा। शोध-कार्य की पूरी प्रक्रिया चार वर्षों तक अविरत चलती रही।

संक्षिप्त परिचय :

शोध-प्रबन्ध के कार्य में इस अध्ययन में दो दिशाएँ अपनायी गई हैं। सिद्धान्त की चर्चा में रसचर्चा का विकास, रससंख्या, रसों के देवता और वर्ण योजना आदि विभिन्न स्थापनाओं को समकालीन सामाजिक परिवेश में परखकर उसकी पृष्ठ-भूमि स्पष्ट करना और सामाजिक प्रभाव की व्याख्या करना उसका एक उद्देश्य रहा है। और आनंदवाद, साधारणीकरण, रसाभास आदि रससिद्धान्तगत तत्त्वों का बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करना दूसरा उद्देश्य है।

इन दोनों दृष्टियों से रससिद्धान्त का मूल्यांकन करते हुए शोधप्रबन्ध को दस अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में शास्त्रीय सिद्धान्त और सामाजिक दृष्टि का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया गया है। मानवीय व्यक्तित्व पर सामाजिक पर्यावरण (Social environment) तथा सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव को लक्ष्य में रखकर समाज और मानव के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की चर्चा की गई है। साथ ही मानवीय सर्जना, कला तथा साहित्य और समाज के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा की गई है।

द्वितीय अध्याय में मानववंशशास्त्र का आधार ग्रहण करके मानवजीवन-विकास की विभिन्न स्थितियाँ, जीवनदृष्टि, सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण और विकास आदि की पृष्ठभूमि पर मानवजीवनविकास की प्रक्रिया की चर्चा करते हुए भावों का उन्मेष, विकास एवं परिवर्तन, सूक्ष्मता, परिष्कार, अभिव्यंजना की पद्धति आदि विभिन्न पहलुओं का सम्यक् दर्शन कराने का प्रयास किया गया है। साथ ही रससूत्र के भावों, विभावों, तथा अनुभावों की सामाजिक व्याख्या करने का प्रयास किया है।

तृतीय अध्याय में रसचर्चा के ऐतिहासिक विकासपट को प्रस्तुत करके भरतमुनि के काल से आजतक विकसनशील सामाजिक स्थितियों की सापेक्षता में समकालीन रसचर्चा को परखने का प्रयास किया गया है। समाजगत राजनीतिक स्थिति, समाजव्यवस्था, धर्मादि का स्वरूप, परिवर्तित जीवनदृष्टि, कलाचेतना, साहित्यसर्जना आदि के परिवेश के प्रभाव-स्वरूप उपस्थित रसचर्चा के विकास के विभिन्न मोडों, स्वीकृत प्रतीकों और रूपकों को स्पष्ट किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में भरतमुनि के द्वारा स्थापित नाट्यरस से काव्यरस की ओर रसचर्चा का रुख बदलने के मूल में होनेवाली सामाजिक काव्यगोष्ठियों के स्वरूप अंकन के साथ विभिन्न कालों में काव्यगोष्ठियों के परिवर्तित रूप को स्पष्ट किया गया है। रसचर्चा पर गोष्ठियों के परिवर्तित स्वरूप के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए नाट्यरस से काव्यरस की ओर प्रयाण का सूत्र उसमें खोजने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही रस के आस्वादक के व्यक्तित्व की धारणा में आचार्यों की मतभिन्नता को समकालीन समाजस्थिति, समाज में कवि का स्थान, विशिष्ट जीवनदृष्टि आदि के प्रकाश में परखा गया है। बदलते हुए सामाजिक परिवेश के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

पंचम अध्याय में रसों के देवता और वर्णविषयक भरतमुनि की योजना को तत्कालीन संस्कार एवं समाज में देवताओं का मान्य स्थान आदि की भूमि पर परखा गया है। परवर्ती आचार्यों के विभिन्न मतों की चर्चा करके खण्डनादि किया गया है और इस योजना में आचार्यों की होनेवाली मूल दृष्टि का उद्घाटन किया गया है। वर्णयोजना में संस्कारों की महत्ता के स्वीकार के साथ ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वर्ण के भावात्मक मूल्य को स्पष्ट किया गया है। विभिन्न मतों का उद्घाटन कर यथावश्यक खण्डन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में रससंख्या के प्रश्न के मूल में स्थित कारणों का शोध करके मूल स्थापना को समाज और संस्कारों के सन्दर्भ में उपस्थित किया गया है। रससंख्यावृद्धि, नूतन स्थापना, संख्या घटाना आदि में परिवर्तनशील सामाजिक स्थिति, राजनीति और दर्शन की पृष्ठभूमि स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

सप्तम अध्याय में सामाजिक मनोविज्ञान के आधार पर रसास्वाद की प्रक्रिया का सामाजिक पक्ष उद्घटित करने का प्रयास है। समाजगत विभिन्न समूहों, भेद-विभेदों और विशेषताओं को लक्ष्य कर नाटक, काव्यपाठ और काव्य के आस्वाद की प्रक्रिया को परखने की चेष्टा की गई है। नाट्यरस के सन्दर्भ में समूह-मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करके आस्वादन-प्रक्रिया, नाटक, काव्यपाठ और मौनपाठ में रसास्वाद की भिन्न मनस्थिति को स्पष्ट किया गया है। रसास्वाद प्रक्रिया में समूह की आंतरक्रिया के प्रभाव की चर्चा की गई है।

अष्टम अध्याम में साधारणीकरण की सामाजिकता का विचार करते हुए समाज की बदलती हुई जीवनदृष्टि (world view) को व्यक्तिभिन्नता और युगपरिवर्तन की कसौटी पर कसा गया है। वर्गभेद, जातिभेद, श्लीलता-अश्लीलता, नैतिकता-अनैतिकता आदि के साथ उसके सम्बन्ध की परख की गई है। साधारणीकरण की अनिवार्यता पर प्रश्नचिन्ह अंकित होने के कई कारण हैं। उदाहरण के लिए एक ही कवि के प्रति भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ होने का कारण क्या है, भिन्न काल में विशेष रुचि से ही काव्यपाठ क्यों किया जाता है, किसी रचना के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता क्यों प्रतीत होती है और किसी कवि को कालबाह्य क्यों माना जाता है? आधुनिक काव्य के सन्दर्भ में साधारणीकरण की अनिवार्यता संदिग्ध जान पडती है।

नवम अध्याय में आनन्दवाद का सामाजिक मूल्यांकन करते हुए आचार्यों द्वारा कथित आनन्द के स्वरूप का विश्लेषण करके आज की स्थिति में उसकी सम्भवनीयता पर विचार किया गया है। कवि और आस्वादक की परिवर्तनशील संवेदना के परिप्रेक्ष्य में आनन्द, तन्मयता, अखण्डत्व, अलौकिकत्व और ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व का विचार किया गया है। जनकाव्य, कलाकाव्य, महाकाव्य-मुक्तक, नवकाव्य आदि से प्राप्त होनेवाले आनन्द की चर्चा गई है।

दशम अध्याय में रसाभास पर प्रकाश डालते हुए आचार्यों द्वारा चर्चित रसाभास के तत्त्वों को उद्घाटित किया गया है। उसके नैतिक एवं सांस्कृतिक आधार के साथ सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और कलात्मक आधार को स्पष्ट किया है। समाज और युगपरिवर्तन से सामाजिक धारणाओं और नैतिक कल्पनाओं में अन्तर आने के कारण रसाभास की स्थापना निराधार-सी लगती है। रस के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगनेके कारण आज का अधिकतर काव्य रसाभासात्मक ही है।

उपसंहार में रससिद्धान्त के सामाजिक मूल्यांकन के फलस्वरूप प्राप्त निष्कर्ष संक्षेप में व्यक्त किये गये हैं। समग्र अध्ययन में समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, नीतिशास्त्र, दैवतशास्त्र और काव्यशास्त्र आदि विभिन्न विषयों की सहायता से रससिद्धांत का सामाजिक मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

विनम्र निवेदन :

प्रस्तुत प्रबन्ध को प्रकाशित करने के पूर्व अपना विनम्र-कृतज्ञ भाव समर्पित करना चाहती हूँ। सर्वप्रथम श्रद्धेय गुरुवर डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित के सम्मुख विनत हूँ, जिन्होंने विषयचयन से लेकर प्रबन्ध की समाप्ति तक निरन्तर प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं दिशानिर्देश की कृपा की। इस शोध में जो कुछ कार्य हो सका, उसका श्रेय उनको है, कमियों का उत्तरदायित्व मेरा अपना है। प्रबंध के आरंभ से लेकर प्रकाशन तक नित्य

नितान्त स्नेहभाव से वे सक्रिय रहे। रस प्रबंध को भूमिका लिखकर भी उन्होंने मुझे उपकृत किया है। अतः मैं उनके प्रति प्रणत हूँ। डॉ. भगीरथ मिश्र, डॉ. नामवरसिंह, डॉ. रमेशकुंतल मेघ तथा प्रा. देवेन्द्रनाथ शर्मा जैसे विद्वानों की बहुमूल्य सूचनाओं एवं मार्गदर्शन के लिये भी मैं कृतज्ञ हूँ। पुणे विद्यापीठ के हिन्दी विभाग के अन्य प्राध्यापकों की हार्दिक महानुभूति और सहयोग में लिए धन्यवाद देती हूँ।

इस कार्य के लिए विभिन्न ग्रन्थालयों से सहाथता लेनी पड़ी। 'जयकर ग्रंथालय' के अधिकारियों के प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनसे सब प्रकार की सुविधाएँ एवं सहयोग नित्य ही प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त ई. प्रा. ठाकरसी कॉलेज-नासिक, एस. एन्. डी. टी. कॉलेज पुणे, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे, सरस्वतीभुवन कॉलेज-औरंगाबाद, सांस्कृतिक कोश कार्यालय, पुणे, आदि कई संस्थाओं के ग्रन्थालयों से ग्रन्थसामग्री प्राप्त करने में सहायता मिली। अतः उनके प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित के व्यक्तिगत ग्रन्थसंग्रह से कई बार दुर्लभ ग्रन्थों को पाने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। इसके पीछे उनका मेरे प्रति अमित स्नेह और उनकी उदारता ही व्यक्त हुई है, यह मेरे लिए गौरव का विषय है।

पुणे विद्यापीठ द्वारा इस शोध कार्य के लिए आर्थिक सहायता ही नहीं दी गई, बल्कि अब उसका प्रकाशन भी उसी के द्वारा ही हो रहा है। इसके लिए मैं उनकी ऋणी हूँ। ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य सत्वर पूर्ण करने में केसरी मुद्रणालय के व्यवस्थापकों ने जो कार्यशीलतापूर्वक सहयोग दिया, उसके लिए मैं उनकी ऋणी हूँ। मेरे इस शोधकार्य के आरम्भ से समाप्ति तक जिन कृपालुओं एवं सहयोगियों से नित्य हीं सहयोग मिलता रहा रहा, उन सबके प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ। यह प्रबंध विद्वानों का परितोष कर सके तो मैं अपने को कृतकार्य समझूँगी।

विनीत

वर्षप्रतिपदा, १८९६ दुर्गा दीक्षित

अनुक्रम

भूमिका : डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित

प्राक्कथन –

प्रथम अध्याय : शास्त्रीय सिद्धान्त और सामाजिक दृष्टि १ से १८

कला, शास्त्र, समाज मानव निर्मित – मानव पर अनुवंश : पर्यावरण का प्रभाव – पर्यावरण – प्राकृतिक, मानवकृत – समाज की प्रधानता – समाज–स्वरूप, विशेषताएँ–समाजान्तर्गत आंतरक्रिया–व्यक्ति और समाज – व्यक्तित्व निर्माण – सभ्यता और संस्कृति – संस्कृति की परिभाषा – दोनों में भिन्नता – संस्कृतिभिन्नता से व्यवहारभिन्नता – भावों, विचारों पर प्रभाव – अभिव्यंजना में अंतर – समाज, सभ्यता, संस्कृति और मानव–अन्योन्याश्रित सम्बन्ध–संस्कृति का सारतत्व–मूल्य क्या है ? –शाश्वत-अशाश्वत मूल्य –युग और समाजसापेक्षता–कलाभिव्यक्ति – सौंदर्यात्मक चेतना – मानव और समाज – समाज और साहित्य –परस्पराश्रितता –धर्म का साहित्य पर प्रभाव –वैदिक, जैन, बौद्ध, इस्लाम धर्म – राजनीतिक प्रभाव – समाजव्यवस्था – जीवनचेतना और साहित्य का टोन–दर्शन और साहित्य–मार्क्स-वाद–गांधीवाद और साहित्य–विज्ञानयुग-बुद्धिवाद–मनोवैज्ञानिक उन्नति – नयी आलोचना–पद्धतियों का जन्म – कला, साहित्य, साहित्यशास्त्र – शास्त्र और शास्त्रीय सिद्धान्त – परिवर्तनशीलता – सामाजिक दृष्टि का सम्बन्ध

द्वितीय अध्याय : मानवजीवन का विकास और विभिन्न भावों का उन्मेष १९ से ४३

रससूत्र में " भाव "शब्द – भावों की परिवर्तनशीलता शाश्वतता – मनोविज्ञान का विषय – मानववंशशास्त्रीय आधारग्रहण – मानव को प्रकृत्या प्राप्त विशेषताएँ – जीवनविकास की लम्बी कहानी – आदि मानव – प्रथम संपर्क प्रकृति से – पशु और मानव से साधननिर्मिति – सभ्यताविकास – संस्कृति – जीवनपरिवर्तन – जीवनविकासक्रम – विकास का विभाजन – ग्रॅहम क्लार्क – विकास-स्थितियाँ – सात

अवस्थाएँ – आदिमानव – शिकारी – मत्स्योपजीवी – काश्तकार – संस्कृतिनिर्माता – धर्मप्राण – आधुनिक भावविकास का का मूल आधार – विभिन्न प्रेरक – भावोदय – भावविकास – भावाभिव्यक्ति – इन्द्रियजन्य संवेदन – समाजमान्य स्थिति – द्वैत स्थिति – समष्टि – सामाजिक परिवेश – सांस्कृतिक आधार – आदिमानव में भय, क्रोध और काम – भय – आत्मरक्षा – अभिव्यक्ति – क्रोध – विकसित स्वरूप, अभिव्यंजना, क्रोध के भेद – उपभेद, काम – लैंगिकता – द्वैत – समष्टिगत अभिव्यंजना – सौंदर्यवृत्ति और संस्कार – गोपनीयता – काम का परिष्कृत रूप – प्रेम : प्रसार, वात्सल्य, स्नेह, सख्य, भक्ति, प्रेम आदि – आस्था का निर्माण – जादू – कुतूहल – मानसिक स्तर – सुख-दुःखात्मकता – हर्ष – दुःख – युद्धप्रवृत्ति – वीरता – जुगुप्सा – इन्द्रियज – मानसिक – संस्कार – सौंदर्यचेतना – भावों का उन्मेष – प्रेरकों में परिवर्तन – सूक्ष्म बनना – समय, स्थिति, सामाजिक परिवेश का प्रभाव – भावों, विभावों, अनुभावों में अंतर – वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता – सम्बन्ध।

तृतीय अध्याय : सामाजिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में रसचर्चा का विकास — ४४ से ७८

रससिद्धान्त का सूत्रपात – विकासप्रवाह – ऐतिहासिक विकासपट – छः चरण :

प्रथम चरण – भरतमुनिपूर्व एवं भरत का रससिद्धान्त – काल-निर्णय – राजनीतिक स्थिति – समाजव्यवस्था – धर्म की स्थिति – उपलब्ध साहित्य – कलासम्पन्नता – नाट्य का महत्त्व – भरत को प्रेरणा – सुधारवादी दृष्टिकोण – ब्राह्मणवादी कट्टरता – प्रधान हेतु – परम्परावादिता – नाटक – "क्रीडनक" का स्वीकार – लोकानुकरण – रसास्वाद, जिव्हास्वाद – आयुर्वेद से प्रेरणा – व्यवहारवादी – सूत्र में अभिव्यक्ति।

द्वितीय चरण – गुप्त-हर्ष पश्चात् का काल – संस्कार – राजनीतिक स्थिरता – सम्पन्नता – सामाजिक शान्ति – धर्म का रूप – कलात्मक विकास – दो धाराएँ – काव्यवादी – अलंकारवादी – और नाट्यवादी भरत के टीकाकार – स्थापनाएँ – दार्शनिक प्रभाव – वस्तुपरक चर्चा।

तृतीय चरण – काल – राजनीतिक विघटन – सामन्तवाद – सामाजिक संकीर्णता – दार्शनिक क्रांति – धर्मसंप्रदाय – तन्त्रवाद – कलाविलास – काव्यगोष्ठियाँ – 'भावक' वर्ग – दार्शनिक चिन्तन – काश्मीर कनोज केन्द्र – ध्वनिगत की स्थापना – रसचर्चा में क्रान्ति – नाट्यरस : काव्यरस मिलनबिन्दु – दार्शनिक परिवेश – विषयीपक्ष – आध्यात्मिक आवरण – सूक्ष्म आत्मपरकता।

चौथा चरण – मुसलमान-मुगल शासन : दो धर्मों का संघर्ष – समाज और शासकों में खाई – तीन वर्ग – हिंदु धर्म में संकीर्णता – विभिन्न संप्रदाय – दर्शनों का विकास – कलाविकास – मुगल शैली – राजपूत शैली – संस्कृत कवि आचार्य – दरबारी प्रभाव – अध्यात्म प्रभाव – दो धाराओं में काव्यशास्त्रीय चर्चा – भक्तिरस।

पाँचवाँ चरण – मराठों का राज्य – अंग्रेज शासन – रियासतों के भग्न अवशेष – प्रतिकूलता – संस्कृत की अवनति – हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास।

छठा चरण – भारत में रिनेसाँ – स्वाधीनता आन्दोलन – समाजजागृति – पाश्चात्य प्रभाव – नया साहित्य – यंत्रयुग – औद्योगिक क्रांति – धार्मिक क्रांति – स्वाधीनता प्राप्ति – स्वप्नभंग – नई चेतना – विभिन्न शास्त्रों का विकास – रसचर्चा का नूतनतम स्वरूप – परिष्कार – परिवर्तन – नये सिद्धान्त – विरोध।

चतुर्थ अध्याय : नाट्यरस से काव्यरस की ओर ७९ से १००

भरतमुनि का नाट्यरस – काव्यरस में समापन – प्रधान कारण – सामाजिक पृष्ठभूमि – चर्चा का स्वरूप – कलात्मक सर्जना – आस्वादन प्रक्रिया – सर्जक : आस्वादक – समाजसापेक्ष व्यक्तित्व – सामाजिक स्थिति – मौखिक चर्चा – विदग्ध गोष्ठियाँ – प्राचीनता – वात्स्यायनकालीन नागरक का जीवन – संस्कृति – विदग्ध गोष्ठियाँ – स्वरूप – चर्चा – समाज – घटानिबन्धन – नाटक – चर्चा का – संस्थागत स्वरूप – परवर्ती काव्यगोष्ठियाँ – काव्यपाठ का महत्व – दरबारी वातावरण – कवि, भावक – चर्चा का स्वरूप – राजशेखरकालीन कविगोष्ठी – कविशिक्षा – ब्रह्मसभा – कविपरीक्षा – दार्शनिक मतप्रवाह – आधुनिक काल में गोष्ठियाँ – मुद्रणकला – पत्रपत्रिकाएँ – भरतकालीन विदग्धगोष्ठियाँ, गुप्तकालीन विद्यागोष्ठियाँ, तत्पश्चात् ब्रह्मसभाएँ – तुलनात्मक अध्ययन – संस्था से

व्यक्तिसापेक्ष काव्यचर्चा – परिवर्तन – आस्वादक : अभिन्न अंग – रसास्वाद में महत्ता – आचार्यों की दृष्टि – व्यक्तित्व : धारणा – विभिन्न शब्दयोजना – सार्थकता – भरत का 'सुमनस' – 'प्रेक्षक प्रमाता' – भट्टलोल्लट का 'सामाजिक' – 'सहृदय' बौद्धिक संस्कार – विशेषताएँ – 'रसिक' दरबारी प्रभाव – 'रसिक योगी' – व्यक्तित्व में परिवर्तन – काव्यशास्त्रीय रंगमंच – सामाजिक परिवेश – बदलती भूमिकाएँ – दिग्दर्शन ।

पंचम अध्याय : रस के देवता और वर्ण १०१ से १२६

भरत की योजना – सामाजिक मनोविज्ञान का आधार – दैवतशास्त्र – देवकथा (मिथ्) – अर्थ – महत्व – परम्परा – समाज और साहित्य – वैदिक दैवतशास्त्र – अध्ययन की दिशाएँ – सांस्कृतिक दैवतशास्त्र – देवताओं की कल्पनाएँ – उदय, विकास, परिवर्तन–मिथ-विकसनशीलता – भरत पर वैदिक प्रभाव – देवासुर-द्वंद्व की कथा – उभरनेवाले कई प्रश्न – शिव की महत्ता – सामाजिक और सांस्कृतिक आधार – देवताओं का व्यक्तित्व – रूपविधान – विशेषताएँ, उपाधियाँ – शृंगार – विष्णु – सृजनत्व का प्रतीक – वीर रस – इन्द्र – राष्ट्रीय व्यक्तित्व – रौद्र रस के रुद्र देवता – शिव का अवतार – महाकाल – प्रमथ – हास्य के देवता – अद्भुत ब्रह्मा – विश्वनिर्माता – गौणत्व क्यों ? – यम और करुण रस – कालभैरव – भयानक रस – वात्सल्य, भक्ति और शान्त के देवता – अन्य मत – खण्डन – समाजपरिवर्तन – व्यक्तिगत सूझ – आज की स्थिति । वर्णयोजना – विभिन्न मत – सांस्कृतिक आधार – मनोवैज्ञानिक आधार – रंगों का भावात्मक मूल्य – रंगमंच – कीथ का मत – खण्डन – प्रत्येक देवता का रूपवर्णन – वर्णयोजना का आचार्यों द्वारा परिवर्तन – नवीन स्थापनाएँ – खण्डन – निष्कर्ष ।

षष्ठ अध्याय : रससंख्या १२७ से १४३

विस्तार, संकोच वर्गीकरण – प्रधानगौणत्व – तीन दृष्टियाँ – समकालीन साहित्य की उपलब्धि – सांस्कृतिक प्रभाव – सामाजिक भाव (social tone) – रसों की संख्या – विकासक्रम – भरत के आठ रस क्यों ? चार का प्रधानत्व – विभिन्न मत – तत्कालीन सामाजिक प्रभाव – सांस्कृतिक आधार – वीर शृंगार

की प्रतिष्ठा – भक्ति और शान्त नहीं – कारण – रसों की स्थापना – दर्शन : विशेष – धार्मिक प्रभाव – समाज-स्थिति – राजनीतिक पृष्ठभूमि – क्रांति, प्रक्षोभ, उद्वेग आदि परिवर्तित समाजरचना से उद्बुद्ध ।

सप्तम अध्याय : समूह, व्यक्ति और रसात्मक बोध की स्थिति १४४ से १६८

मानवजीवन की समाजसापेक्षता – विभिन्न समूह – विभिन्न भेद – विशिष्टताएँ – साहित्यिक कृति का स्वरूप – सामूहिक रूप में आस्वाद–व्यक्तिगत काव्यास्वाद–समूह–संगठित : असंगठित–झुण्ड की विशेषताएँ – भीड – परिभाषा – झुण्ड से भिन्नत्व – श्रोतृवृंद – प्रेक्षकगण (audience) – भीड़ से भिन्नता – जनता या लोकमत – भीड़ और जनता में अंतर – समूह में आंतरक्रिया – दृश्यकाव्य – आस्वादनप्रक्रिया का विश्लेषण – प्रभाव – मन्चीय काव्यपाठ की विशेषताएँ – परम्पराएँ – महत्ता – छन्दादि का महत्त्व – मौनपाठ का स्वरूप – पाठकगण : लोकमत – रसास्वाद के विभिन्न स्तर – प्रेक्षक – सामूहिक इकाई – काव्यपाठ से रसात्मक बोध – छंद : लय का प्रभाव – आधुनिक काव्यपाठ – मौनपाठ – नवकाव्य के परिप्रेक्ष्य में काव्यपाठ – मौनपाठ – रसबोध की स्थिति ।

अष्टम अध्याय : साधारणीकरण की सामाजिक व्याख्या १६९ से १९२

जटिल समस्या – आचार्यों की स्थापनाएँ – सामाजिक आधार – प्राचीन जीवन – परिवर्तन – आज की स्थिति में साधारणीकरण की स्थिति – व्यक्तित्व-चित्रण में अंतर – पाठक के बदलते संस्कार – युग और देश की राजनीतिक स्थिति में अंतर – पाठक का साधारणीकरण, समस्या – रुचिभिन्नता, संस्कार, प्रवृत्ति एवं क्षमता में अंतर – काल का व्यवधान – आज व्यक्तिवाद की महत्ता – विशेषीकरण की प्रवृत्ति – दुर्बोधता – दुरूहता – नया पाठक : पुरानी कृतियाँ–पुराना पाठक : आज की कृतियाँ–रसास्वादन में कठिनाई – कवि का कालबाह्य (outdated) होना – शाश्वतता – आज नवीनतम प्रयोग – शैली, शिल्प, भाषा में अंतर – काव्य भाषा और समसामयिकता – साधारणीकरण में अंतर, -- अभिनय और श्रव्यात्मकता में अन्तर – प्रभाव – निष्कर्ष ।

नवम अध्याय : आनन्दवाद का सामाजिक मूल्यांकन १९३ से २१३

आचार्यों की स्थापना में आनंद का स्वरूप – विशेषताएँ – दार्शनिक आवरण – युगीन प्रभाव – तन्मयीभवन अनिवार्य शर्त – दर्शन का प्रभाव – परब्रह्मास्वाद – योग का शब्द – तत्कालीन सामाजिक स्थिति का प्रभाव – आज असंभव – परिवर्तित समाज-स्थिति – मानव -- जीवन में संत्रास – पीडा – अशांति – रस व्यक्तिनिष्ठ – पाठक की परिवर्तनशील संवेदना – युग-समाजसापेक्षता – आनंद व्यक्तिसापेक्ष – रुचिभिन्नता – मन-स्थिति – जनकाव्य – कलाकाव्य – आस्वाद में अन्तर – आनंद की भिन्न स्थितियाँ – समाज मनोविज्ञान का आधार – परिवर्तित आलोचना-पद्धातियों का प्रभाव – कवि – सर्जक – व्यक्तित्व समाज-सापेक्ष – संवेदना में अन्तर – नया रूप – प्राचीन और आधुनिक कवि – पाठक की अनुकूलता की अपेक्षा नहीं – कविता की प्रवृत्ति में परिवर्तन – नयी अनुभूति – नये प्रतीक-बिम्बादि – समसामयिक संवेदना – खण्डित भावराशि – महाकाव्य – मुक्तक से प्राप्त रसात्मक बोध में अन्तर – आनंद की कोटि में भी – करुण रस काव्य – आनंद नहीं – आनंद का अखण्डत्व, अलौकिकत्व – ब्रह्मानंद-सहोदरत्व – दार्शनिक शब्दावली – उच्चत्व – काव्यानंद – ऐंद्रिय आनंद से भिन्न – मानसिक से भिन्न – मानसिक से उच्चतर – बौद्धिक नहीं – सम्मिश्र उच्च – दर्शन का आधार – आचार्य शुक्ल द्वारा मानसिक स्तर पर स्थित-अनिवार्यता का खण्डन – रसात्मकता के दो स्तर – रसविभोरावस्था – काव्यानुभूति – निष्कर्ष ।

दशम अध्याय : रसाभास का सामाजिक मूल्यांकन २१४ से २४०

काव्यास्वाद – रसाभास की स्थिति – आभास का अर्थ – रस का आभास – आचार्यों की स्थापना – अनौचित्य मूल आधार – औचित्य-अनौचित्य अर्थ – औचित्यनिर्णय – विवेक से निर्णय – बुद्धि और काव्य – अच्छा-बुरा, शिव-अशिव – औचित्य की गतिशीलता – युग, स्थिति, संदर्भ--सापेक्षता–समाज और संस्कृति का प्रभाव – औचित्य-कल्पना में अन्तर – नीति – अर्थ – वर्गीकरण – भारतीय धर्मशास्त्र में नीति – पाश्चात्य नीतिशास्त्र – शिव-अशिव – नीतिसिद्धान्त – नियमों का आदर्श – आनंद-

वाद – हेतुवाद – पूर्णतावाद – नीति के आधार – परिवर्तन-शीलता – शाश्वतता-अशाश्वतता – श्लीलता – अश्लीलता – समाजस्थिति की सापेक्षता – नीति और काव्य का सम्बन्ध – कलात्मकता – पाठक की अनुकूल मनस्थिति – आयु, लिंग, देश, स्थिति – भेद – पात्र के प्रति सहानुभूति का अभाव – नैतिक संस्कार – कलामूल्य महत्त्वपूर्ण – वनस्पतियों तथा प्राणियों में भावाभिव्यंजना – रस की स्थिति ?

उपसंहार : २४१ से २४७

प्रमुख सहायक ग्रंथ और पत्रिकाएँ २४८ से २५६

नामसूची : २५७ से २५९

■ ■

प्रथम अध्याय

शास्त्रीय सिद्धान्त और सामाजिक दृष्टि

कला और शास्त्र दोनों समाज के समान ही मानवरचित हैं, अतः दोनों का मानवजीवन से निकटतम सम्बन्ध है। समाज मानवीय निर्मिति का आरंभस्थल है और शास्त्र उसकी विकसित प्रज्ञा का प्रतीक है। साहित्य या कला मनुष्य की प्राचीनतम अभिव्यक्तियों में से एक है। रंग, रेखा और शब्दों द्वारा मानवीय विचार और अनुभूति को साहित्य में अभिव्यक्ति मिलती है। मार्क्सवादी आलोचक **क्रिस्टोफर कॉडवेल** के अनुसार "कला की उत्पत्ति समाज से होती है, जैसे मोती की सीपी से; और कला से बाहर खड़े होने का मतलब समाज के बाहर खडे होना है।"[1]

समाजजीवी मानव समस्त जीवधारियों में श्रेष्ठतम प्राणी है। उसने अपनी बुद्धि, भाषाशक्ति, सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दृष्टि और सामाजिकता की प्रवृत्ति के आधारपर जीवन का विकास करके जगत में उच्चता पायी है। उसने अपने हाथ के कौशलद्वारा विभिन्न हथियार बनाते हुए कई कलाओं, कौशलपूर्ण कृतियों और उत्तम कारीगरी का निर्माण करके अपने जीवन को अधिकाधिक सुखमय एवं उन्नत बनाया है। जीवनविकास के विभिन्न चरणों में उसने व्यापक विचारजगत एवं भावजगत का निर्माण कर विभिन्न शास्त्रों और कलाओं को जन्म दिया है। मानव के जीवन में कलाओं की निर्मिति पहले हुई, शास्त्र की बाद में। यदि बुद्धि की विचार-विश्लेषक-शक्ति ने एक ओर उसके जीवन में भौतिक विकास को चरमस्थिति तक पहुँचाने में सहायता की है, तो दूसरी ओर उसके प्रबुद्ध एवं संवेदनाक्षम हृदय ने भावजगत् का पर्याप्त विकास करके उसे सांस्कृतिक धरातल पर स्थित किया है। मानवीय प्रतिभा ने अपनी अनुभूतियों, संवेदनाओं और सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण को विभिन्न माध्यमों द्वारा व्यक्त कर कलात्मक

१. इल्यूजन ॲन्ड रियॅलिटी, पृ. ९

सर्जना की है। कलाविश्व में रमनेवाला मनुष्य कला के रूपादि की चर्चा करता रहा है और बाद में उसका शास्त्र बनाता रहा है।

कला और शास्त्रों के निर्माता मानव के व्यक्तित्व में जन्म से ही कुछ सहज-प्रवृत्तियाँ या मूलवृत्तियाँ (instincts), प्रेरणाएँ (motivations) और अनुवंश (heridity) से प्राप्त कुछ धर्म, गुण या विशेषताएँ होती हैं। इन विशेषताओं के सहित प्राप्त जीवन के विकास के साथ अन्य बाह्य परिस्थिति – पर्यावरण (environment) का सम्बन्ध घटित होता है। व्यक्तित्व के निर्माण में पर्यावरण का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न परिभाषाओं द्वारा पर्यावरण के स्वरूप को स्पष्ट किया है। **रॉस** के अनुसार "परिवेश या पर्यावरण हमें प्रभावित करनेवाली किसी भी बाह्य शक्ति का ही नाम है।"[1]

गिसबर्ट की दृष्टि में "किसी भी विषय को तत्काल घेरकर उपस्थित होने तथा उसे प्रभावित करनेवाली कोई भी स्थिति पर्यावरण कहलाती है।"[2] अर्थात् मनुष्य-जीवन पर बाह्य बातों का जो भी प्रभाव होता रहता है, वह पर्यावरण का ही प्रभाव है।

यह पर्यावरण या वातावरण (environment) भौगोलिक या प्राकृतिक भी होता है और मानवकृत भी। भौगोलिक स्थिति, जलवायु, निवासस्थान, वहाँ की प्रकृति का स्वरूप, उसका मानवपर आधिपत्य आदि बातें प्राकृतिक पर्यावरण के अंतर्गत आती हैं। प्राकृतिक पर्यावरण का प्रभाव मनुष्य के शरीर, कद, स्वास्थ्य, आचार, चालचलन, बोलने के ढंग, रीतिरिवाज, उपासनादि पद्धतियों, सौंदर्यात्मक दृष्टि और कलानिर्मिति आदि सब पर होता है।

इसीलिये विभिन्न भौगोलिक पर्यावरण के निवासियों की रुचियों, जीवनपद्धतियों एवं संकेतों आदि में पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है। परंतु प्राकृतिक परिवेश से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं मानवकृत पर्यावरण। मानव द्वारा बनाये गये आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्ध तथा सभ्यता और संस्कृति मानवकृत पर्यावरण में अंतर्भूत होते हैं। ये सब पारस्परिक सबन्ध मानव के व्यक्तित्व को न केवल प्रभावित करते हैं, बल्कि उसे मूर्त रूप भी प्रदान करते हैं।

१. Environment is any external force which influences us.
Ross—Groundwork of Educational psy. P. 76.

२. Environment is anything immediately surrounding an object and exerting a direct influence on it.
Gisbert—Fundamentals of Sociology. P. 243.

मानवकृत सब प्रकार के सम्बन्धों में परस्पर अंतरंग सम्बन्ध-सूत्र बना रहता है। यह अंतःसूत्र मानव को समूह के अंतर्गत बांधे रखता है। मनुष्य आरंभ की स्थिति में तो केवल संपर्कवश समूह बनाकर रहता था पर जीवनविकास के प्रवाह में उत्तरोत्तर बढते जीवनसंघर्ष को निभाने के लिए समाज का निर्माण आवश्यक प्रतीत हुआ। सहयोग-भावनासे समाज का निर्माण किया गया।

इसका अर्थ यह नहीं कि कई व्यक्तियों का संपर्कवश बना हुआ एक समूह मात्र समाज है, अपितु समाज मानव के परस्पर संबंधों की अमूर्त प्रक्रिया है। समाज में एक निश्चित व्यवस्था रहती है। समाज के मानव परस्पर संबंधों का एक जाल है, जिसमें व्यक्ति और व्यक्ति के परस्पर आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और अन्य कई प्रकार के सम्बन्ध जुडे हुए रहते हैं। समाज के निर्माण के कारण ही मनुष्य के अनियंत्रित एवं अव्यवस्थित जीवन में नियंत्रणपूर्ण व्यवस्था उत्पन्न हो सकी है। आरंभिक स्थिति में उसकी सारी क्रियाएँ, स्वतंत्र, स्वैर, अनियंत्रित एवं अकेले उसी-तक सीमित थी। परंतु जीवनविकास के पथ पर अग्रसर होते समय ही पारस्परिक सहयोग, निकट संपर्क और सामाजिक पारस्परिक सबन्धों की आधारशिला पर समाज की रचना हुई और उसके साथ मनुष्य के जीवन-विकास को क्षिप्र गति प्राप्त हुई।

व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है। उसे समाज से अलग करके नहीं देखा जा सकता। समाज के साथ उसका जीवन अभिन्न रूप से जुड़ा है। वही उसके समस्त व्यापारों को प्रभावित करता है। समाज के स्वरूप को परिभाषित करते हुए समाजशास्त्री मॅकलिव्हर लिखते हैं, "समाज विभिन्न समूहों में उपयोगिता और व्यवस्था, अधिकार एवं परस्पर सहकार्य से युक्त एक व्यवस्था है। उसमें मानवी व्यवहार एवं स्वातंत्र्य का विभाजन रहता है। ऐसी नित्य परिवर्तनशील सम्मिश्र व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। वह नित्य बदलता रहता है और सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने से गुँथा हुआ एक जाल है।"[1]

गिन्सबर्ग समाज के स्वरूप को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं, "समाज निश्चित सम्बन्धों एवं व्यवहार के नियमों में बद्ध व्यक्तियों का ऐसा संगठित समूह है, जो उनके

---

१. Society is a system of usages and procedures, of authority and mutual aid, of many groupings and divisions of concrets, of human behaviour and of liberties. This everchanging, complex system, we call society. It is always changing. It is the net work of social relationship.

Maclever and Page (Society – P. No. 3)

सम्बन्धों का स्वीकार न करनेवाले तथा उससे भिन्न व्यवहार करनेवाले प्राणिसमूह को समाज के सदस्यों से अलग करता है।"[२]

समाज व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों की एक परिपूर्ण व्यवस्था है जिसमें गति एवं परिवर्तनशीलता रहती है। सभी प्रकारके, सभी क्षेत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले सूत्र इसमें गुँथे हुए हैं। एक ही व्यक्ति अपने परिवार, विद्यालय, मित्रमंडली, मंदिर, कार्यालय, राष्ट्र आदि कई संस्थाओं का सदस्य होता है। उसके इन विभिन्न सम्बन्ध-सूत्रों का संगठित रूप समाज के अंतर्गत विद्यमान होता है। अतः प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपसे इन सभी में परस्पर सम्बन्ध बना रहता है।

समाज की कई विशेषताएँ हैं, जो व्यक्ति और समाज की अभिन्नता, निकटता और अन्योन्याश्रितता को व्यक्त करती हैं। पारस्परिक सामाजिक सम्बन्ध (social relations) समाजसंगठन के प्रधान आधार हैं। व्यक्ति समाज का सदस्य होने के कारण सामाजिक चेतना (social consciousness) का अनुभव करता है। समाज कोई वस्तु नहीं है, अपितु एक प्रक्रिया (process) है, जो व्यक्ति और समष्टि का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करती है। उस प्रक्रिया के अंतर्गत आदान-प्रदान (give and take) की विशेष महत्ता होती है। "पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना" के अनुसार व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नता तो अवश्य होती है परंतु युग और संदर्भ के साथ उसका स्वरूप भी नित्य परिवर्तनशील रहता है। उसके जीवन के अंतर्गत एक सामाजिक व्यवस्था (social organisation) होती है, भले ही यह व्यवस्था विभिन्न स्तरों पर ही हो। मनुष्य की आयु, लिंग, रुचि, मर्यादा, योग्यता आदि के आधार पर समाज में विभिन्न स्तरों का निर्माण होता है और वही भिन्नता उत्पन्न करता है। इस वैविध्य और भिन्नता के बावजूद भी सामाजिक व्यवस्थान्तर्गत इकाई का अस्तित्व निश्चिततः बना रहता है।

समाजसंबंधों की इस अविरत प्रक्रिया में सामाजिक आंतरक्रिया (social interaction) नित्य ही घटित होती है, जो व्यक्ति के सामाजिक जीवन का मूलाधार है। सामाजिक आंतरक्रिया व्यक्ति और व्यक्ति के अतिरिक्त समाज और व्यक्ति में भी घटित होती है। मनोविज्ञान सामाजिक आन्तरक्रिया को इन शब्दों में व्यक्त करता है, "सामाजिक आंतरक्रिया मनुष्य आर उसके समूह के बीच, किसी समस्या को सुलझाने

२. A society is a collection of individuals united by certain relations or modes of behaviour which mark them from others, who do not enter into those relations or who differ from them in behaviour.

(Morris Ginsberg, Sociology; P. 40)

के लिए किये जानेवाले प्रयत्न अथवा ध्येयपूर्ति के प्रयास में घटित होनेवाला पारस्परिक प्रभाव की संज्ञा है।"[१] समाजशास्त्र में आंतरक्रिया की प्रक्रिया का महत्त्व दिया गया है। एक समाजशास्त्री आंतरक्रिया के स्वरूप को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं, "सब प्रकार के गतिशील सामाजिक संबंधों को सामाजिक आंतरक्रिया कहा जाता है। ऐसे सामाजिक संबंध व्यक्ति और व्यक्ति में हो सकते हैं अथवा समूह और व्यक्ति और समूह में भी हो सकते हैं।"[२] आंतरक्रिया ही मनुष्य के पारस्परिक संबंधों की जड़ कही जा सकती है।

व्यक्तियों में होनेवाले पारस्परिक सम्बन्ध, यौनभेद, आयु-भेद, प्रतिष्ठा, शारीरिक विशेषता, गुणादि के साथ विशेष सम्बन्ध रखते हैं। पारस्परिक सम्बन्धों की सापेक्षता में व्यक्तित्व का विकास होता रहता है। वस्तुतः मनुष्य के व्यक्तित्व को विशेष रूप से प्रभावित करनेवाली या उसे बनानेवाली सामाजिक प्रक्रिया का नाम ही समाजीकरण (socialization) है। यही एक ऐसी प्रक्रिया है जो एक असहाय नवजात जैवकीय (biological) जीवनसंपन्न शिशु की परिणति सामाजिक मानव में कर देती है। इस प्रक्रिया के अभाव में व्यक्ति समाजरहित पशुतुल्य स्थिति में ही रह जायेगा। मनोविज्ञान के प्रयोगों द्वारा यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि मनुष्य को समाजीकरण की नितान्त आवश्यकता है। बच्चेको जिस प्रकार के वातावरण में रखा जाता है, उसके प्रभाव से वह वैसा ही बनता है। जन्म के तुरन्त पश्चात् ही भेडियों के बच्चों में पली हुई एक बच्ची और बन्दरों के यूथ में पले हुए बच्चे के व्यक्तित्वविकास का अध्ययन कर मानसशास्त्रज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि समाजीकरण के अभाव में मनुष्य 'मनुष्य' नहीं बन सकता। समाज के अन्तर्गत रहकर ही उसका अहं विकसित होता है। अहं के

१. By social interaction is meant the mutual influence that individuals and groups have upon one another in their attempts to solve the problems and in their striving towards goals.

Green (Essentials of Social Psychology. P. 231.)

२. By social interaction we refer to social relation of all sorts of functions dynamic social relations of all kinds whether such relations exist between individual and individual, between group and group or between group and individual as the case may be.

(Gillin and Gillin–Cultural Society, P. 459)

विकास की इस सामाजिक प्रक्रिया को मीड ने इस प्रकार व्यक्त किया है–" स्व अपने में सीमित होते हुए भी अनिवार्यतः सामाजिक विन्यास (social structure) है और वह सामाजिक अनुभव से ही वृद्धिंगत होता है। "[१]

समाज की सापेक्षता में स्व का विकास अनुकरण (imitation), अनुभावन (suggestion) और सहानुभूति (sympathy) के द्वारा संपन्न होता है। इन तीन मार्गों के सहारे विभिन्न स्तरों पर समाजीकरण की प्रक्रिया घटित होने पर मानव सामाजिक व्यक्ति (social being) बनता है। अतः व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक या बौद्धिक विकास के साथ सामाजिक बोध (social sensibility) की जागृति (उसे) संपन्न व्यक्तित्व का रूप प्रदान करती है। क्योंकि पूर्व विकसित एवं संपन्न व्यक्तित्व ही इन समस्त सम्बन्धों का सार है। ड्रिःहर मनुष्य के व्यक्तित्व को पारिभाषित करते हुए इस तथ्य को स्वीकृत करते हैं। व्यक्तित्व एक ऐसा पारिभाषिक शब्द है, जो व्यवहार में और मनोविज्ञान में कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। संक्षेप में यह व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक गुणों की संगठित एवं गतिमान व्यवस्था है, जो उसे समाजजीवन में अन्य व्यक्तियों से आदानप्रदान के लिये सक्षम बनाती है। "[२] इससे व्यक्तित्वविकास में सामाजिक पर्यावरण निकटतम अनिवार्य सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व को बाह्य पर्यावरण, सामाजिक आंतरक्रिया एवं समाजीकरण की प्रक्रिया पूर्णतः परिवर्तित तो नहीं कर सकती परंतु व्यक्तिगत प्रभाव को गौण करके सामाजिकता को बढ़ाती अवश्य है। व्यक्तित्व में तब तक पूर्णता नहीं आ सकती, जब तक मानव-जीवन समाज की सापेक्षता में विकसित नहीं होता। समाज के अन्तर्गत विभिन्न संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं से प्रभावित होता

१. The self, as that which can be object to itself is essentially a social structure and it arises in social experience.

(G. M. Mead, Mind Self and Society; P. 140)

२. Personality is a term used in several senses, both popularly and psychologically, the most comprehensive and satisfactory being the integrated and dynamic organization of the physical, mental and social qualities of the individual as that manifests itself to other people in the give and take in aocial life.

(Dictionary of Psychology, Drever.)

हुआ संपूर्ण व्यक्ति बनता है। समाज में मनुष्य के व्यक्तित्व-विकास में सभ्यता और संस्कृति से निरन्तर प्रेरणा मिलती रहती है।

सभ्यता और संस्कृति मानवनिर्मित ही है और मानव के जीवन में अहं स्थान रखती है। अपने जीवनविकासकाल में विभिन्न हथियारों के कौशल एवं शक्ति के बल पर विभिन्न सुखसुविधाओं का निर्माण कर मनुष्य ने अपने जीवन को उन्नत बनाया, इन सारे प्रयत्नों की उपलब्धि ही सभ्यता (civilization) है। सभ्यता के पथ पर अग्रसर होते हुए उसके प्रज्ञावान मस्तिष्क, हस्तलाघव और संघर्ष की उसकी अदम्य इच्छा ने उसका साथ दिया और बौद्धिक बल से प्रकृति पर विजय प्राप्त कर उसका जीवन सुखी बना। भौतिक संपन्नता और सभ्यताविकास से उसकी बुद्धि भले ही सुख का अनुभव करती हो, उसके मन को उससे संतोष नहीं मिला। अपने जीवन को अधिकाधिक सुन्दर, संपन्न, सुरुचिपूर्ण एवं सरस बनाने के प्रयास में उसने विभिन्न कलाओं को जन्म दिया। धर्म, कला और चिन्तन का सहारा पाकर अपना भावजगत संपन्न किया। तभी वह मानसिक धरातल पर यथेष्ट विकसित स्थिति तक पहुँच पाया।

सभ्यता की अपेक्षा मानवके भावजगत को प्रभावित करनेवाली प्रधान शक्ति संस्कृति है। भौतिक परिस्थितियाँ ही संस्कृति के विभिन्न रूप-प्रकारों को जन्म देती और उनपर प्रभाव डालती हैं। सामाजिक और भौतिक जीवन की नींव पर संस्कृति का रूप सँवरता है। सभ्यता की निरंतर गति भौतिकता को संपन्न बनाती है और संस्कृति मानसिक, आध्यात्मिक और आत्मिक संतोष को बलवत्तर बनाती है। अतः मनुष्य के जीवन में संस्कृति और सभ्यता का अनिवार्य स्थान है। मॅथ्यू आर्नाल्ड ने संस्कृति को व्यापक समुदाय के रहने का ढंग (way of living) कहा है। संस्कृति मानवनिर्मित समष्टिगत आंतरिक वस्तु है। संस्कृति सामाजिक धरोहर (social heritage) के रूप में समाज में हस्तांतरित होती हुई, आदर्शात्मक कल्पना और परिस्थितियों से सामंजस्य करती हुई प्रवाहित होती है और सामाजिक जीवन-निधि का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृति की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि, "संस्कृति एक संमिश्र इकाई है, जिसमें मनुष्य के द्वारा समाज के सदस्य के नाते प्राप्त किये गये ज्ञान, विश्वास, कला, नीतिनियम, पद्धतियाँ और अन्य विशेष योग्यता तथा आदतें आदि सबका अन्तर्भाव होता है।"[१] समाज का हर सदस्य संस्कृतिगत तत्त्वों, आदर्शों आदि को अपने सामाजिक व्यवहार के मानदण्ड (standard) के रूप में स्वीकार

१. **Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capacities and habits acquired by a man as a member of society.**

(Primitive Culture, P. 1)

करता है, अतः संस्कृति व्यष्टि और समष्टि दोनों को प्रभावित करके जोडनेवाली कडी है ।

मानवजीवन पर संस्कृति के प्रभाव के साथ ही यह स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है कि सभ्यता और संस्कृति में निश्चिततः अन्तर क्या है । " हमारी संस्कृति बताती है कि ' हम कैसे हैं ' और हम जिन साधनों का उपयोग करते हैं उनसे हमारी सभ्यता का पता चलता है । " [१] सभ्यता अधिक गतिशील होती है । उसके विकास के सहारे बाह्य पर्यावरण का विकास होता है । सभ्यता भौतिकता से परिपूर्ण होने के कारण उसमें कुछ भी परिवर्तन करके किसी भी समय उसका ग्रहण करना मानव के लिए संभव एवं सुलभ है, परंतु संस्कृति एक ऐसी आंतरिक वस्तु या प्रक्रिया है जिसमें विद्या, कला, धर्म, गुण आदि सब कुछ मिला होता है । संस्कृति का परिवहन विरासत के रूप में पीढियों होता रहता है । उसमें परिवर्तन भी अत्यंत मंद गति से ही होता है । व्यक्ति-विकास को आदर्शमूलक भित्ति पर अधिष्ठित कर व्यक्ति को समष्टि का अंग बनाने की शक्ति संस्कृति में होती है । वह कार्य सभ्यता नहीं कर सकती । स्थान, युग आदि की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न समाजों की संस्कृतियों में अन्तर होता है । विद्वानों ने संस्कृतिभिन्नत्व से मानव के भिन्न-भिन्न व्यवहार के कुछ मनोरंजक उदाहरणों का अध्ययन किया है । यथा " जापान में फूत्कार (hissing) सामाजिक क्षेत्र में सम्मानित व्यक्तियों के प्रति आदर दिखाने का एक नम्र ढंग है, वसूटो फूत्कार द्वारा सराहना करते हैं, परंतु इंग्लैंड में यह अत्यन्त अभद्र व्यवहार माना जाता है और किसी अभिनेता या वक्ता के प्रति असम्मान प्रकट करने का ढंग है । ' थूकना ' घृणा का चिह्न हैं, परंतु अफरीका की असाई जनजाति में यह व्यवहार स्नेह और भलाई का चिह्न माना जाता है । अमेरिकन इन्डियन चिकित्सक का रोगी पर थूकना विशेष ढंग का है । भारत में या योरोप में श्रेष्ठ व्यक्ति की उपस्थिति में खड़ा हुआ जाता है, तो फिजी लोग बैठते हैं ।"[२]

ऐसे कितनेही उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो संस्कृति-भिन्नता से उत्पन्न मानव की व्यवहाराभिव्यक्तिगत विभिन्नता को प्रमाणित कर सकते हैं । धार्मिक प्रथाओं, विभिन्न विचारप्रवाहों और सामाजिक जीवनमूल्यों पर संस्कृति का अधिक प्रभाव होता है । एक मुसलमान स्त्री के लिए बुरखा ओढना शालीनता का लक्षण हो सकता है, पर अंग्रेज़ स्त्री के लिए नहीं । अतः आयुभेद, संपत्ति, वर्ग, वर्ण, आय, अर्थव्यवस्था, जीवनयापन का ढंग, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति, नैतिकता, जीवनमूल्य (ideals) आदि सब की दृष्टि से युगीन संदर्भ के साथ समाज में पर्याप्त भिन्नता दिखायी देती है । यही भिन्नता मनुष्य की विचारधारा एवं भावजगत को प्रभावित करती है ।

१. Our culture is what we are, our civilization is what we use.

२. मुकर्जी – सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा, पृ. २१६.

इस प्रकार की विभिन्नता के बावजूद भी यह मान्य करना पडता है कि मानवी भावनाओं और विचारोंसहित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का एकमात्र स्थल समाज है। समाज के रंगमंचपर व्यक्ति अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ उपस्थित होता है और अपने भावों या विचारों को अभिव्यक्ति देता है। यहाँ दुहरी प्रतिक्रिया घटित होती है। समाजान्तर्गत वातावरण, घटना, स्थिति, विभिन्न अनुभावादि मनुष्य पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं और उन्हें प्रेरणारूप में ग्रहण करके प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में होती रहती है। समाज के बिना उसके भावों, विचारों और विभिन्न अनुभूतियों की अभिव्यक्ति संभव नहीं होती। समाज बनाया उसीने है, परंतु वही स्वयं समाज से प्रभावित होकर, उसके उत्तरदायित्वों को निभाता हुआ व्यवहार करता है; भाषा, भावों, संकेतों आदि के माध्यम से अपने को व्यक्त करता है। समाज-जीवन के कारण ही परिवार, नगर, राष्ट्र आदि जीवन की व्यापक बनती जानेवाली सीमाएँ उसे व्यष्टिजीवन से समष्टि जीवनतक पहुँचाती हैं। उसका जीवन, व्यवहार बाह्य सामाजिक स्थितियों से प्रेरणा पाकर उसीमें अभिव्यक्ति पाता है। समाज न हो तो उसका स्व कहाँ अभिव्यक्ति पायेगा? अतः समाज और व्यक्ति का यह सम्बन्ध अन्यो-न्याश्रित है, जो सभ्यता और संस्कृति की विरासत पर जीवित है और परस्पर को प्रेरित करता है। समाज का सदस्य होने के नाते मानव की क्रियाप्रतिक्रियाओं पर समाज का अप्रत्यक्षतः नियंत्रण (social control) रहता है और सामाजिक इकाई (social intigrated whole) के सदस्य के नाते सभ्यता और संस्कृति के परिवर्तन के फलस्वरूप उसके जीवन में अंतर आता रहता है। युग के अनुरूप सामाजिक स्थित्यंतर होते हैं और वे व्यक्तिजीवन के आदर्श उत्तरदायित्वों (obli-gations) तथा मूल्यों को बदल देते हैं।

सभ्यताविकास और सामाजिक स्थित्यंतर के फलस्वरूप व्यक्ति का सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन अधिकाधिक जटिल बनता जा रहा है। आरंभिक स्थिति में मानवजीवन इतना जटिल (complex) नहीं, वरन् अत्यंत सरल स्थूल तथा सीमित था। समाजविकास के साथ सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, व्यावहारिक और राजनीतिक आदि क्षेत्रों में मानव के पारस्परिक सम्बन्धों में वृद्धि हुई और युग की सापेक्षता में समाज की स्थिति में अंतर आया। मानव के जीवनमूल्यों, आचार-विचारों और नीति-अनीति की कल्पनाओं तथा अभिरुचि आदि में निरंतर प्रवहमान अनुकूलन प्रक्रिया के कारण अंतर आता गया है। यह अंतर उसके जीवनमूल्यों को परिवर्तित कर देता है और साथ ही जीवनविषयक दृष्टि भी कुछ बदल जाती है।

मूल्य समाजसंस्कृति का सारतत्त्व है। मानवनिर्मित होते हुए भी मूल्यों का नियंत्रण मानवजीवन पर रहता अवश्य है। व्यक्तिनिष्ठता की संकीर्ण सीमाओं को

लाँघकर समाजजीवन का सदस्य बनते ही अपने जीवन के समाजसापेक्ष आदर्श स्थापित करते हुए मानव ने कुछ कसौटियाँ या मूल्य (values) निर्धारित किये। मूल्य वस्तुतः तत्त्वज्ञान का विषय है। पाश्चात्यों ने उसे नीतिशास्त्र के अंतर्गत रखा और भारतीयों ने धर्मशास्त्र में ही अंतर्भूत माना। (व्यापक राष्ट्रीय जीवन के संदर्भ में सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ बनी हुई व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताएँ मूल्य रूप में निश्चित होती हैं।) जीवनविकास की आरंभिक स्थिति में उपयोगितावाद के लक्ष्य से बढ़कर मनुष्य ने सांस्कृतिक विकास के साथ ही अपने जीवन में आचार के मानदण्ड, विचारधारा का आदर्श, जीवनविषयक ध्येयनिर्मिति, आदर्श का मानदण्ड आदि कल्पनाओं का निर्माण किया और धीरे-धीरे उन्होंने मूल्यों का रूप ग्रहण किया। मूल्यों के अपनाने और निभाने में जीवन की कसौटी माना जाने लगा। जीवन विषयक मूल्यों में कुछ स्थायी बन गये जो हर काल, हर युग, एवं हर स्थिति में उच्चतम सिद्ध हों; परंतु जीवन की गतिशीलता एवं सामाजिक हितसम्बन्धों की परिवर्तनशीलता के कारण समय-समय पर मूल्यों का स्वरूप एवं महत्त्व कुछ परिवर्तित होता रहा। मूल्यों की समकालिकता कालौघ एवं सामाजिक परिवेश के साथ बनी रहती है। शाश्वत मूल्यों और समकालिक मूल्यों में सामाजिक परिवेश का प्रधान महत्त्व है। आचारव्यवहार एवं चारित्रिक आदर्श की कसौटी पर खरे उतरनेपर जीवनविषयक मूल्य नैतिक मूल्यों का रूप धारण करते हैं। मानवी व्यवहार उनकी मूल भित्ति है। अतः नैतिक मूल्यों में समयानुकूल परिवर्तन आना अनिवार्य है। नैतिक मूल्यों के आधार पर उसने जीवनसंहिता बनायी, धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र का निर्माण किया और सौंदर्यविषयक मूल्य कला के अधिष्ठान बने।

समाज और युग की सापेक्षता में यद्यपि कुछ मूल्यों में अन्तर आता रहा है, परंतु कुछ मूल्य शाश्वत बने रहे हैं। जो तात्कालिक एवं अशाश्वत होते हैं उनके स्थान पर नये मूल्योंका अविर्भाव होता है परंतु पुराने बिलकुल नष्ट नहीं हो जाते। कुछ परम्परागत मूल्य नया रूप लेकर फिर से आते हैं। ये सांस्कृतिक होते हैं। व्यावहारिक मूल्य बदल सकते हैं, क्योंकि वे व्यापारिक हो जाते हैं। काल, युग, देश और परिस्थिति की सापेक्षता में कुछ अपना महत्त्व खो बैठते हैं। पर दया, क्षमा, शांति, ममता जैसे मूल्य शाश्वत मूल्य हैं। शाश्वत मूल्य समकालिक मूल्यों का आधार बनते हैं। व्यक्ति के व्यवहारों, विचारों एवं अन्य क्रियाप्रतिक्रियाओं पर इन बदलते हुए जीवनमूल्यों का प्रभाव अवश्य होता है। इसीलिए मॅकलिव्हर कहते हैं कि "मूल्यविहीन समाज की कल्पना भी असम्भव है।"[1] मूल्यों की यह समाजपरकता एवं समकालीनता, नैतिकता

1. **Society without values can not be understood.**

(Community, P. 63)

के साथ जोडकर आचारविचारों के मानदण्डों में अन्तर लाती है। सहिष्णुता शाश्वत मूल्य है परंतु स्थान-काल-सापेक्षता में धार्मिक सहिष्णुता हिंदु धर्म का आदर्श है और मुसलमानों ने धार्मिक कट्टरता को मूल्य माना है। परपुरुषस्पर्श पाप के समान मानने-वाली भारतीय स्त्री और पाश्चात्य स्त्री की नैतिक मूल्य धारणा में अन्तर है। सौंदर्य-विषयक मूल्यों को भी समाजसापेक्ष ही मानना पडेगा। चीनियों ने छोटे तलवों को स्त्री की शारीरिक सुन्दरता का मानदण्ड माना तो ऑस्ट्रेलिया के लोगोंने चपटी नाक को। हब्शियों में मोटे होठ सुन्दरता का प्रतीक हैं तो भारतीय पतले होठों को सुन्दर मानते हैं। अंग्रेज रसिक नीली आँखों की सराहना करता है, भारतीय कवि काले कमलनयनों का वर्णन करता है। सौंदर्यवृत्ति और सौंदर्यात्मक दृष्टिकोन मूलतः सार्व-जनीन एवं सार्वभौम होते हुए भी सौंदर्यविशेष के अंकन की पद्धति एवं अभिव्यक्ति काल, स्थान, व्यक्ति और समाज की सापेक्षता में कुछ भिन्नता रखती है।

यही प्रधान कारण है कि युग, और समाज एवं सांस्कृतिक परिवेश की सापेक्षता में अभिव्यक्ति-विशेष में अन्तर आता है। व्यक्ति अपने भावों, विचारों, संवेदनाओं और अनुभूतियोंको समाज के कॅनवास पर ही व्यक्त करता है। उससे प्रेरणा ग्रहण कर उसी में उन्हें व्यक्त करने की प्रक्रिया में व्यक्ति की कोई भी क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्तिअंश ही से सर्वथा युक्त या नितान्त समाज-विच्छिन्न नहीं हो सकती। व्यवहार में भाषाओं, वक्तव्यों और क्रियाओं के द्वारा अपने अनुभव को वह हर क्षण व्यक्त करता है। अपने मन की गहनतम अनुभूतियों को, उत्कट संवेदनाओं को तथा रागात्मक चेतना को संप्रेषित करने के लिए वह अत्यन्त लालायित हो उठता है। सौंदर्यात्मक प्रकृति तथा जगजीवन की अनगिनत अनुभवराशियों से प्रेरित होकर उस अनुभूति को रंग, रेखा, स्वर, भाषा आदि के द्वारा व्यक्त करने से कला का जन्म होता है। मानव ने आदिम स्थिति से ही अपने अन्तर्गत 'स्व' को कला के रूप में व्यक्त किया है और उस की अपनी अभिव्यक्ति समस्त जगत की अभिव्यक्ति बन गयी है। जीवन की परिष्कृति, संस्कारशीलता एवं प्रतिभासंपन्नता ने कला को जन्म दिया। प्रकृति और जगत् के कई अमूर्त तत्त्वों और प्रेरकों (stimulus) ने मूर्तरूप धारण किया। संगीत की स्वरबद्ध रागरागिनियाँ बनीं, चित्रकला की रंगरेखाओं द्वारा नवनिर्माण हुआ, स्थापत्य कला ने रूपाकार में अभिव्यक्ति पायी और उसी मानव चेतनाने शब्दों का माध्यम ग्रहण करके साहित्य को जन्म दिया। साहित्य सब कलाओं के पश्चात् बना परंतु सबसे श्रेष्ठ प्रमाणित हुआ। चित्रकला की दृश्यमयता, संगीत की नादमधुरता, नृत्य की लयबद्धता, स्थापत्य की रचनाकुशलता को शब्दों द्वारा अंकित करते हुए काव्य स्रोत फूट पडा।

सौंदर्य-सृष्टि कला है। जिस सौंदर्यात्मक चेतना से कलाओं एवं साहित्य का उदय हुआ वह भी वस्तुतः समाज की सांस्कृतिक चेतना का ही सामुदायिक रूप है।

आदिम मनुष्य की सौंदर्यभावना आज से काफी भिन्न रही है। सौंदर्यभावना वातावरण, युगमान्यता, मानवमन की भावना और वासना के अनुसार परिवर्तित होती हैं। मानव की चेतना ने प्रकृति के सौंदर्य से प्रेरित होकर जनजीवन के सौंदर्य को अपनाया और कला के माध्यम से उसे व्यक्त किया अतः कलाओं का उदय एवं साहित्यसृजन भी समाजनिरपेक्ष स्थिति में अस्तित्व नहीं रख सकता।

साहित्य, कला और समाज का अटूट एवं सापेक्ष सम्बन्ध इस प्रकार से प्रमाणित हो जाता है। कलाकार या सर्जक की काव्यानुभूति वस्तुतः व्यक्तिगत होती है, परंतु जिस माध्यम के सहारे वह उसे अभिव्यक्ति देता है, वह भाषा समाज की ही देन है। अभिव्यक्ति का स्थल भी समाज ही है। सर्जकका व्यक्तित्व जिस समाज में बनता है, उस समाज के बाह्य परिवेश, संस्कृति एवं मूल्यों का प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर अवश्य ही पडता है। अपनी उत्कट अनुभूति को, व्याक्तित्व से उन्मुक्त करके, विश्वैक बनाकर काव्य में व्यक्त करता है; फिर भी विश्वैकता में मानवीयता समाजनिरपेक्ष हो ही नहीं सकती। स्पष्ट है कि साहित्य और समाज का सम्बन्ध भी अटूट है। कभी समाज साहित्य को प्रभावित करता है, कभी साहित्य समाजको। साहित्य की समाजसापेक्षता को महत्त्व देते हुए **डॉ. भगीरथ मिश्र** लिखते हैं, "समाज और साहित्य का अटूट और अगाध सम्बन्ध है। समाज की जीवनधारा में साहित्य का कमलवत् विकास होता है, समाज के तत्त्व का परिणाम साहित्य का नवनीत है, समाज के शरीर का मुख साहित्य है। वह समाज की धरती पर उगमेवाले जीवन का फूल है। ... वह समाज की बुद्धि का परिणाम और अनुभव एवं अनुभूति का सार है। साहित्य समाज की चिरस्थायी सृष्टि है। .... साहित्य समाज की सृष्टि होता हुआ भी, अपने निजी समाज की सृष्टि करता है। अतः साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।"[१] समाज और साहित्यका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मान्य करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समाज के नित्य परिवर्तनशील होने के कारण ही उससे साहित्य, कला, साहित्यान्तर्गत चर्चा, साहित्य के मानदण्डादि साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों पर प्रभाव पडता है और उनमें कुछ परिवर्तन भी आ सकता है। इस दृष्टि से समाज एवं साहित्य के मूल्य एवं स्वरूप को परिवर्तित करनेवाले कुछ सामाजिक स्रोतों का संक्षेप में विवेचन अपेक्षित हो जाता है।

मानवजीवन एवं साहित्य को प्रभावित करनेवाले सामाजिक स्रोतों में धर्म, राजनीति, समाजव्यवस्था का ढाँचा, दर्शनविशेष, विभिन्न शास्त्रों का विकास, सामाजिक स्थित्यंतर आदि महत्त्वपूर्ण हैं। धर्म, राजनीति, दर्शन आदि का साहित्य और समाज से अन्योन्यक्रम सम्बन्ध अनिवार्य है। इन सभी स्रोतों के मिलन से ही सांस्कृतिक इकाई बनती है।

१. आलोचना, अंक २०, पृ. ९.

धर्म नित्य ही साहित्य और समाज को प्रभावित करता आया है। विशेषतः भारतीय समाज आरंभ से धर्मप्राण रहा है। धर्म के अधिष्ठान पर सामाजिक विचार प्रवाह में, बदलते जीवनमूल्यों की सापेक्षता ने सौंदर्यात्मक एवं साहित्यिक मूल्यों में अन्तर उपस्थित किया और उसने समकालीन समाज एवं साहित्य को प्रभावित किया है। भारतीय संस्कृति धर्मप्राण है, अतः प्राचीन कालसे ही राजनीति, समाज जीवन आदि सभी को धर्म ने प्रभावित किया। साहित्य के मूल्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ रहे। वैदिक युग की सौंदर्यचेतना प्राकृतिक सुन्दरता से उद्बुद्ध होकर विराट एवं दिव्य शक्ति तथा जीवन की कल्पना, यज्ञादि कर्मकाण्ड और दार्शनिक मंथन में व्यक्त हुई और उसी के चारों ओर साहित्य संपन्न हुआ।

महाभारत रामायणकालीन भारत में धर्म और नैतिकता की प्रबलता से नैतिक आदर्श ही स्वीकार किये गये, भावों का उदात्तीकरण करने की प्रवृत्ति विशेष रही और सामाजिक कल्याण साहित्य का आदर्श बना। राम के समान बनो, रावण के समान नहीं, इस प्रकार साहित्य का प्रयोजन स्थिर हुआ। आचारशुद्धि और पावित्र्यादि नैतिक तत्त्व साहित्य में व्यक्त हुओ। जैन धर्म ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जीवन का मूल्य मानकर मातृभाव एवं सर्व जीवों की समानता पर बल दिया, और हिंसा के विरोध में क्रांति की। बौद्ध धर्म ने कर्मदण्ड और उच्चनीच का भेद मिटाकर अहिंसा, शांति, वैराग्य, निवृत्तिपरकता, करूणा, और दुखवाद का प्रचार किया। जैन और बौद्ध धर्म के समय बदले हुए इन जीवनमूल्यों ने तत्कालीन साहित्यिक प्रेरणाओं एवं रचनाओं पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। पारम्परिक वीररस, शृंगार या किसी अन्य रस से पूर्ण महाकाव्यों की परम्परा में कुछ कालतक अभाव उत्पन्न हुआ। धार्मिक क्रांतियों तथा धार्मिक मतमतांतरों की सापेक्षता में नीति की परिभाषा भी बदलती गई। इस्लाम की धार्मिक कट्टरता और एकेश्वरवादिता ने निम्नवर्ग को ही नहीं, बल्कि सन्तों को भी पर्याप्त प्रभावित किया और साहित्य में अभिव्यक्ति पायी। इस्लाम के प्रभाव के फलस्वरूप तत्कालीन भारत में और उसके अनन्तर भी कई धार्मिक संप्रदायों के सिद्धातों में परिवर्तन हुआ। इस्लाम के आतंक की संकीणतापूर्ण प्रतिक्रिया भक्तिकाव्य में भी दृष्टिगोचर होती है। सन्तों ने जीवनमूल्यों और अन्य सब तत्त्वों का प्रत्यक्षीकरण जनसमुदाय में किया। कई धार्मिक भावनाओं के संमिश्रण से योग, तपस्या, एकेश्वरवाद, द्वैत, अद्वैत आदि तत्त्व निम्नश्रेणी या जनता तक भक्ति पहुँचे और केवल समाज ही नहीं, साहित्य भी परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण के मूल्य को व्यंजित करने लगा। सद्वृत्ति, सदाचार, सामाजिक उदारता, ईश्वरोन्मुखता से परिपूर्ण समर्पण और प्रेमाश्रयी भक्तिभावना जीवन और साहित्य के लक्ष्य बने। इसाई धर्म के कारण भी कई परिवर्तन आये।

राजनीति साहित्य को अत्यधिक प्रभावित करती रही। राजसत्ता, शासनपद्धति और उसके अन्तर्गत समाजजीवन से समकालिक सर्जक प्रेरणा ग्रहण करता है

और उसकी प्रवृत्तियों के अनुरूप काव्य के प्रयोजन निश्चित किये जाते हैं। साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, गणतंत्र शासन आदि राज्यपद्धतियों के अस्तित्व में कवियों या साहित्यकारों का स्थान एवं भूमिका बदल गयी। कभी वह आश्रयदाता की सेवा में रत, उसका कृपाभिलाषी सेवक एवं प्रशंसक बना, कभी भक्तिभावना में सराबोर हुआ तो कभी चारण, आज भी उन्मुक्त स्वतंत्रता से अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का अवसर पा रहा है। परन्तु साफ है कि राजनीतिक स्थिति, राजा-प्रजा के सम्बन्ध, राजनीतिक शांति-अशांति, युद्धजन्य स्थिति, बाहरी आक्रमण, राजा की श्रेष्ठता कनिष्ठता आदि के साथ भारतवर्ष में साहित्य और कलाओं के निर्माण एवं विकास में सदा अन्तर आया है। विदेशी शासन के जुल्म के विरोध में किये गये आन्दोलनादि ने भी साहित्य को प्रेरित किया।

राजा की विलासिता, वैभवसंपन्नता, कट्टरता आदि का प्रभाव साहित्य पर अवश्य होता है। राजा और जनता के आपसी सम्बन्ध, उसकी शासनव्यवस्था, नीति, धर्म, न्याय, विदेशनीति आदि सारी बातों के फलस्वरूप समकालिक जनता में विशेष भावबोध जगता है। कालविशेष के काव्य में वह विशेष भाव ही व्यक्त होता रहता है, सम्भवतः पहले की अपेक्षा नितान्त भिन्न रूप में।

समाजविकास की स्थिति में संस्कृति और सभ्यता में जो अन्तर आता है, व्यक्ति को नई प्रेरणाएँ देता है। इस विकास के कारण भौतिक और सामाजिक स्थितियाँ बदलती हैं। समाज का ढाँचा, तौरतरीके, चालचलन की पद्धतियाँ, पारस्परिक सम्बन्ध, खानापानादि विधियाँ आदि के प्रभाव में सर्जक का और कला के आस्वादक का व्यक्तित्व तैयार होता है। परिवारप्रथा, विवाहपद्धतियाँ, उपनयन आदि सांस्कृतिक विधियों के अतिरिक्त स्त्री का समाज में स्थान, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध, मनोरंजन के साधनादि कई बातें जीवन की चेतना को प्रभावित करती हैं और युग के अनुरूप समाज पर इनका प्रभाव होता है।

दर्शन ने साहित्य को कुछ कम प्रभावित नहीं किया। वस्तुतः दर्शन तो बुद्धि द्वारा जगत को समझने का प्रयत्न है और साहित्य भावना द्वारा। दर्शन समस्याओं का हल खोजता है और साहित्य मानवीय हृदय पर खडे हुए प्रभावों को व्यंजित करता है। दर्शन तर्कवितर्क का आश्रय है और साहित्य भाव–विचारादि का, परंतु दोनों परस्पर पूरक हैं। विशेषतः भारत में साहित्य, कला और शास्त्र तीनों भी धर्म और भौतिक परिस्थिति के साथ ही दार्शनिक पचडों में फँस गए थे और विभिन्न दार्शनिकों के प्रभाव में उसके स्वरूप में अन्तर आया था। भारतीय षड्दर्शनों के आधिपत्य में बुद्धिजीवी समाज ही नहीं संस्कृत साहित्य और काव्यशास्त्र आया था।

बहुधा लोग दर्शन को स्थिर वस्तु मानते हैं, पर देखा गया है कि दर्शन कभी स्थिर नहीं होता। अपनी सीमा में परिपूर्ण दिखाई देनेवाला होने पर भी दर्शन

वास्तव में जीवन की परिपूर्ण व्याख्या नहीं कर सका। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त ने शुद्धाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत जैसे दर्शनों को जन्म दिया और उन दर्शनों ने समकालिक समाज एवं साहित्य को अत्याधिक प्रभावित किया। सूफी दर्शन एवं नाथ, सिद्ध संप्रदाय के दर्शन का आधार कुछ सन्तों ने ग्रहण किया। फलस्वरूप उनके काव्य में उस प्रकार का प्रभाव अंकित है। दर्शन यद्यपि मस्तिष्क का कार्य है, फिर भी वह कला और साहित्य को प्रभावित करता है क्योंकि सर्जक मनोभाव मात्र व्यक्त नहीं करता, उसका अपना दर्शनविशेष होता है। उसके आधार पर मनमस्तिष्क की क्षमता से संपन्न आत्माभिव्यक्ति कलाका रूप धारण करती है। प्राचीन काल में विभिन्न दार्शनिक मतमतांतरों ने जीवनमूल्यों, जीवनविषयक दृष्टिकोणों एवं साहित्यिक प्रेरणाओं, और अभिव्यक्ति को प्रेरित किया और आधुनिक काल में कुछ विशेष विचारप्रवाहों तथा सैद्धान्तिक वादों के दर्शन ने मानवजीवन को प्रभावित किया। आधुनिक काल में भारी परिवर्तन लानेवाले दो दार्शनिक मतप्रवाह हैं, एक मार्क्सवाद और दूसरा गांधीवाद।

मार्क्सवाद, जिसने ब्रह्म की सत्ता को अस्वीकार करते हुए द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की प्रतिष्ठापना की और समाजपरिवर्तन का आधार अर्थसम्बन्ध एवं उत्पादन और विनिमय ग्राह्य किया, शोषक-शोषितों के संघर्ष, वर्गसंघर्ष से सर्वहारा की क्रांति मचा दी, वर्गहीन समाजरचना का लक्ष्य रखते हुए समाज को प्रमुखता दी, लोकजीवन, निम्नवर्ग, बहुजनहित, यथार्थवाद एवं आर्थिक स्वयंनिर्भरता पर बल देते हुए पूँजीवाद के विरोध में आवाज़ उठाई; समाज की परम्परागत कल्पनाओं और मूल्यों में आमूलाग्र परिवर्तन किया, कला और साहित्य को संस्कृति का अंग मानकर समाज के लिये आवश्यक माना। कॉडवेल जैसे विद्वान ने जीवन के इन्हीं मूल्यों को साहित्यिक मूल्यों का स्थान देकर उपयुक्ततावाद को महत्ता दी। महान् व्यक्तिचरित्रों को त्याग कर निम्न श्रेणी का पीडित, दलित व्यक्ति साहित्य में नायक बनाया गया। साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लक्ष्य तथा मूल्य उसी विचारधारा के अनुकूल बने।

मार्क्सवाद ने समाजजीवन और साहित्यिक मूल्यों पर अपना जितना प्रभाव डाला, उतना ही अधिक प्रभावी सक्षम दर्शन गांधीवाद का रहा है। गांधीवाद और साम्यवाद वस्तुतः एक ही हेतु, वर्गहीन समान समाजरचना का रखते हैं, परंतु दोनों के मार्ग पूर्णतः भिन्न हैं। गांधीदर्शन के सत्य, अहिंसा, अस्तेय, व्यापक करुणा एवं मानवतावाद के प्रसार से जीवनदृष्टि में आमूलाग्र परिवर्तन आया। वीरता की कल्पनाएँ अहिंसा तत्त्वने बदल दीं। प्रेम की व्यापकता ने व्यक्तिगत प्रेमसंबंधों से व्यापक विश्वबंधुत्व की असीम सीमातक पहुँचा दिया, शांति की महत्ता बढी। इस दर्शन ने विश्व को मानवता का नया दर्शन एवं दृष्टिकोण दिया। विश्वबंधुत्व, विश्वकल्याण एवं शांति आदि तत्त्वों का प्रभाव साहित्य में प्रतिबिंबित होने लगा।

काल के प्रवाह में नये-नये दर्शन धार्मिक संप्रदायों, राजनीतिक स्थित्यंतर एवं समाजव्यवस्था के नये ढाँचे बने और उन्होंने समाज एवं सामयिक युग को प्रभावित किया। परंतु वैज्ञानिक युग ने मानवी जीवन को जितनी अधिक तेज़ गति से प्रभावित किया कि जो परिवर्तन एक हज़ार वर्षों में नहीं हुआ, सौ वर्षों में हो गया। औद्योगिकता और वैज्ञानिक प्रगति ने मानव की परम्पराओं को धक्का पहुँचाया, बुद्धिवाद ने अंधश्रद्धा को उखाड दिया, विभिन्न शास्त्रों के उदय, ज्ञान-विज्ञानान्तर्गत शाखाओं के व्यापक विकास ने जगत में परस्पर निकटतम संपर्क बढाया और औद्योगिक क्रांति ने पूरे मानवजीवन को झकझोर डाला।

विज्ञानयुन की महत्तम देन बौद्धिकता का आग्रह है पर वह मात्र तार्किकता एवं बौद्धिक विलास नहीं, बल्कि एक विकसनशील प्रक्रिया है। इसी बुद्धिवाद ने प्रकृति पर अधिकाधिक विजय पायी और सभ्यता को चरम सीमा तक पहुँचाते हुए मानव के जीवन में क्रांति मचा दी। जगत के प्रति आश्चर्य, नवीनता में गूढता, देववाद में विश्वास, परम्परा का अनुकरण, अंधश्रद्धा, आस्तिकता आदि बातों का प्रभाव जीवन में कम होते हुए प्रायः नष्ट हो गया। मानव के जीवन में हर बात को बुद्धि की कसौटी पर कसने की जिज्ञासा जाग्रत हुई। शारीरिक और मानसिक सुख के साथ बौद्धिक संतोष की तीव्र इच्छा जगी। अणु, परमाणु के आविष्कार से महाभयंकर अस्त्रनिर्माण में विध्वंसक वृत्ति भी बढने लगी। मानव की सौंदर्यकल्पना को बुद्धिवाद एवं विज्ञानयुग ने भिन्न बनाया। हज़ारों वर्षों के परम्परागत ज्ञान, कल्पना, आध्यात्मिक विचार आदि पर पहली बार प्रहार किया गया और भावुकता को ललकारा गया। जीवन यांत्रिकता से परिपूर्ण हुआ, जीवनमान में (standard of living) अन्तर आया। समाज में स्त्री का स्थान उच्च बना।

इस पूरे प्रभाव के फलस्वरूप मान्यताओं में परिवर्तन आना और साहित्य का प्रभावित होना स्वाभाविक था। मानव के स्वतंत्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व की प्रधानता का स्वर ऊँचा हुआ, सामान्य मानव की अभिव्यक्ति, व्यक्तिगतता, सुष्ट-दुष्ट अंग भी चित्रित किये जाने लगे। परम्परागत साहित्यिक मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह लगकर मुख्यतः साहित्यिक एवं कला के क्षेत्र में विवाद उत्पन्न होने लगे। साहित्य या कला के संदर्भ में कला क लिए कला (Art for art's sake) और जीवन के लिए कला जैसे परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों की उपस्थिति हुई। टॉलस्टॉय जैसे विद्वान जनहित, समाजकल्याण को कला का मूल्य मानते रहे, पर अन्य कई नवमतमादी जीवनसे विच्छिन्न, मात्र व्यक्तिगत अथवा कलात्मक किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति को स्वीकृति देने लगे। कला के लिए कला मानने के कारण कला पर न नैतिक बंधन रहा, न सामाजिक। श्लीलता-अश्लीलता की कल्पनाओं में भी अन्तर आ गया। सार्त्र के अस्तित्ववाद ने

क्षणवाद को जन्म दिया और निराशा, कुण्ठा, तथा अवसाद को कला में प्रश्रय दिया। व्यक्ति की अपनी क्षण की अनुभूति एवं चिंतन की अभिव्यक्ति को प्रधानता मिली।

विज्ञानयुग में मानवजीवन के विकास के साथ ही विभिन्न शास्त्रों और उनकी उपशाखाओं का विकास हुआ। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान जैसे शास्त्रों के उदय एवं विकास ने जीवन की ओर देखने की दृष्टि बदल दी। मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के ज्ञान से मानव के व्यवहार को भिन्न तरीके से देखा जाने लगा और उसके प्रभाव ने मानव जीवन एवं साहित्य को नई दिशा दी। मनोविज्ञान के मनोविश्लेषणादि सिद्धान्तों ने मानवजीवनविषयक नैतिक एवं सामाजिक हितकल्पनाओं में अन्तर आया। मानव व्यवहार, आचार, प्रतिक्रियाओं का अध्ययन और विश्लेषण करने के कारण जीवन की ओर देखने की दृष्टि बदल गई। विशेष रूप से मनोविश्लेषण के सिद्धान्त ने (psycho-analysis) मानवजीवन में खलबली मचा दी। फ्राइड, यंग और एडलर जैसे मनो-वैज्ञानिकों ने मानवी मन, भावों एवं व्यवहार की नूतन व्याख्या की, जिससे जीवन चिंतन में मोड आया। मानवमन को हिमनग की उपमा देते हुए मानस में अवचेतना की कल्पना कर उसे ही मुख्य माना। सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं के कारण चेतन पर दबाव आ जाता है। चेतन (conscience), अवचेतन (subconscience) और अचेतन (unconscience) ये मानस की तीन स्थितियाँ मानकर उनमें होनेवाले क्रिया-व्यापार की व्याख्या की। मनुष्य की प्रधान प्रवृत्ति काम–'लिबिडो' है। बाह्य संस्कारों के प्रभाव से दमित होकर वह अवचेतन में स्थान पाती है और प्रयोजन का अवसर देखकर कभी-कभी उदात्तीकरण के रूप में ये दमित कुण्ठित वासनाएँ ऊपर आकर व्यवहार में व्यक्त होती हैं। फ्राइड ने इसी आधार पर स्वप्नों की व्याख्या की है। अवचेतन की गहरी गर्त में दबी कुण्ठा, दमित वासना कलाकृति के रूप में अभिव्यक्ति पाती है। एडलर ने व्यक्ति के मानस में हीनता का भाव मुख्य मानकर हीनतानिवारण या क्षतिपूर्ति के साधन रूप में कला या साहित्य का उपयोग माना है। इसीके परिणाम-स्वरूप साहित्य में अंतश्चेतनावाद का उदय हुआ।

इस सारे प्रभाव के फलस्वरूप साहित्य में भी नये-नये वादों और विचारप्रवाहों का उदय हुआ। आदर्शवादिता के बजाय यथार्थता, वास्तवता, अतिवास्तवता, क्षणवाद आदि की ओर साहित्यप्रवाह मुडा। वासनाओं का यथातथ्य चित्रण, अतिवास्तव, घोर शृंगारदर्शन, काममय अश्लील वर्णन साहित्य में सहजतया प्रविष्ट हुआ।

साहित्य के दृष्टिकोणों, प्रयोजनों और मूल्यों में परिवर्तन होने के कारण साहित्य-शास्त्रीय चर्चा भी इस नये प्रकाश में की जाने लगी। शास्त्रान्तर्गत कई सिद्धान्तों के अस्तित्व एवं उपयुक्तता पर प्रश्नचिन्ह अंकित किये जाने लगे। युग और समाज के साथ आनेवाले इन सब विभिन्न परिवर्तनों ने मानवजीवन को जितना प्रभावित किया

उससे कहीं अधिक साहित्य को प्रभावित किया। साहित्यान्तर्गत कतिपय सिद्धान्तों के पुनर्परीक्षण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

कला और साहित्यशास्त्र के बारे में सोचते हुए उपर्युक्त समग्र विवेचन के फलस्वरूप एक बात स्पष्टतः सामने आती है कि वह भी सामाजिक परिवर्तन से सर्वथा मुक्त नहीं रह सकता। शास्त्र, कला और साहित्य की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होता है। परंतु पूरा शास्त्र निश्चितता रखता है। परम्परागत एवं स्वयंपूर्णता उसकी विशेषता है परंतु शास्त्रान्तर्गत व्यक्त कई सिद्धान्त स्वयंपूर्ण होते हुए भी अपने तक ही सीमित रहते हैं। शास्त्र और सिद्धान्त के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए **श्री. बेडेकर ने** उचित ही कहा है, "सिद्धान्त स्वयंपूर्ण और सीमित होते हैं। इसके विपरीत शास्त्र कभी भी पूर्णत्वतक न पहुँचा हुआ परंतु अपरिमित होता है। कई सिद्धान्तों की परम्परा से शास्त्रीय प्रगति निरंतर रूप से होती रहती है .. वस्तुतः प्रत्येक सिद्धान्त समकालिक ज्ञान की पृष्ठभूमि, संपन्नता और सीमा की दृष्टि से उचित होता है, परंतु नई ज्ञानसंपदा के कारण पूर्वकालिक सिद्धान्त में त्रुटियाँ परिलक्षित होने के कारण किसी प्रतिभावान मनुष्य द्वारा एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है। समयान्तर से ज्ञानसंपदा में अधिक विकास होने पर वह सिद्धान्त भी गलत प्रमाणित हो सकता है।"[१]

उपर्युक्त चर्चा के फलस्वरूप यह प्रमाणित हो जाता है कि मानव के जीवनयापन एवं विकास में सामाजिक परिवेश का कितना प्रभाव होता है। मानवचरित कला, साहित्य और शास्त्र से समाज का अन्योन्याश्रित रूप में सम्बन्ध है। अतएव रससिद्धान्त के शास्त्रीय महत्त्व के साथ सामाजिक परिवेश के संदर्भ में उसकी परख आवश्यक है।

■ ■

१. साहित्य विचार पृ. २-३

द्वितीय अध्याय

मानवजीवन का विकास और विभिन्न भावों का उन्मेष

भरतमुनि के रससूत्र में "भाव" की महनीय भूमिका (role) है। विभाव, व्यभिचारी भाव, स्थायी भाव, सात्विक भाव, अनुभाव आदि सबके साथ भाव शब्द जुडा हुआ है। मानव में भाव की उत्पत्ति कब, किस स्थिति में तथा किस रूप में हुई और भावविशेष का अस्तित्व कब रहा, भावों में कैसे-कैसे परिवर्तन आया इस पर विचार करना आवश्यक है। कारण कि रसविशेष की गौणता-प्रधानता की स्थापना का रहस्य भी भावों की स्थिरता, विकास एवं सामाजिक विकास के साथ संस्कारों के सम्मिलन ˝ प्राप्त हो सकता है। अतः इस अध्याय में भावों के उन्मेष, विकास और परिवर्तन के साथ ही शाश्वतता-अशाश्वतता का विचार करना अभीष्ट है।

भावों की उत्पत्ति, विकास एवं अभिव्यक्ति का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान मानव में कुछ मूल प्रवृत्तियों (instinct) अथवा मूल प्रेरणाओं (drives or motives) का अस्तित्व मानता है। मूलप्रवृत्तियों से संलग्न भावनाओं का अस्तित्व मानते हुए किसी बाह्य प्रेरक (stimulus) से उनका उदय होना बताया गया है। इस दृष्टि से विचार करे तो मनुष्य में आदिम स्थिति में सारी भावनाओं की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति होना आवश्यक था, पर आदिमानव की स्थिति का अध्ययन करने से पता चलता है कि उसके आदिम जीवन में उसमें सब भावों का उन्मेष भी नहीं था, न आज कीसी अभिव्यक्ति ही थी। अतः इसके अध्ययन में मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता प्राप्त नहीं हो सकती।

मानववंशशास्त्र (Anthropology) मानव की उत्पत्ति और जीवनविकास का अध्ययन करता है। उसके अनुसार मानव इस भूमिपर अकेला उत्पन्न हुआ। वन्य आदिम जीवन में उसने अपने को अकेले पाया, उसके बाद धीरे-धीरे बाह्य प्राकृतिक पर्यावरण और अन्य व्यक्तियों के साथ उसका संपर्क आया। मानवसंपर्क से द्वैतस्थिति का अनुभव करते हुए धीरे-धीरे समाज बना। इस प्रकार उसके जीवन का विकास अकेलेपन से दो बन जाने और दो से समष्टि बन जाने की ओर उन्मुख है। व्यष्टि से

समष्टि की ओर जाने में ही उसके जीवनविकास की लम्बी कहानी अन्तर्हित है। इस विकासक्रम में मानव ने सभ्यता और संस्कृति का विकास किया और इस विकास के साथ ही बाह्य वातावरण एवं अनुभवों के कारण उसमें विभिन्न भावों का उन्मेष हुआ। उसके जीवनविकास के अध्ययन की दिशा उस संदर्भ में प्राप्त हो सकती है। अतः मनोविज्ञान या शरीरविज्ञानादि के अतिरिक्त मानववंशशास्त्र और समाजशास्त्र के आधारपर मानव की मूल भावस्थिति और सामाजिक पर्यावरण से उसमें आया हुआ परिवर्तन जाना जा सकता है और उस संदर्भ में कुछ कल्पनाएँ की जा सकती हैं। आदि-मानव के जीवन से विकसित स्थिति तक जीवनावस्था को और सामाजिक परिवेश की सापेक्षता में मानवीय भावों की उत्पत्ति एवं विकास को परखना ही इस अध्याय का उद्देश्य है।

मानवजीवनविकास का क्रमबद्ध इतिहास व्यवस्थित रूप में स्पष्ट करना कठिन है, परंतु मानववंशशास्त्रियों ने उसके विकास की जो स्थितियाँ एवं विशेषताएँ स्थिर की हैं, उनसे यहाँ सहायता ली जायेगी। उन्होंने जिन साधनों का उपयोग किया है, उनमें प्रागैतिहासिक काल के प्रस्तरीभूत अवशेष, उत्खनन के स्तर (stryr), पाषाण के साधन, हथियार, वस्तुएँ, कुछ शिल्पकृतियाँ, आभूषण, बर्तन, मुद्राएँ आदि वस्तुएँ हैं। उनके सहारे मानव की विकसित जीवनस्थिति और व्यावहारिक जीवन की कल्पना की जा सकती है। उनके अतिरिक्त प्रागैतिहासिक काल के कुछ चित्र और शिल्प प्राप्त होते हैं। उनके आधार पर मानव का स्वभावविशेषता और भावस्थिति प्रसंगविशेष के संदर्भ में जानी जा सकती है और भावों के विकास की कल्पना की जा सकती है।

मानव ने भूमिपर जन्म पाते समय मूलतः कुछ शारीरिक एवं बौद्धिक विशेषताएँ प्राप्त की थीं। उसके जीवनविकास का रहस्य उसे प्रकृया प्राप्त इन विशेषताओं में है, जिनका उल्लेख मानववंशशास्त्री कून (Coon) ने किया है। उनके अनुसार मानव में प्रकृतिदत्त पाँच विशेषताएँ हैं। जगत् में जन्म लेते समय मनुष्य ने पाँच विशेषताएँ पायी थीं, जो कुछ पुरानी एवं कुछ नयी थीं, या कुछ दोनों के संमिश्र रूप में थीं। पर इन्हीं विशेषताओं के आधारपर वह भूमि तथा प्रकृति पर अधिकार प्राप्त कर सका। ये विशेषताएँ हैं – सीधा सरल कद, मुक्तता से हिल सकनेवाले हाथ और अंगुलियाँ, तीक्ष्ण दृष्टि, तर्कशक्ति एवं निर्णयक्षमतासंपन्न मस्तिष्क, साथ ही बोलने की शक्ति।"[1]

१. When man first appeared in the world, he possessed five special features, some old and some new and some combination of both which gave him the chance to become master of the earth. There were his erect posture, his free moving arms and hands, his sharp focussing eyes, a brain capable of fine judgement and decision as well as keen perception and the power of speech

(*Carleton Coon* in 'The History of a Man' P. 13)

आदि मानव की उत्पत्ति के विषय में मानववंशशास्त्रियों में चाहे जितनी मतभिन्नता रही हो, परंतु इस निष्कर्षतक लगभग सारे शास्त्री अवश्य पहुँचे कि मानव ने पशु या बन्दर से भिन्न प्रकार की विशेषताओं के साथ जन्म पानेके समय से एक मेधावी आदिमानव (Homosapies) की संतानें जीवन को विकसित, परिवर्धित एवं परिवर्तित करती आयी हैं।

मानव के जीवनविकास में उसका सम्बन्ध मुख्यतः प्रकृति, पशु और मानव से रहा। प्राकृतिक वातावरण, भौगोलिक पर्यावरण, जलवायु आदि ने उसके कद, शरीर-रचना, स्वभाव, बोलचाल का ढंग, आवाज आदिपर प्रभाव डाला। पशुसंपर्क के अनंतर मानवसंपर्क ने ही वस्तुतः उसका विकास किया। प्रतिकूल स्थिति में संघर्ष करते हुए प्रकृति पर विजय पाने और जीवनविकास करने में द्वैत की स्थिति का बडा हाथ रहा है। मानव का मानव से संपर्क आने पर व्यष्टि से समष्टि की ओर बढने के मार्ग में उसके जीवन का विकास गतिशील एवं परिवर्तनशील रहा है। समष्टिगत जीवन में उसके व्यक्तिगत जीवन की सीमाएँ व्यापक बनती गयीं।

बेंजामिन फ्रँकलिन ने मनुष्य को साधननिर्माता प्राणी कहा है (Man is a tool-making animal) और **थॉमस कार्लाईल** ने उसे "साधनउपयोग-कर्ता" प्राणी कहा है (Man is a tool-using animal)। इन दो विचारों में उसके जीवनविकास का रहस्य समाया हुआ है। आरंभिक स्थिति में उसका ऐसा ही रूप था। जीवन के आदिकाल से उसने अपनी बुद्धि एवं हस्तकौशल के सहारे पत्थर को तराशकर विभिन्न साधन बनाना आरंभ किया और उन्हीं साधनों के द्वारा जीवन को सुखमय, समृद्ध एवं सुरक्षित बनाया। अर्थात् उसके प्रगतिशील जीवन का यही मूलाधार है। केवल सुरक्षितता और जीवनयापन में सुलभता के उद्देश्य से विभिन्न साधनों की निर्मिति करते हुए वह सभ्यता और संस्कृति का निर्माता बना। एक ओर बुद्धि द्वारा जीवन में विकसित स्थिति तक पहुँचने के लिए वह प्रयत्नशील रहा और दूसरी ओर इस परिवर्तित और विकसित जीवन में निरंतर नवीन अनुभव, नूतन अनुभूतियाँ भी प्राप्त करता आया है। इसी से बौद्धिकता के साथ उसका भावगत जीवन भी अधिकाधिक समृद्ध, स्पष्ट एवं व्यक्त बनता गया।

विद्वानों ने मानव के जीवनविकास की कहानी डेढ़ लाख वर्ष पुरानी मानी है। ५०,००,००० वर्ष पूर्व से १०,००,००० वर्ष पूर्व तक आदिम बर्बर स्थिति में जीवन बिताते हुए उसने धीरे-धीरे विकास किया। प्राप्य सारे साधनों के आधार पर **मॉर्गन, टायलर, क्रूल, बील्स, क्लार्क, गोल्डनवायझर** आदि मानववंशशास्त्रियों के अन्वेषण महत्त्वपूर्ण है। मानवजीवनविकास का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करना कठिन हैं, परंतु विद्वानों ने उस विकास को विभिन्न कालों में विभाजित किया है। उनमें मतविभिन्नता

होते हुए भी **बील्स** का विभाजन अधिकांशतः मान्य है। उसने मानवजीवनविकास को आठ विभागों में बाँटा है।[1]

(१)	पुराणप्रस्तर काल (Lower Paleolithic age)	1,00,00,000 B. C.
(२)	मध्यप्रस्तर युग (Middle Paleolithic age)	50,000 B. C.
(३)	नूतनप्रस्तर युग (Upper Paleolithic age)	25,000 B. C.
(४)	मेसोलिथिक काल (Mesolithic age)	12,000 B. C.
(५)	कृषियुग-निओलिथिक काल (Neolithic age)	10,000 B. C.
(६)	ताम्र युग (Copper age)	4,000 B. C.
(७)	ब्रांझ युग (Bronze age)	3,000 B. C.
(८)	लोह युग (Iron age)	1,500 B. C.

क्रॅहम क्लॉर्क ने अपने "फ्रॉम सॅव्हेजरी टु सिविलायझेशन" नामक ग्रंथ में मानव के जीवनविकास को चार स्थितियों में विभाजित किया है।[2]

नृतत्त्वशास्त्रियों के इस विभाजन का आधार ग्रहण करके मानवजीवनविकास को निम्नलिखित कुल सात अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है।

(१)	अतिपुरातन युग	१,००,००० इ. पू.	आदिमानव
(२)	पाषाण	५०,००० इ. पू. से १२,००० इ. पू. तक	शिकारीमानव
(३)	मध्यपाषाण युग	१२,००० इ. पू. से ८,००० इ. पू. तक	मत्स्योपजीवी एवं पशुपालक
(४)	नवपाषाण युग	८,००० इ. पू. से ६,००० इ. पू. तक	काश्तकार
(५)	धातुयुग	६,००० इ. पू. से ३,००० इ. पू. तक	संस्कृति-निर्माण-कर्ता
(६)	धर्म और राजसंस्था युग	३,००० इ. पू.	धर्मप्राण मानव
(७)	विज्ञानयुग		आधुनिक मानव

उपर्युक्त विभाजन के अनुसार कालविशेष में मानव की कोई एक विशिष्टतापूर्ण भूमिका (role) रही है। अतः उसके अनुसार समकालीन परिवर्तित स्थिति की सापेक्षता में उसके जीवन का विकास, संस्कार और समाज के संगठन के स्वरूप का संक्षेप में परिचय करना उचित होगा।

१ An Introduction to Anthropology—*by Beals*, P. 56.

२ From Savagery to Civilization—*Crahame Clark*.

The Lower Savagery	निम्न वन्य मानवस्थिति
The Higher Savagery	उच्चतर वन्यस्थिति
Primitive Barbarism	बर्बर युग
Origin of Civilization	सभ्यता की ओर मानव

आदिमानव :

प्रथम हिमयुग के अनन्तर परिवर्तित जलवायु में प्रथम आदिमानव जंगली पशुवत् स्थिति में था। खानाबदोश जीवन बिताते हुए जंगल में रहना, भटकना, खाना और ज़िन्दा रहना, इतने तक ही उसका जीवन सीमित था। खाने की तलाश एवं आत्मरक्षा जीवन के प्रधान उद्देश्य थे। प्राकृतिक परिवेश में स्वैर और संस्कारहीन जीवन में अपनी शारीरिक भूख मिटाना उसके जीवन की परम सीमा थी। धीरे-धीरे पत्थर के हथियार और साधन बनाना उसने सीख लिया, जिनकी सहायता वह स्वयंरक्षा और सुरक्षितता के लिये ग्रहण करता था। पत्थर के हथियार से शिकार में कौशल प्राप्त करने लगा और कुछ समय पश्चात पेड़ से उतरकर गुफाओं में या पहाड की ओट में वह निवास करने लगा। गुफाओं के निवास में दल बने और परस्पर सहयोग से शिकार का आरंभ हुआ। दलों में आरम्भ में संगठन, मित्रता या नीतिनियमों का अस्तित्व संभव ही नहीं था। अत्यंत स्वार्थमय और स्वकेन्द्रित जीवन में स्वैर मुक्त लैंगिकता थी। उसकी इस प्राथमिक स्थिति को, स्वभाव को, नृतत्त्वशास्त्री क्लार्क ने उचित शब्दों में व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—"मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आदिमानव प्रकृति का एक बच्चा ही था। वह छोटे बच्चेके समान ही अन्तर्गत जीवन और बाह्य वातावरण में भेद करना नहीं जानता था और अपनेको पशुओं और अन्य प्राणियों तथा प्रकृति से अभिन्न मानता था।"[१]

शिकारी मानव :

पत्थर के विभिन्न हथियारों और साधनों के बनाने और उपयोग में कौशल प्राप्त करनेपर दलों में सहयोग से शिकार करने में उसने पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उससे पूर्व ही अग्नि का आविष्कार हो चुकने के कारण अब वह मांस भूनकर खाने और ठंडक से बचने के लिये गुफा के द्वारपर अग्नि जलाने की योजना करने लगा।[२] गुफावासी शिकारी मानव में कुछ स्थिरता आयी, भटकना कम हुआ और दलों में कुछ संगठन की वृत्ति एवं स्थैर्य आया। पशुओं के मांस के अतिरिक्त वह हड्डियों और खाल का उपयोग करने लगा। हड्डी की सूई से खाल के कपडे बनाने के साथ हड्डियों

---

१ Psychologically the savage is a true child of nature, like a child, he fails to discriminate between the inner life, the soal and the external environment and feels himself one with the nature, animate and inanimate.

(From Savagery to Civilization, P. 30)

२ The use of fire is the only open and shut difference between man and all the other animals.

(The Story of a Man-*by Coon*, P. 317)

से अन्य आभूषणादि बनाने और पत्थर के बर्तन तराशने में सफल हुआ। दलगत परस्पर व्यवहार बढ़े, स्त्रीपर अधिकार की लालसा वृद्धिंगत हुई और व्यावहारिक पारस्परिक जीवन प्रभावित किया जाने लगा।

मत्स्योपजीवी तथा पशुपालक मानव :

दूसरी बार हिमस्तर पिघलने से भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु में पर्याप्त परिवर्तन आया। बड़े-बड़े जंगली जानवर नष्ट होकर सूअर, मछलियाँ, विभिन्न पंछी और खरगोश आदि छोटे छोटे प्राणी बचे। शिकार कम होकर जलाशय से मानव मछलियाँ पकडना, संग्रह करना, सुखांना आदि प्रधान कार्य करने लगा। तालाब के किनारे झोंपडी में मानव के पारिवारिक जीवन के बीज बोये गये। पुरुष कार्यवश बाहर जाने लगे और स्त्रियाँ घर में बैठकर जाले बुनना, फंदे तैयार करना, नये-नये हथियार बनाना आदि कार्य करने लगीं। श्रमविभाजन के साथ नये-नये तंत्रों का प्रयोग, लकडी का उपयोग मनुष्य ने सीखा। तीर कमान बनाना, हड्डियों से कंधी आदि बनाना, लकडी के बर्तन और अन्य वस्तुओं का उपयोग करना आरम्भ हुआ। शिकार के अलावा पशु को पालतू बनाया गया। कुत्ते को रक्षा के निमित्त तथा, गौ को दूध के लिये पाला जाने लगा। घर के आसपास ज़मीन साफ करके प्रारंभिक रूप में खेती का आरंभ हुआ। इस विकसनशील जीवन में रक्तसम्बन्धों (kinship) के निर्माण के साथ कार्यविभाजन तथा अर्थव्यवस्था और लैंगिकता के आधारपर परिवार संस्था का उदय हुआ। उद्योगप्रियता, कलाकारिता एवं कौशल से जीवन उन्नत बनने लगा।

काश्तकार मानव :

कृषि का आरंभ मनुष्य के जीवनविकास में क्रांति की घटना है। ज़मीन से अनाज पैदा करना, वृक्ष का ज्ञान, मिट्टी का उपयोग, ईंटें बनाना, घर बनाना आदि सब बातों के ज्ञान से मनुष्य के जीवनविकास का स्तर उच्च बना। मांस के बदले दूध, धान का समावेश उसके खाने में हुआ। इस सुधार ने नई आवश्यकताओं को जन्म दिया। गिरोह के बदले घर में निवास, विवाहसम्बन्ध से पारिवारिक स्थिर सम्बन्ध और बस्तियों का जीवन आदि का प्रचलन हुआ। समाज स्थिर बनने से सामाजिक सम्बन्ध और नियम दृढ बनते गये। श्रमविभाजन (division of labour) के आधार पर पारिवारिक सम्बन्ध एवं स्थान का निर्णय होने लगा। परिवारसंस्था का विशेष विकास होकर बहुपत्नीप्रथा का प्रचलन हुआ। सामाजिक सम्बन्ध (social relation) परस्पर लेनदेन और व्यवहार बढ़ते गये। कबीला, गाँव, बस्ती, नगर आदि का न्यायकर्ता कोई एक मुखिया रहता था। उसकी आज्ञा या आदेश का पालन हरएक का कर्तव्य माना जाने लगा। सभ्यता और संस्कृति के विकास ने पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्ध दृढ बनाये।

संस्कृतिनिर्माता मानव :

कृषि के साथ धातुओं के उपयोग ने जीवन को अत्यधिक विकसित किया। ताम्र, कास्य, लोह आदि की सहायता से खेती के साधन, आभूषण, बर्तन और अन्य कई वस्तुएँ बनायी जाने लगीं। नदियों के तीरों पर विभिन्न संस्कृतियाँ उदित एवं उन्नत हुई। सुमेरियन संस्कृति, ईजिप्त संस्कृति, सिंधु संस्कृति आदि प्राचीन समृद्ध संस्कृतियों की विकसित स्थिति के दर्शन उत्खनन में हुए हैं।

सिंधु-संस्कृति और मोहेंजोदरो का काल संस्कृतिनिर्माता भारतीय मानव के जीवन का चरमविकास का काल था। राज्यव्यवस्था, नगरों का निर्माण, विकास एवं कलाओं का विकास आदि द्वारा मनुष्य ने भौतिक, कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन में उच्च स्तर प्राप्त किया। इस काल में दंड, न्याय, नीति का आधिरक्षक न्यायदेवता राजा माना जाता था।

वेदकालीन मानव :

सभ्यता और संस्कृति के उच्च स्तर तक पहुँचने के साथ-साथ मनुष्य की प्रज्ञा ने आत्मिक और आध्यात्मिक स्तर पर देवताओं को आवाहन करके प्रार्थनाओं और सूक्तियों का सर्जन किया। चातुर्वर्ण्य, चार आश्रम और चार पुरुषार्थमय जीवनादर्श निश्चित किया। शास्त्र, विद्या, विज्ञानादि में अत्यंत उन्नत तत्कालीन समाज में भौतिकता की सीमाओं को लाँघकर मानवजीवन आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चेतना से अनुप्रणित था।

रामायण, महाभारतकालीन जानपदीय और नागरी संस्कृति में सदाचार, सद्भाव एवं नैतिक कल्पनाओं पर अधिष्ठित आदर्श जीवन की कल्पना को विशेष महत्ता प्राप्त हुई। मित्र, भाई, पुत्र, पत्नी-पति, राजा-प्रजा, नेता, गुरु-शिष्य आदि सम्बन्धों के आदर्श, उत्तरदायित्व और नियम निश्चित हुए और सद्गुणों की महत्ता बढ़ी। बहुपतिविवाह, बहुपत्नीविवाह, एकपत्नीव्रत आदि तत्त्व समय के साथ सामने आते रहे। कर्म के अनुसार पुनर्जन्म की कल्पना, आश्रमव्यवस्था, मानवीय पौरुष आदि को विशेष महत्ता मिलने लगी।

आधुनिक मानव :

ईसा के पूर्व और पश्चात् भारतीय जीवन में विभिन्न परिवर्तन आये। राज्य-व्यवस्था निरन्तर बनी रही। राज्य का स्वरूप, राजा-प्रजा के सम्बन्ध, सत्ता, बाहरी शासकों के धर्मादि प्रभाव से जीवन के मानदण्ड, समाज की स्थिति, नैतिकता की कल्पनाएँ बदलती रहीं।

मानवजीवन के इस पूरे लम्बे विकास में उसके मस्तिष्क की क्षमता ने विचारोंको विकसित किया और भावों के उन्मेष की शक्ति प्रदान की।

उसके भावविश्व के विकास का आरम्भ तो आत्मरक्षा से हुआ। उसकी प्राथमिक भाव स्थिति इन्द्रियसंवेदनजन्य रही। **डार्विन** के सिद्धान्त से भी यह स्वीकृत हुआ है कि आत्मरक्षा के प्रयास में मनुष्य की आरंभिक भावस्थिति शारीरिक क्रिया-प्रतिक्रियाओंतक सीमित थी। मूलतः पायी हुई भावक्षमता ने मानव-जीवन की समाजसापेक्ष विकासस्थिति में विभिन्न वस्तुओं, स्थितियों, घटनाओं और व्यक्तियों के संपर्क से विभिन्न प्रेरक (stimulus) पाये और भावों का उन्मेष होता रहा। मानव के भावविकास में परिवर्तन आनेका प्रधान कारण उसका द्वैत और तत्पश्चात् समष्टि बनना है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **वॉटसन** महोदय के कथन से इसे पुष्टि मिलती है कि बच्चे के भावनिक विकास में उत्तरोत्तर तीव्र भावनाओं का अभिक्षण (frequency) कम होता है और सामाजिक मान्यता एवं प्रयोग से निश्चित बनी स्थिति के अनुकूल तथा सांस्कृतिक दबाव के अनुसार उसके भावनाओं के बंध (patterns) बदलते हैं।[1] साथ ही किसी समाज की स्थितिविशेष तथा उसकी संस्कृति का प्रभाव भावों के उदय एवं अभिव्यक्ति पर पडता है। मनोवैज्ञानिक **वेल्ड** के कथन से भी यह स्पष्ट होता है कि, " मनुष्य का व्यवहार मूलप्रवृत्तिगत नहीं होता, बल्कि वह समाज के पारस्परिक आदानप्रदान के लिए अर्जित एक सांस्कृतिक साधन है। "[२] संस्कृतियों की विभिन्नता से सम्बन्धित भावाभिव्यक्ति के सन्दर्भ में शोधकार्य कई नृतत्त्वशास्त्रियों ने किया है। उदाहरण स्वरूप हमारी संस्कृति में गोलाकार विस्फारित नयन आश्चर्य सूचित करते हैं, चीनियों में वही क्रोध का प्रतीक है। अतः समाजविकास एवं संस्कारों की सापेक्षता में मनुष्य के भावों के उन्मेष, विकास और परिवर्तन तथा अभिव्यक्ति का स्वरूप अंकित करने के लिये यह सारी पृष्ठभूमि उपयुक्त सिद्ध होगी।

१ The emotional development of the child is characterized by decreasing frequency of intense emotion to socially approved and experimentally determined situation and by a change in the patterns of emotion a behaviour to accord with cultural pressure.

(Experimental Psychology, P. 102)

२ The behaviour need not be instinctive but merely a cultural acquired means of social communication... There are many anthropological findings on the differences of expressive movement in different cultures, for instance in our culture round, wide opened eyes suggest surprise but to the Chinese, they mean anger.

(Psychology as Science, P. 83)

मानव-जीवन-विकास की इन सारी स्थितियों को देखते हुए एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जीवन के विकासक्रम में प्रधानतः चार अवस्थाओं से मनुष्य को गुजरना पड़ा। सामाजिक दृष्टि से इस विकास का विचार करने से प्रतीत होता है कि इन्हीं चार स्थितियों ने निश्चय ही उसके समग्र जीवन को प्रेरित एवं परिवर्तित किया है। प्रथम स्थिति अकेलेपन की रही है। उसमें मनुष्य ने जगत् में अपने को अकेला पाया और वह प्राकृतिक साहचर्य में जीवनयापन करता रहा। दूसरी स्थिति द्वैत की रही, जिसमें व्यक्ति का किसी अन्य मनुष्य या स्त्री से संपर्क आया। तीसरी स्थिति में उसका जीवन दल अथवा समूह से बद्ध रहा है। उसके अनन्तर उत्तरोत्तर सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ मनुष्य व्यापक समष्टि का एक अंग बन गया। इस प्रकार मानवजीवनविकास की लम्बी कहानी व्यष्टिजीवन से व्यापक होती हुई समष्टिजीवन तक प्रवहमान बनी रही। अकेलापन, द्वैत, समूहगत जीवन और समष्टिगत जीवन इन चार स्थितियों की सापेक्षता में उसके जीवनविकास, भावस्थिति और स्वभाव की विशेषताओं में अन्तर आता रहा।

इन चारों स्थितियों के विकास को देखने पर मनुष्य के भावोन्मेष, भावविकास एवं भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया स्पष्ट होने लगती है। आरंभ में केवल मनोवेगों के रूप में ही इस प्रक्रिया का जन्म हुआ और अन्ततः संस्कारों के साथ वह अधिकाधिक परिवर्तित होती आई है। आरंभ में सुखदुखात्मक इन्द्रियज वेदना के अनुसार मनोवेग उत्पन्न हुए और बाद में वासनाओं एवं प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। क्रोध-भयादि भाव मनुष्य में वासना रूप में थे, उनको बाद में भावरूप प्राप्त हुआ। प्रत्येक भाव आदिम रूप में इन्द्रियज संवेदना, वासना तथा शारीरिक बाह्य एवं आंतरिक रचना के अनुरूप व्यक्त होता रहा। इसका विस्तार से दिग्दर्शन **चार्लस डार्विन** ने "मानव और पशुओं में भावनाओं की अभिव्यक्ति" नामक पुस्तक में किया है। धीरे-धीरे भाव की प्रतिष्ठा से उसका कार्यक्षेत्र बढता रहा और जीवन में पारस्परिक सम्बन्धों का क्षेत्र विकसित होता गया। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य के व्यापार बढते गये, साथ ही भावों में बहुविधता, एवं जटिलता भी आती गयी। व्यक्तिसंपर्क एवं समाजसापेक्षता से भावों की स्थिति में अन्तर आता गया। सामाजिक परिवेशगत विभिन्न स्थितियों के कारण मनुष्य के जीवन पर विभिन्न संस्कार हुए, प्रसंगवत् कुछ भाव उदित हुए और उन्होंने समाज में अभिव्यक्ति पायी।

मूलतः वासनिक एवं इन्द्रियसंवेदनजन्य भावों में सामाजिक संस्कार से विभिन्न प्रकार का परिवर्तन आया। कुछ भाव सामाजिक स्थिति के कारण किसी कालविशेष में दमित हो गये और कुछ फीके पड़ गये। परिष्कार एवं संस्कारों के फलस्वरूप कुछ भावों ने प्रच्छन्न रूप धारण किया। जीवन के व्यापारों की जटिलता के साथ-साथ भावों में सूक्ष्मता भी आयी। बौद्धिक विकास, सभ्यता एवं संस्कृति के विकास ने कई

भावों को स्थूल नहीं रहने दिया बल्कि उनमें सूक्ष्मता के साथ सम्मिश्रता भी आयी। संस्कार एवं सभ्यता के कारण ही तो मनुष्य पशु से भिन्न भावस्थिति तक पहुँच गया है। कुछ भावों को अर्जित (conditioned) रूप में स्वीकार किया गया। समाज के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबाव ने भावों को सूक्ष्म, सम्मिश्र एवं प्रच्छन्न बनाया। कुछ भाव समाज के विकास में स्थिरता पाकर स्थायी रूप में बने रहे और कुछ सन्दर्भविशेष में क्षणिक काल तक उभरते रहे। दिन-ब-दिन सामाजिक जीवन की जटिलता के साथ भावों की प्रच्छन्नता, खण्डितता, क्षणिकता एवं सूक्ष्मता बढ़ती रही।

मानव के जीवनविकास में अन्तर्भूत इन चार स्थितियों की सापेक्षता में भावोन्मेष एवं भावविकास की कल्पना की जा सकती है। ऐसी कल्पना की जा सकती है कि आदिमानव के जीवन में सामान्य सुखदुःखात्मकता के अनुभव का अस्तित्व था, परंतु भय, काम, क्रोध और आश्चर्य का उदय प्रबल रूप में हुआ था। प्राकृतिक वातावरण में अचानक परिवर्तन आँधी-तूफान, अतिवृष्टि, कड़ी धूप, बादलों की आवाज, बिजली की दमक, घना अँधेरा आदि प्राकृतिक उत्पातों एवं पीडादायी भयावह बातों से भय का अनुभव उसने किया होगा। समस्त प्राकृतिक पर्यावरण में अपनेको अकेले पाकर आत्मरक्षा की प्रेरणा से भयभीत मानव सुरक्षा के लिए भय से दूर भागने की चेष्टा में रहा होगा। आत्मरक्षा और शारीरिक बचाव की प्रबल प्रेरणा मात्र आरंभ में भय के कारण थी। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **मैगडुगल** भी भय के मूल में बचने की प्रवृत्ति का अस्तित्व मानते हैं। भय को पलायन करने का आवेगपूर्ण व्यवहार कहा जाता है। (Fear is the behavioural impulse to escape.) प्रकृति के अतिरिक्त किसी पशु को दूसरे पशुपर या स्वयं उसपर आक्रमण करते देखकर उसने अपने को भय की स्थिति में पाया। प्रकृति और पशु से उत्पन्न भय की अभिव्यक्ति पलायन एवं आत्मरक्षानिमित्त किये गये प्रयत्नों में हुई। उसके आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति लकीरों से पत्थरों पर अंकित पशुओं की आकृतियों में हुई है।[१] पत्थरों एवं पेड़ की शाखाओं के उपयोग से बचाव के तरीके सीखनेपर यह भय कुछ कम होता गया।

भय के साथ ही इस अवस्था में क्रोध एवं आश्चर्य का उदय होना स्वाभाविक है। पशुओं के द्वारा पीडा पहुँचाये जाने पर अथवा भोजन की प्राप्ति में रोड़ा अटकाये जानेपर मनुष्य तमतमा उठता था। आत्मरक्षा में प्रतिरोध आना ही क्रोध का प्रधान कारण था। इस विषय में "ऐपिक ऑफ मॅन" ग्रंथ में मनुष्य की भावदशा का प्राचीनतम चित्र उपलब्ध है।[२] उसमें नैण्डरथल मानव की जंगली भैंसे से मुठभेड का का प्रसंग अंकित है। हाथ में पथरीला हथियार उठाये, पशु से सामना करने के लिए

१ Art and Society Plates, 1, 2, 4, 6.

२ The Epic of Man, P. 15.

वह तैयार है। भैंसे के प्रति क्रोध उसके चेहरेपर स्पष्ट है, भौंएँ तनी हुई हैं, आँखें विस्फारित हैं; हाथ ऊपर उठा हुआ है, हाथ में पत्थर का हथियार लिये पशु की ओर क्रोध एवं आवेश से जा रहा है।

आदिम स्थिति में शारीरिक चेष्टाओं द्वारा अभिव्यक्त क्रोध एवं आवेश के साथ ही शिकार के समय उत्साह के दर्शन भी होते हैं। इस स्थिति में प्रकृति के नवीन चमत्कारों एवं रूपों ने जहाँ एक ओर उसमें भय उत्पन्न किया, दूसरी ओर उसके आश्चर्य और कुतूहल को बढ़ाया। आरंभ की स्थिति में विस्मय और जिज्ञासा का स्वरूप स्पष्ट नहीं था, परंतु ज्ञान और अनुभव वृद्धि के साथ कुछ बातों के विषय में विस्मय की मात्रा कम होती गई तो अन्य विषयों में आश्चर्य जगने लगा।

इस अवस्था में 'काम'का स्वरूप मनुष्य में शारीरिक आकर्षण एवं लैंगिकता तक ही सीमित था। अपनी शारीरिक भूख मिटाने के लिए, वासनातृप्ति के लिए अभिव्यक्त उसका लैंगिक जीवन पशु से अधिक भिन्न नहीं था। अतः स्वैर लैंगिकता से युक्त कामभाव अत्यंत संकुचित एवं स्वार्थपरक ही था।

अकेलेपन की स्थिति में सुखदुःखात्मकता के सामान्य अनुभव से मनुष्य में आनंद का या दुःख का भाव उदित हुआ था। मनोवैज्ञानिक बच्चे में सुखदुःखात्मकता का मूलतः स्थूल रूप में अस्तित्व मान्य करते हैं। शारीरिक पीडा कष्टादि से दुःखात्मकता और शारीरिक सुख, भोजनादि की प्राप्ति से आनंदात्मक भाव का अनुभव इस स्थिति में संभव था। शारीरिक पीडा पहुँचने पर, जीवनयापन में कुछ कठिनाई या प्रतिरोध होने पर या इच्छा की अतृप्ति में मनुष्य ने दुःखात्मक भाव का अनुभव किया और शिकार की प्राप्ति होने पर या पशु को सरलता से मारने पर विजय प्राप्ति के कारण आनंद की भावना अचानक हास्य में प्रकट हुई।

जुगुप्सा भाव और संवेदना का संमिश्रित रूप है। अतः अपने स्वरूप में वह अन्य भावों से भिन्न है। मुख्य रूप से वह प्रत्यक्ष आस्वाद या उसकी विषद कल्पना के प्रति अरुचिपूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। यही प्रतिक्रिया ऐसे स्थलोंपर भी उत्पन्न होती है, जहाँ घ्राण, स्पर्श और दर्शन के शक्ति के माध्यम से पहले प्रकारकी अनुभूति जाग्रत होती है।[१] अतः पशुसमान जंगली जीवन-स्थिति में जुगुप्सा उत्पन्न होने का प्रश्न ही

१. Disgust—a combination of emotion and sensation—is distinct in its nature, and refers to something revolting primarily in relation to the sense of taste, as actually perceived or vividly imagined and secondarily to anything which causes a similar feeling, through the sense of smell, touch or vision.
(The Expression of the Emotions in Man and Animals, P. 127.)

नहीं उठता। जिस समय उसने अपने जीवन को सुरुचिपूर्ण, सुंदर, सुस्थिर एवं कलात्मक बनाना आरंभ किया तथा अपने जीवन में मांस भूनकर खाना, अन्न बनाना, शरीर की सफाई और सजावट करना, घर बनाना, और सजाना आदि सारी बातों में सौंदर्यात्मकता की महत्ता उसने अनुभव की, उस समय उसमें शारीरिक वितृष्णा या जुगुप्सा का यह स्थूल भाव जगने लगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आरंभिक अकेलेपन की स्थिति में मानव में भय-काम-क्रोध और विस्मय का उदय हुआ। सुखदुख की स्थूल प्रतीति मात्र उसे हुई और जुगुप्सा, हास्य, युद्धप्रवृत्ति, उत्साह, आवेश का प्रारंभिक रूप में उन्मेष हुआ।

द्वैत की स्थिति ने मनुष्य के भावोन्मेष में आमूलाग्र परिवर्तन किया। अपने साथ किसी अन्य के अस्तित्व का एहसास होनेपर, उसकी भावनात्मक स्थिति परिवर्तित हो गयी। स्त्री के संपर्क ने स्वैर काम के साथ सौंदर्याकर्षण को जागृत किया और जीवन-जगत् के पुनर्निर्माण की लालसा तीव्रतर होती रही। इस स्थिति में सबसे प्रबल भाव काम भाव हो सकता है। साथ ही अन्य किसी व्यक्ति के संपर्क के कारण भयक्रोधादि भावों की स्थिति में भी अंतर आया। द्वैत की स्थिति में अपने साथ अन्य को पाने के कारण भय से मुक्ति पाने के प्रयास में अधिक विश्वास उत्पन्न हुआ और अकेलेपन की वृत्ति के दूर होने से भय की अनुभूति भी कम हुई। अब वह आत्मरक्षा के लिए दूसरे की सहायता ले सकता था। पर साथ ही दूसरे व्यक्ति के बचाव एवं रक्षा का विचार भी उसमें धीरे-धीरे आता गया। भागने या चिल्लाने के स्थान पर भयमुक्ति के लिए प्रयत्न किये जाने लगे। मानवसंपर्क के अतिरिक्त कुछ नये अनुभवों, ज्ञान एवं कौशल के कारण भय की मात्रा एवं तीव्रता कम होती गई और क्रोध की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप में होने लगी।

क्रोध एक ऐसा भाव है कि जो किसी अन्य व्यक्ति के संपर्क में उदित एवं व्यक्त होता है। पशु या प्रकृति के प्रति उसकी क्रोधाभिव्यक्ति में कुछ विशेषता नहीं थी। प्रत्यक्ष किसी अन्य व्यक्ति के संपर्क में क्रोध के विषयों में वृद्धि हुई, परिवर्तन हुआ और उसकी अभिव्यक्ति भी अधिक स्पष्ट तथा भिन्न होने लगी। जैसे-जैसे मनुष्य में लाभ का विचार बढता गया, वैसे-वैसे क्रोध के उदय के कारण भी उपस्थित होने लगे।

अन्य व्यक्ति के सहयोग से विकास की गति भी बदल गई और विस्मय ने धीरे-धीरे जिज्ञासा का रूप लिया। भौतिक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य कई विषयों में विस्मय जगने लगा और सौंदर्यात्मक चेतना से भी आश्चर्य को बल मिला। आरंभ में चिल्लाने, दौडने आदि शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा भय, क्रोध, आश्चर्य, हर्ष, शोकादि व्यक्त करनेवाला मनुष्य अब कुछ संकेतों, ध्वनियों एवं उद्गारों का प्रयोग करने लगा।

विस्मयादि बोधक उच्चारणों एवं शब्दों को कुछ विद्वान भाषा का आदिरूप मानते हैं। वस्तुतः मानवसंपर्क के अनंतर ही भाषा की उत्पत्ति और वृद्धि सम्भव है। द्वैत की स्थिति में प्राकृतिक या भौतिक वस्तुओं एवं स्थितियों के स्थानपर मानव में किसी व्यवहार के प्रति विस्मयभाव में आनंद के साथ उदासी, निराशा आदि संलग्न भाव उदित होने लगे। सुखदुःख की स्थूल भावना द्वैत की स्थिति में अधिक स्पष्ट एवं तीव्र हुई। अपने अतिरिक्त किसी अन्य के लिए आनंद या शोक उत्पन्न होना सामाजिक दृष्टि से अधिक श्रेष्ठता रखता है। आनंद का भाव कुछ व्यापक बना। अपने आनंद को अन्य व्यक्ति के साथ व्यक्त करने में मनुष्य अग्रसर हुआ और अपने प्रिय व्यक्ति को पीडा पहुँचना, उसका घायल होना, उसकी मृत्यु होना आदि कारणों से दुःख का अनुभव करने लगा। स्वरक्षा के साथ ही अपने साथी अथवा स्त्री की रक्षा के निमित्त किये जानेवाले प्रयत्नों में क्रोध के अतिरिक्त धैर्य, उत्साह और आवेश के दर्शन विशेष रूप में होने लगे।

जीवन के विकास के पथ पर (कुछ समय के पश्चात्) यह द्वैत की स्थिति भी कुछ अधूरी सी प्रतीत हुई और अपने-आप मनुष्य गुफाओं में दल बनाकर, समूहों का संगठन कर रहने लगा। यद्यपि आरंभ में उसका दलगत जीवन संगठित नहीं था, अपितु सामूहिक संस्कारों से उसके जीवन को प्रभावित अवश्य किया। दल अथवा समूह का एक सदस्य बनने से समूह के संस्कारों एवं नियमों का अप्रत्यक्ष दबाव उसपर पड़ने लगा और उसका व्यष्टिजीवन अधिक व्यापक बनता गया। दल के एक अभिन्न अंग के नाते अब उनके हितसम्बन्धों की रक्षा का प्रश्न उसके जीवन में अपने-आप ही महत्त्वपूर्ण हो गया। जीवन के विकास, विभिन्न अनुभवों एवं ज्ञान के ग्रहण, साधनों में कुशलता प्राप्ति के साथ ही सामूहिक जीवन की स्थिति ने उसके सारे भावों की स्थिति, स्वरूप और उन्मेष के कारणों को बदल डाला।

समूह के सहारे बाह्य बातों से उसका भय तो कम हुआ, परंतु वह अन्य दल या किसी मनुष्य से भय का अनुभव करने लगा। धीरे-धीरे अदृश्य शक्ति की कल्पनाएँ सामने आईं। टोटम, जादू, अज्ञात शक्ति, भूत-पिशाच्च आदि से वह डरने लगा। समाजसम्पर्क से परस्पर के विषय में चिंता बढने लगी। प्रत्यक्ष भय की मात्रा तो कम हुई पर चिंता बढ़ने लगी। समूहों के नियमों की पाबन्दी, दल के नेता का प्रकोप, आदि से भय उत्पन्न होने लगा।

दलों में व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के हेतु, नेतापद प्राप्त करने के उद्देश्य से या स्त्री पर अधिकार की लालसा से मनुष्य में लाभ की मात्रा बढती गई और उसकी पूर्ति में किसी तरह प्रतिबंध आने पर तुरंत क्रोध का उन्मेष होने लगा। दल के संगठन एवं समझौते के साथ-साथ धीरे-धीरे क्रोधाभिव्यक्तिपर नियंत्रण आया। व्यक्ति, प्रसंग-विशेष, स्त्री, लाभकारी वस्तु आदि क्रोध के कारणों में तो वृद्धि हुई पर व्यक्ति की

क्रोधाभिव्यक्ति संयत बनी। सभ्यतावृद्धि के साथ उत्तरोत्तर क्रोध को दबाने एवं शिष्ट तरीके से, किसी अन्य मार्ग से व्यंजित करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। भाषा के विकास ने भय, क्रोधादि भावों की अभिव्यक्ति बदल दी। मारना, पीटना, चिल्लाना आदि शारीरिक एवं आंगिक चेष्टाओं के स्थानपर शब्दों द्वारा क्रोध व्यक्त किया जाने लगा। साथ ही धीरे-धीरे ईर्ष्या, द्वेष, वैर, खीझ, क्षोभ, अप्रसन्नता आदि क्रोध की विभिन्न छटाएँ व्यक्त होने लगीं।

काम भाव के उन्मेष और व्यंजना में दलगत जीवन में भी अधिक अंतर नहीं आया, क्योंकि आरंभ में स्त्रियाँ दल की संपत्ति होती थीं और स्वैर लैंगिकता के कारण दल में स्वार्थपरक व्यवहार भी किये जाते थे। अतः नैतिकता आदि का उदय तक नहीं हुआ था परंतु जब स्त्री पर अधिकार की लालसा से दलों में पारस्परिक संघर्ष बढ़े, तब उसके मनुष्य के काममय जीवन में कुछ व्यवस्था उत्पन्न करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मानव में विकसित होनेवाली लज्जारक्षा एवं सौंदर्याकर्षण ने इसमें संस्कार किया। किसी एक स्त्रीपर अधिकार करने का आकर्षण बढ़ता गया। लज्जारक्षा के निमित्त खाल से बनाये कपड़ों के उपयोग और विभिन्न आभूषणों द्वारा[१] साजशृंगार की बढ़ती कल्पनाओं तथा अन्य सुविधाओं के कारण उत्तरोत्तर सौंदर्यवृत्ति (Aesthetic Sense) वृद्धिंगत होने लगी। स्त्रियाँ सजधजकर सौंदर्यसाधक मनुष्य को मोहित करने लगीं और इस आकर्षणपूर्ण सौंदर्यभावना ने रति को और पुष्ट बनाया। स्त्री को प्राप्त करने के साथ-साथ उसके मोहक सौंदर्याकर्षण ने मानव के कामभाव को मानसिक स्तर पर पहुँचाया। वासनाजन्य शारीरिक लैंगिकता के स्थानपर मानसिक प्रेम और तीव्र आकर्षण के उदय ने मानवीय प्रेम के क्षेत्र का विस्तार किया।

जीवन में स्थिरता एवं संपन्नता आने के साथ जब मानव ने घर में निवास करना आरंभ किया तब स्त्री की रक्षा का प्रश्न उपस्थित हुआ। परिवारसंस्था के बीज इसी स्थिति में निहित हैं। इसने जहाँ एक ओर मात्सर्य, ईर्ष्या उत्पन्न की, वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति में प्रेम आकर्षण, चिंता और उत्तरदायित्व का एहसास जगाया। परिवार के उदय के साथ उसमें स्त्री और संतान का उत्तरदायित्व, पालपोस एवं उनकी रक्षादि का भार पुरुषपर पडा और इससे रतिभावना परिपुष्ट होती रही। काम के साथ प्रेम के अन्य स्वरूपों का उदय भी इस स्थिति में हुआ।

समूहसापेक्ष जीवन में सुखदुख की कल्पनाओं में अंतर आने के कारण मनुष्य के आनंद और दुःख के उदय के कारणों और उनकी अभिव्यक्ति में भी भिन्नता आयी। सामूहिक शिकार, मछलियों को मारना और कृषि आदि में परस्पर सहायता जैसी कुछ

१. Necklace of stag teeth, fish vertebra and shells.

(Art through the ages, P. 32)

बातों के कारण सम्मिलित रूप में हर्ष को प्रकट किया जाने लगा। सामूहिक रूप से शिकार में सफलता प्राप्त करने के अनंतर विजयश्री के उन्माद में उसके चारों ओर नाचते-कूदते, चिल्लाते हुए नृत्य के द्वारा प्रकट किया जानेवाला हर्ष विभिन्न स्वांगादि के दर्शन से हास्य उत्पन्न कर देता था। व्यक्तिगत स्वार्थ एवं आनंद की सीमाएँ कुछ व्यापक बनीं और शारीरिक सुख के स्थान पर मानसिक और बौद्धिक संतोष उत्पन्न होने लगा। मानव की सहसंवेदना ने दुःख को व्यापक रूप में अनुभूत किया और दया, करूणा, सहानुभूति प्राथमिक रूप में जगने लगी।

हर्ष और शोक के समान ही विस्मय ने भी मानसिक स्तर प्राप्त किया। अचानक घटना, दैवी चमत्कार, महान् कार्य आदि के दर्शन से व्यक्ति विस्मय का अनुभव करने लगा। साथ ही जुगुप्सा जैसे शरीरसंवेदनजन्य भाव का भी मानसिक स्तर पर विकास हुआ। केवल देखने, खाने, सूँघने की क्रिया से उत्पन्न शारीरिक वितृष्णा के स्थान पर मानसिक घृणा जगी। अप्रीतिकर, दुष्ट, पीडादायी व्यक्ति का कार्य मानसिक घृणा का विषय बना।

समूह-जीवन में मनुष्य के ममत्व का विस्तार होता गया और परदुःख का अनुभव करने की भावना भी जागृत हुई। दल के किसी सदस्य की मृत्यु पर व्यक्त होनेवाला दुःख तत्कालीन शवसंस्कार के एक चित्र में अंकित है। उससे इस स्थिति की कल्पना आ सकती है।[1] चित्र में शव के साथ दल के अन्य सदस्य उपस्थित हैं। शामन जंगली भैंसे की पूजा करता है। बाद में शवदफन किया जाता है। ऐसे प्रसंगों पर पारस्परिक सहानुभूति व्यक्त होती है। इसी सहानुभाव ने आगे चलकर व्यक्ति में दया, करूणा, क्षमा, सहानुभूति आदि को जगाया।

इस प्रकार व्यक्ति के समूहसापेक्ष व्यक्तित्व ने उसके भावोन्मेष को प्रभावित किया और भावों का स्वरूप एवं अभिव्यक्ति पहले की अपेक्षा बहुत परिवर्तित हो गई। प्रथम अव्यवस्थित और बाद में संगठित दल में रहते हुए ही धीरे-धीरे एक ओर वह उससे विभक्त बनकर परिवार बनाकर रहने लगा, दूसरी ओर कई परिवारों ने संगठित रूप में एक समाज, नगर या राज्य का रूप धारण किया। सभ्यता एवं संस्कृति की विकसित स्थिति में वह समाज का एक सदस्य बन गया। समष्टि के सदस्यत्व ने उसके भावोन्मेष को बहुत परिवर्तित किया।

अब वह अपने परिवार, समाज, नगर, राज्य और राष्ट्र इस प्रकार विकसित होनेवाले क्षेत्रों का एक सदस्य बना, अथात् व्यष्टि-समष्टि का संपर्क एवं उत्तरदायित्व का बोझ उस पर अनायास ही आ पड़ा। संस्कृति के विकास के साथ उसकी आस्था ने

१. The Epic of Man, P. 33

धर्म, नीति आदि को जन्म दिया और कलात्मक चेतना एवं सौंदर्यभावना ने कला की सर्जना में अभिव्यक्ति पायी। धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, आदर्श की कल्पनाओं ने मनुष्य में सद्‌गुणों की महत्ता, जीवनमूल्यों का महत्त्व बढ़ाया। धर्म और नीति के आदर्श मानवी व्यवहार के निकष बने। अत एव इन दोनों ने भावों को भी अधिक समाजसम्मत, आदर्शात्मक, सूक्ष्म और सम्मिश्र बनाया।

परिवारांतर्गत पारस्परिक सम्बन्ध एवं व्यवहार, समाज की अर्थव्यवस्था, कार्य-विभाजन और नगर के नेता या राजा का आदेश, तथा धर्म और नीति के नियमादि के मूल्य आदि सभी के कारण भय की आरंभिक मात्रा तो बहुत कम हुई, परंतु मनुष्य चिंता का अनुभव करने लगा। अनीति, सामाजिक बुराई, अन्याय, पशुता, दुराचार, पाप और अनिष्टकारी व्यक्ति या वस्तु से जहाँ एक ओर भय या चिंता उत्पन्न हुई, वहाँ दूसरी ओर इनके प्रति क्रोध का और कहीं-कहीं जुगुप्सा या घृणा भी व्यक्त की जाने लगी। सभ्यतावृद्धि के साथ भविष्य की चिंता के साथ मनुष्य में भय, शंका, आवेग, भ्रम, संभ्रम, आकुलता आदि विभिन्न भावस्थितियाँ उत्पन्न हुई। सम्मान या प्रतिष्ठा की रक्षा और अपनी उच्चता एवं योग्यता के निर्वाह में प्रतिरोधक बातों से वह चिन्तित रहने लगा।

समाजसापेक्ष व्यक्तित्व में व्यक्तिगत लाभालाभ की कल्पनाओं की सामाजिक नीति-नियमों, पाबन्दियों से टकराहट होने के कारण व्यक्ति में क्रोध जागृत हुआ, पर अब मुक्त (overt) क्रोध के बदले चिडचिडाहट, झुंझलाहट, द्वेष, ईर्ष्या, खीज, क्षोभ, कुढन, अप्रसन्नता आदि विभिन्न छटाएं व्यक्त होने लगीं। शिष्ट एवं विकसित समाज में क्रोध को नियंत्रित, प्रच्छन्न एवं समाजमान्य मार्ग से अभिव्यक्ति मिलने लगी और द्वेष, ईर्ष्या आदि के रूप में क्रोध व्यक्त होने लगा। आचार्य शुक्ल ने वैर को क्रोध का अचार या मुरब्बा कहा है, वह सही है।[1] क्रोध को मन में दबाये रखकर प्रसंगविशेषपर विशेष ढंग से व्यक्त करने में शिष्टता और बुद्धिमानी प्रतीत होने होने लगी। व्यक्तिगत क्रोध के अतिरिक्त समाज, राज्य या शत्रु के प्रति सामूहिक क्रोधाभिव्यक्ति होने लगी। शारीरिक संघर्ष के अलावा मानसिक संघर्ष बढ़ता रहा और धन, अधिकार, सम्मान विशेष पदप्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिये प्रच्छन्न रूप में क्रोध व्यक्त किया जाने लगा।

इन्हीं बातों ने व्यक्ति या समूह में उत्साहप्रदर्शन की लालसा बढ़ाई। सामूहिक स्थिति की सापेक्षता में व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक व्यापक बना फिर भी विनयकामना, अधिकारप्राप्ति, सत्ता की रक्षा, राज्य, नगर या राष्ट्र की रक्षा के निमित्त युद्ध किए जाने लगे। धीरे-धीरे युद्ध में प्रदर्शित उत्साह, आवेग, अमर्ष, आवेशादि भाव

१. चिंतामणी, भाग १, पृ. १३८.

वीरत्व के प्रतीक बने । शक्तिसंपन्नता के बावजूद धैर्य, वीरता, साहस आदि मानवीय गुणों को समाज में प्रतिष्ठा मिली ।

पीडादायी शत्रु के प्रति केवल उत्साहप्रदर्शन एवं संघर्ष और क्रोध आदि व्यक्त किया जाता था, बल्कि मनुष्य उस से घृणा भी करने लगा । नीति की कल्पनाओं, शिष्टता एवं श्लीलता की धारणाओं ने मनुष्य में अनिष्ट, अनैतिक एवं अश्लील बातों से घृणा उत्पन्न की । घृणा का यह रूप पूर्णतः सामाजिक ही है ।

सामाजिक जीवन की सापेक्षता ने काम भाव को सबसे अधिक प्रभावित किया । समाजसंगठन के पश्चात् स्त्री-पुरुष रति के अतिरिक्त पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों में प्रेम के व्यवहार बढ़े । परिवार एवं समाज में स्त्री का स्थान, संतान की रक्षा एवं पालपोस का उत्तरदायित्व, अन्य सदस्यों से संपर्क एवं सम्बन्ध के फलस्वरूप भावस्थितियाँ उत्पन्न हुईं । स्वैर काम के स्थान पर संतुलित एवं परिष्कृत रति के अधिष्ठान पर परिवारसंस्था स्थिर हुई । मातापिता और पुत्र, भाई-बहन, स्वामी-सेवक, गुरू-शिष्य, राजा-प्रजा आदि विभिन्न सम्बन्धों के साथ स्नेह, वत्सलता, आदर, श्रद्धा, सख्य, स्वामिभक्ति आदि विभिन्न भावों का उदय हुआ और उनमें उत्तरोत्तर स्थायित्व आकर सद्गुणों में परिवर्तन हुआ । शिकारी मानव की जीवन स्थिति में ही मातृत्व की प्रतिष्ठा बढ़ चुकी थी, जिसके दर्शन खुदाई में प्राप्त तत्कालीन स्त्री-मूर्तियों से होते हैं ।[१] यह स्त्री-मूर्ति 'वीनस ऑफ विलेन्डार्फ' नाम से प्रसिद्ध है । इस मूर्ति की रेखाकृति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, बल्कि उसके शरीर के अंगों, विशेषतः उरोजों, जंघाओं को उभारकर तराशा गया है । विद्वानों का इस विषय में कथन है कि मातृत्व तथा शिशुजन्म का महत्त्व इसमें संकेतित हो सकता है । मनुष्य ने उन अंगों को स्पष्टतः अंकित किया है, जिन्हें वह सौंदर्य और यौनचेतना की दृष्टि से महत्त्व देता था ।

ईजिप्त की गॉडेस ऑफ थिसिस मातृत्व का प्रतीक है और उसके माध्यम से वात्सल्य को श्रेष्ठत्व प्रदान किया गया है ।[२] प्रगतिशील समाज में जैसे-जैसे स्त्री का स्थान एवं स्थिति विकसित होती गई और व्यक्ति की सौन्दर्यात्मक दृष्टि परिष्कृत होती रही, काम भाव में भी परिष्कार एवं संस्कार आया । गोपनीयता, परिष्कृति और सौन्दर्यात्मकता की विशेषता उसमें प्रकट होने लगी । सिंधु संस्कृति के प्रगतिशील

१. (i) Female figure, known as the Venus of Willendarf, Vienna. —History of Arts.
(ii) Statutte, known as the Venus of Lespugue.

२. The Heritage of Indian Art, P. 80.
Art and Images, Plate III.

समाज में मानव द्वारा अंकित स्त्रीसौन्दर्य का रूप एक ' कासे की नृत्यांगना ' में व्यक्त होता है ।[१]

सामाजिक जीवन की स्थिरता ने वात्सल्य, स्नेह, सख्य, भक्ति के साथ ही आदर, लोभ, दया, मित्रता, सहानुभूति, सहिष्णुता और मानवता को जन्म दिया । स्त्री और बच्चों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से भावात्मक सम्बन्ध जुडे, जो आज तक विभिन्न प्रकार से बने रहे हैं । इस विकास की दिशा में ही पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय प्रेम-भावना का उदय हुआ । अपने घर, राज्य, राष्ट्र और अखिल मानव से प्रेम का व्यापक विस्तार सामाजिक जीवन के कारण ही हो सका । इतना ही नहीं, पशु से भी प्रेमभाव की परिणति हुई । दया, क्षमा, शांति, भूतदया एवं सहिष्णुता सद्गुण बने । मानव के समग्र जीवन को प्रेम के संस्कार ने प्लावित कर दिया । आरंभिक स्थिति में भयकारी अज्ञात बातों के प्रति अपने संस्कारशील जीवन में मनुष्य आदर, श्रद्धा या भक्ति व्यक्त करने लगा ।

प्रेम ने कभी अमूर्त रूप धारण किया, कभी अमूर्त विषय के प्रति भी इस प्रेमभाव की जागृति हुई ।

प्रेम में आस्था के संमिश्रण से भक्ति का उदय हुआ है । आरंभिक स्थिति में अज्ञान से भयभीत होनेवाला मनुष्य आगे चलकर आदर एवं श्रद्धा समर्पित करने लग गया । उसके सामाजिक जीवनविकास के आरंभस्थल पर ही आस्था के चिन्ह अंकित हैं । पचीस हज़ार वर्ष पूर्व गुफावासी मानवजीवन के अंकित एक चित्र से इसकी कल्पना की जा सकती है ।[२] शामन बैठा है; उसके हाथ में पत्थर पर अंकित एक मूर्ति है । गुफा की भित्तियों पर मानवीय हाथों के चिन्ह अंकित हैं । शामन कुछ बता रहा है और सुननेवालों के चेहरे पर आश्चर्य और श्रद्धायुक्त भाव हैं । यही श्रद्धा का भाव उत्तरोत्तर देवता, श्रेष्ठ व्यक्तियों, राजा, नेता आदि के साथ राष्ट्र के प्रति विकसित होता गया ।

श्रद्धाभाव के उदय एवं विकास ने आश्चर्य को पुष्ट किया । दैवी चमत्कारों, विश्वासों और प्राकृतिक घटनाओं के प्रति विस्मय जगने लगा । मानवीय महानता के दर्शन से अचरज जागृत होने लगा । ईश्वरविषयक कल्पनाओं ने ही आत्मिक और आध्यात्मिक आनंद की स्थिति उत्पन्न की और भक्ति के आवेग में निराशा, पीडा, ग्लानि आदि का अनुभव मनुष्य को होने लगा ।

सामाजिक जीवन के विकास ने आनंद और शोक की स्थितियाँ बदल दीं । जहाँ एक ओर व्यक्तिगत स्वार्थ के हेतु अपने उच्चत्व की भावना से प्रेरित होकर

१. Heritage of Indian Art. –(Bronze dancing girl.)

२. The Epic of Man, P. 30. –(Shaman, Priestly Character.)

दूसरे का उपहास करने या उसे नीचा दिखाने में व्यक्ति हर्ष का अनुभव करता था, दूसरी ओर अपने आनंद को समष्टि में बाँटने की इच्छा से सामूहिक आनंद का आस्वाद भी करता था। मनोरंजन के विभिन्न साधनों द्वारा हर्ष की अभिव्यक्ति हास्य द्वारा होने लगी। सामाजिक विकास एवं सभ्यतापूर्ण शिष्ट व्यवहार में मनुष्य के जीवनक्रम से विपरीत, विसंगत एवं विकृत व्यक्ति, स्थिति, प्रसंग अथवा कार्य मनुष्य में हास्य उत्पन्न करने लगा।

धर्म और आदर्श के प्रभाव में व्यक्तिगत कारण नहीं, बल्कि समाजगत हीनता, दरिद्रता, पीडादायी स्थिति मनुष्य को दुःखी बनाने लगी। दुःख की व्यापक अनुभूति ने मनुष्य को अधिक संस्कारशील बनाया है। शोक के अतिरिक्त ग्लानि, अवसाद, चिंता, खिन्नता, उदासीनता, उद्वेग, असंतोष आदि की संमिश्र स्थिति सभ्यता के साथ उत्तरोत्तर बढ़ती रही है।

उपर्युक्त भावोन्मेष एवं भावविकास की प्रक्रिया के साथ ही भावाभिव्यक्ति ने भी सामाजिक संदर्भ में प्रेरणा ग्रहण की है। इस विकासदिशा में यह दिखाई देता है कि व्यष्टि और समष्टि के विकसनशील और परिवर्तनशील सम्बन्धों ने भावाभिव्यक्ति को अत्यधिक प्रभावित किया है। भावों के उदय के प्रेरक (stimulus) जीवन की बदलती स्थितियों में बदलते रहे। कुछ स्थितियों में पहले कुछ प्रेरक बने रहे, कुछ में वे नष्ट हुए और नये कारणों का उदय हुआ और उस के फलस्वरूप भावों ने भी नया भिन्न रूप धारण किया। समय, स्थिति और सामाजिक संदर्भ के बदलने से भावों के प्रेरकों की वृद्धि के साथ अभिव्यंजना में फ़र्क़ आया।

समाज में जैसे-जैसे शिष्टता, पद्धति, नीति, धर्म आदि विचारधाराओं का उदय होता गया, वैसे-वैसे भावों की अभिव्यक्ति समाजमान्य तरीके से करने की ओर प्रवृत्ति बढ़ी। आरंभिक स्थिति में भय, क्रोध, काम, आश्चर्य, सुखदुःखादि भाव शारीरिक चेष्टाओं एवं आंगिक क्रियाओं द्वारा व्यक्त होते थे, परंतु इन भावों ने मानसिक स्तर प्राप्त करने पर उनकी अभिव्यक्ति संकेतों, ध्वनियों और मुख पर अभिव्यक्त भंगिमाओं द्वारा की जाने लगी। भाषा के संस्कार से भाव को व्यक्त रूप प्राप्त हो गया पर साथ ही समाज संस्कार के कारण मुक्त (overt) भाव को छिपाने की प्रवृत्ति बढ़ी। दमित या प्रच्छन्न रूप में अथवा किसी परिष्कृत एवं समाजमान्य मार्ग से भावाभिव्यक्ति करने के प्रयास में व्यक्ति जुट गया। भाषा के व्यवहार से शब्दों द्वारा अभिव्यक्त क्रोध, भय, उल्लास, दुख की तीव्र अभिव्यक्ति कम कर के संयम एवं विवेक की स्थिति प्रदर्शित करना सभ्यता का संस्कार ही है। भाषिक गाली-गलौज द्वारा अभिव्यक्त किया जानेवाला क्रोध आगे चलकर शिष्ट एवं विकसित समाज में विवेकहीन असभ्य स्थिति का निदर्शक माना जाने लगा। अत एव उसका परिवर्तन वैर आदि में हो गया।

काम की आंगिक अभिव्यक्ति ने जहाँ एक ओर लज्जा एवं सौंदर्य ने विशेष रंगत एवं मोहकता उत्पन्न की, वहाँ दूसरी ओर गोपनीयता से उसको आकर्षक एवं परिष्कृत स्तर पर स्थापित भी किया। कलात्मक सौंदर्य-चेतना ने वाणी एवं व्यवहार में कई संकेतों एवं भंगिमाओं को व्यक्त किया। कामभाव को कहीं-कहीं उदात्तीकृत रूप में भी व्यक्त किया जाने लगा। शाब्दिक अभिव्यक्ति, संस्कारशील गोपनीयता, शिष्ट व्यवहार, सामाजिक हित की धारणा तथा सौंदर्य का साक्षात्कार और आस्था उत्पन्न हुई। इसी कारण श्लीलता-अश्लीलता की कल्पना का उदय होकर कामभावना की अभिव्यक्ति में परिष्कार हुआ।

सामाजिक संस्कार के ही कारण भावाभिव्यक्ति सूक्ष्म, प्रच्छन्न, सम्मिश्र और सूचक बनती गई। मनुष्य की भावात्मक चेतना एवं सौंदर्यात्मक वृत्ति ने कलात्मक अभिव्यक्ति पायी और चित्र, शिल्प, साहित्य आदि के द्वारा अपने मन के विभिन्न प्रच्छन्न भावों की अनुभूति को अभिव्यक्ति दी। मानवजीवनविकास के अध्ययन में प्राप्त पत्थर पर अंकित चित्रों एवं शिल्पाकृतियों में मानव की चेतना सजीव बनकर उपस्थित हुई है। अपने समाजगत जीवन में अनुभवों को मानव ने जिस समय जिस रूप में पाया था, गुफाभित्तियों के कॅनवास पर अंकित किया। समकालीन स्थिति में अनुभूत भावों की आलोडित स्थिति की व्यंजना के दर्शन प्राचीन कला में स्थान-स्थान पर होते हैं।

भाषा के संस्कार एवं विकास के बाद वही माध्यम ग्रहण कर मानव ने अपनी गहनतम भावसंपत्ति को भाषिक अभिव्यक्ति दी एवं साहित्यसर्जना की। इस प्रकार प्रकृति एवं समाज की सापेक्षता में अनुभूत तथा विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं से उद्‌बुद्ध भावावेगों की अभिव्यक्ति विभिन्न काल की कला और साहित्य में हुई है। भावों की परिवर्तनशीलता, विकास एवं प्रच्छन्नता के बावजूद रागात्मक स्तर पर मानव के भाव-विश्व ने काव्य में अभिव्यक्ति पायी है, और गोचर रूप धारण कर लिया है।

रससिद्धान्त का मूल आधार भाव ही है। रससूत्र ("विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।") में भरतमुनि ने स्थायी भाव और संचारी भावों की योजना को महत्त्व दिया है। साथ ही अनुभवों और सात्विक भावों के अभिव्यंजित रूप को भी महत्ता दी है। भाव के कारणों के रूप में विभाव की स्थापना की है। सामाजिक सन्दर्भ से विचार करने पर प्रतीत होता है कि भावादि की इस स्थापना में भावोन्मेष एवं विकास की प्रक्रिया का पूर्णत्त्व है।

रससिद्धान्त में भावों की योजना एवं स्थापना में भारतीय समाज की चेतना का प्रतिबिम्ब झलकता है। **आचार्य शुक्ल** ने भाव के विषय में कहा है, "भाव ही कर्म के मूल प्रवर्तक और 'शील' के संस्थापक हैं।"[१] भारतीय मनीषा समाज में भावों की स्थिरता को हित-रक्षा और शील एवं चारित्र्य के आदर्शानुरूप मानती है।

१. रसमीमांसा, पृ १६१.

रससिद्धान्त में रति, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, हास्य, शोक, विस्मय, भय और शम आदि नौ स्थायी भावों को स्वीकार किया गया है। उसमें रसों का गौणत्व–प्रधानत्व एवं भाव का क्रम, भारतीय समाजविकास के संस्कार एवं विचारधारा के अनुरूप स्थिर हुआ है। मानव-जीवन विकास में किसी भाव का उदय प्रथम होने पर भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में सामाजिक श्रेय की दृष्टि से गौण-प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है। सब से प्रधान स्थान रति को (शृंगार रस को) दिया गया है। वस्तुतः विकासक्रम में आदिम भाव भय होते हुए भी जीवनादर्श दृष्टि से वह गौण ही माना गया है, अतः भय को गौण या उपरस का स्थान प्राप्त हुआ। सामाजिक एवं नैतिक नियमों ने सब से अधिक महत्ता परिष्कृत काम को दी और शृंगार को रसराज माना गया। रति मात्र लैंगिकता या भोग का प्रतीक नहीं; बल्कि जगत के संभरण का मूल उत्स है। अतः भारतीय चिंतन में मिथुन को शुभ एवं पवित्र रूप में ही माना गया है।[1] इसकी विस्तारपूर्ण चर्चा पाँचवें अध्याय में की गई है। रससिद्धान्त में अग्रस्थान प्राप्त होने का कारण उस के इस महत्त्व में ही निहित है। स्त्रीपुरुषहेतुक कहने में अनौचित्य नहीं; बल्कि रति को शुभ्र, उज्ज्वल, शोभादायी माना गया है तथा उसकी व्यंजना भी कुलीन पात्र में की गई है। मानव की सौंदर्यात्मक वृत्ति रसिकता, स्नेह, सौंदर्याकर्षण और द्वैत की स्थिति ने ही तो जगजीवन का निर्माण किया है। सौंदर्य एवं आकर्षण के कारण अपने जीवन को सुन्दरतम, परिष्कृत और विकसनशील बनाने में वह सफल हुआ है, अतः सौंदर्य के दर्शन का प्रतीक रति को माना गया है। फ्राइड जैसे मनोवैज्ञानिक भी रति को ही जीवन का आदि स्रोत मानते हैं। अतः प्राचीन काल से आज तक वह सर्वमान्य है।

केवल सौंदर्याकर्षण की महत्ता उसके जीवनसंस्कार के लिये पर्याप्त नहीं, उत्साह एवं आवेशपूर्ण कार्यों ने व्यक्तित्व को सफल एवं पूर्ण बनाया है। वीरत्व की व्यंजना में व्यक्तित्व के आदर्शात्मक पहलू का अंकन भारतीय परम्परा को उज्ज्वल बनाये हुए हैं। अतः स्थायी भावों में उत्साह का द्वितीय स्थान है। क्रोध के साथ आरंभिक स्थिति में आक्रमणकारी वृत्ति, आवेश या उमंग तथा उत्साह के दर्शन होते हों, परन्तु वीरत्व में त्याग, उत्साह और कठिन कार्य की पूर्ति की महत्ता होती है। क्रोध की अपेक्षा उत्साहादि की महत्ता संस्कारशील समाज में अधिक प्रमाणित हुई। आचार्य शुक्ल उत्साह को 'शीलदशा' कहते हैं। उत्साह के पूर्व क्रोध और भय के भाव मनुष्य में उदित हुए। परंतु सामाजिक सन्दर्भ में वे क्रमशः अविवेक और कमज़ोर व्यक्तित्व के परिचायक होने से गौण ही माने गये और क्रम की दृष्टि से भयानक को तो उपरस का स्थान प्राप्त हुआ। मनुष्य के संस्कारशील जीवन-विकास के प्रवाह में सामाजिक सापेक्षता में क्रोधपर नियंत्रण रखना उचित माना गया

१. साहित्यविचार, पृ. ३०.

है और विकास के साथ अविवेकी क्रोधाभिव्यक्ति पर संयम पाने की लालसा संस्कार का लक्षण माना गया। क्रोध को मुख्य रसों में स्थान दिया गया है । परंतु उसके आश्रय राक्षसादि बहुमुख बहुबाहवः बनने में शील के हीनत्व का संकेत मिलता है।

मनुष्य में जुगुप्सा केवल सौंदर्यानुभूति एवं संस्कारों के अपनाने के पश्चात् उत्पन्न हुई है। इस दृष्टि से देखा जाय तो जुगुप्सा का आरंभ संस्कार और समाज की सापेक्षता में होने से यह भाव काम्य नहीं है। सामाजिक दृष्टि से अत्यंत गौण और शीलपक्ष की दृष्टि से हीन भाव ही है, परंतु शृंगार की सौंदर्यात्मक प्रवृत्ति से बिलकुल विपरीत, असुन्दरत्व का द्योतक है। अतः रसचतुष्टय में उसका अन्तर्भाव किया गया है।

बीभत्स के गौणत्व एवं हीनत्व को लक्षित कर रसमालिका से हटाने का प्रस्ताव आधुनिक आलोचकों ने किया है। इसका प्रधान कारण उनकी मानसशास्त्रीय दृष्टि रही है। रसमालिका में बीभत्स को प्रधान रस का स्थान तो दिया गया परंतु काव्य में स्वतंत्र रूप से उसका अधिक महत्त्व नहीं है।

मानव जीवन विकास के आरंभिक काल में हास्य की प्रवृत्ति का विकास सीमित रहा। रसमालिका में उसे गौण एवं उपरस का स्थान प्राप्त हुआ है। कारण यह है कि सामाजिक व्यंग, विसंगति, विपरीतता और शृंगार अर्थात् शृंगार की विकृति के रूप में हास्य की उत्पत्ति मानी गयी है, अतः सामाजिक श्रेय की दृष्टि से उसे हेय माना गया। आज तक इन कारणों में पर्याप्त अंतर आता गया है, परंतु कहीं भी सौंदर्य तथा औचित्य की विपरीतता एवं विकृति हास्य का निदर्शक होती है।

अद्‌भुत भाव संस्कार प्राप्ति एवं सभ्यता के साथ उत्तरोत्तर कम होता गया। मनुष्य की उदात्तता, महानता और वीरत्व आदि के दर्शन से विस्मय जगना संस्कार-शीलता का ही लक्षण है। अतः रसमालिका में अद्‌भुत को उपरस का स्थान भले ही प्राप्त हुआ हो, परंतु उसका वर्णन सामाजिक श्रेय एवं संस्कारशीलता की दृष्टि से उच्च ही है। वीरत्वव्यंजक महान कार्यों में वीरत्वदर्शन से लोकोत्तर असाधारणत्व के प्रति आश्चर्य की अनुभूति भी संस्कारशील व्यक्ति का एक भाव है, अतः सामाजिक दृष्टि से अद्‌भुत की महत्ता अवश्य है, परंतु स्वतंत्र रूप में उसका महत्त्व उतना नहीं है।

रससिद्धान्त में भावों के उदित होने के कारणों को विभाव कहा गया है। विभाव शब्द का अर्थ है विज्ञान। कारण, निमित्त, हेतु का यह पर्याय है। इसका अर्थ विभावित करना, निश्चित ज्ञान किया जाना है अर्थात् लोक में जो-जो पदार्थ हैं, लौकिक इत्यादि भावों के उद्‌बोधक हुआ करते हैं, काव्य में वे ही विभाव कहलाते हैं।[1] विभाव दो प्रकार के माने गये हैं—आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव। विभाव भाव के कारण अथवा प्रेरक होते हैं। वे भी नित्य परिवर्तनशील होते हैं। विभाव भले ही

१. भरत का नाट्यशास्त्र, पृ. ४०९.

बदल जाय, परंतु हर समय भाव के लिए किसी विभाव की आवश्यकता तो होती ही है। अतः रससूत्र में विभाव को विशेष महत्ता दी गई है।

जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ मनुष्य की अनुभूतियों में अन्तर आता है और तदनुरूप जीवनदृष्टि भी बदलती है तथा किसी भाव के आलम्बन भी। प्राचीन काल में लेखकों या कवियों के पास जीवनविषयक सामाजिक समस्याओं का विशेष दृष्टिकोण नहीं था। आज कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, युग की बदलती संवेदनाएँ मानवजीवन में नित्य नयी सम्मिश्र अनुभूतियाँ जगाती हैं। भावों के स्वरूप, नयी अनुभूतियों और संवेदनाओं आदि सभी पर युगीन जीवन की धारणा और देशकालस्थिति का प्रभाव पड़ता है।

काव्य के आलम्बन और उद्दीपन विभाव में अंतर आने के उपर्युक्त दो कारण हैं। देश या समाज की स्थिति, परम्परा एवं संस्कार के कारण अनुभूति में कभी-कभी अधिक प्रभाविता तो कभी-कभी न्यूनता आती है। समय-समय पर सामाजिक भाव स्थितियाँ बदलती हैं। नीतिविषयक धारणाओं, पापपुण्यादि कल्पनाओं, और जीवनविषयक दृष्टियों में अंतर आता है। सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों में परिवर्तन आता है। फलस्वरूप लेखक में नयी प्रेरणाएँ एवं संवेदनाएँ जगती हैं और काव्य में अभिव्यक्ति पाती हैं। इसी के फलस्वरूप विभावों में समय-समय पर अंतर आना स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

पहले किसी उज्ज्वल एवं पवित्र व्यक्ति में रति की व्यंजना की जाती थी। आगे चलकर केवल व्यक्ति ही नहीं, बल्कि प्रकृति, अज्ञात प्रिय और अमूर्त वस्तु में भी रतिव्यंजना की जाने लगी। विकृत वेश, अलंकारादि और आचरण की विकृतियों के कारण आरम्भ में भट, ब्राह्मण, विदूषक अथवा कंजूस हास्य रस के आलंबन थे। फिर कायर व्यक्ति हास्य के आलम्बन बने और भक्तिकाल में ढोंगी साधु, रीतिकाल में पेटू वैद्य, खटमल, अत्याचारपरायण व्यक्ति आदि आलम्बनों को स्वीकार किया गया। आज शोषक-उत्पीडक, टैक्स, घूस, भूखमरी, अकाल, परतंत्रता, डॉक्टर, वकील, नेता, मिनिस्टर, कवि, क्लर्क, फैशनपरस्त नवयुवक, पत्रकार, अधकचरे साहित्यकार आदि कई नये आलम्बनों का उदय हुआ है। पतिपत्नी, समाज, प्राचीन रूढि, बेकारी, विदेशी सभ्यता आदि के संदर्भ में हास्य की व्यंजना होती है।

वीर रस के आलम्बनरूप में शत्रु या प्रतिस्पर्धक को ग्रहण किया जाता था। अब प्रतिस्पर्धी के साथ विरोधी वर्ग आदि तो है, परंतु समाज में अत्याचारी, शासक, राष्ट्रद्रोही पूँजीपति, शोषक सामन्त, साम्राज्यवादी और समाज के उत्पीडक आदि के प्रति उत्साह एवं वीरत्व का भाव जाग्रत होना व्यंजित है। युद्धवर्णनों में ही क्रोध का आलम्बन शत्रु होता था और रौद्र रस की व्यंजना होती थी परंतु सामाजिक यथार्थ, साम्राज्यविरोध और वर्गसंघर्ष के कारण क्रोध के आलम्बनों में पर्याप्त अन्तर आया है।

शोषक वर्ग, पूँजीपति, घूसखोर, सांप्रदायिक साम्राज्यवादी, आदि के साथ ही जातिवाद, रूढिग्रस्तता, आर्थिक वैषम्य, रंगभेद, जडता, अशिक्षा, भूख, बेकारी आदि भीषण परिस्थिति क्रोध का कारण बनी।

राजा-महाराजाओं की लडाइयों में नाश, पराजय, किसी सामन्त की मृत्यु अथवा युद्ध का दुःखद अन्त करुण रस को व्यंजित करने में समर्थ था। बाद में कभी अलौकिक आलम्बन भी ग्रहण किये गये। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पतन, भारतमाता की दयनीयता, पीडित वर्ग, शोषित दीन-दलित, शरणार्थी, पीडित जनता आदि कई शोक के कारण बने। फिर कभी अव्यक्त प्रियतम, महान व्यक्ति का बलिदान, जोहर जैसे प्रसंग शोक की व्यंजना के आलम्बन बने।

मांस, विष्ठा, दुर्गंधयुक्त पदार्थ आदि के स्थानपर बीभत्स रस (जुगुप्सा) के लिए नये आलम्बन ग्रहण किये जाने लगे। जुगुप्सा भाव को समाजविकास एवं परिवर्तन के क्रम में मानसिक स्तर प्राप्त होनेके कारण उसके आलम्बनों में अपने–आप अन्तर आया। आज मानसिक धरातल पर जुगुप्सा का ग्रहण करते हुए मानसिक घृणा उत्पन्न करनेवाले सभी कारण उसके आलम्बन बने हैं। वर्तमान पूँजीवादी समाज, अत्याचारी, घृणित आचरणवाला व्यक्ति, घृणित कार्य, रूढ परंपराएँ, रीतिरिवाज, देशद्रोही, झूठ, पाखण्डी, लम्पट, दुष्ट, रिश्वतखोर, स्वार्थी, व्यभिचारी, शोषक आदि कतिपय नये आलम्बन स्वीकृत किये गये हैं।

इन सभी बदलते हुए आलम्बनों को देखने पर यह मान्य करना पड़ता है कि भावों, विभावों तथा अनुभावों में जीवन की परिस्थितियों की सापेक्षता में अन्तर आता है। जीवन की परिवर्तित स्थिति के साथ नित्य नये विभावों को ग्रहण किया जाता है। अतः अमुक रस या भाव के लिए अमुक आलम्बन-उद्दीपन होते हैं, ऐसा निश्चिततः कहना कठिन हो जाता है। भावों के आलम्बन स्थायी रूप से निश्चित नहीं माने जा सकते। साथ ही जिस सन्दर्भ में उनको स्वीकार किया गया है, उस सन्दर्भ के अनुकूल विभावादि की योजना एवं संगठन करना पडता है। काव्यगत सन्दर्भ के अनुकूल विभावादि की योजना एवं संगठन ही काव्य में रसानुकूल बनता है और वही कलात्मक औचित्य है। अतः किसी भाव के उदय के लिए कोई एक कारण या वातावरण निश्चित रूप से स्थिर करना कठिन और असम्भव है। देश, काल, स्थिति और सन्दर्भ के साथ आलम्बत और उद्दीपन विभावों तथा अनुभावों में अन्तर आता है। विभावादि की रचना और संगठन के अनुकूल रसनिर्मिति हो सकती है।

इसी प्रकार का विचार **इलियट** के ऑब्जेक्टिव्ह कोरिलेटिव्ह में प्रतिबिम्बित हुआ दिखाई देता है। इलियट के अनुसार कला में संवेदना या मनोविकार की अभिव्यक्ति केवल वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता से सम्बन्धित है। वस्तुरूप प्रतिरूपता (objective corelative) की उसकी परिभाषा में उसने स्पष्ट किया है कि "कला के रूप में

भावना की अभिव्यक्ति का एकमात्र मार्ग वस्तुनिष्ठ है। अर्थात् वस्तुसमुदाय, परिस्थिति और घटनाओं की शृंखला से भावविशेष का एक नियोजित सूत्र है, ताकि ये बाह्य तत्त्व, जिनकी परिणति मूर्त मानस अनुभव में हो जाती है, व्यक्त करनेपर तुरन्त भावोद्रेक हो जाता है।"[1] हिन्दी के कुछ विद्वानों ने इलियट के वस्तुनिष्ट प्रतिरूपवाद के साथ भरतमुनि के विभाव, अनुभावादि के संयोग से रसनिष्पत्ति के रससूत्र का सम्बन्ध जोडने का प्रयास भी किया है।[2] **डा. रामरतन भटनागर** रससिद्धान्त के विभावादि से उसका सम्बन्ध जोडते हैं। परंतु उसकी कमी का उल्लेख करते हुए इस सन्दर्भ में आपने लिखा है, "बहिर्गत आवेग और अन्तरंगी रसस्थिति में सम्पूर्ण साम्य हैं जो इस सूत्र से प्रकट होता है, ऐसा इलियट का मत है। परन्तु **इलियट** "संयोग" और "निष्पत्ति" की व्याख्या में नहीं पडते, जो भिन्न रससृष्टियों का निर्माण करती है। आवेगों की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये कवि या कलाकार कैसे उपयुक्त और सार्थक प्रतिरूप खोज लेता है, इसकी विवेचना इलियट ने नहीं की है।"[3] उस फार्मूला में आलम्बन (A set of objects), उद्दीपन (Situation) और अनुभवादि (A chain of events) के होने की झाँकी मिलती है। परंतु रससूत्र की पूर्ण व्याख्या इलियट की वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता के आधार पर नहीं की जा सकती। केवल तुलना के लिये यह निर्देश किया जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में कहना हो तो रससूत्रान्तर्गत भाव-विभाव-अनुभाव आदि की व्याख्या का प्रयास मनोविज्ञान की भित्ति पर करने की अपेक्षा मानव के सामाजिक जीवनविकास के सन्दर्भ में करना उचित है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में विभिन्न स्थितियों में विभिन्न भावों के विकास एवं परिवर्तन की कल्पना आती है। सामाजिक श्रेय की दृष्टि से ही समाज में कुछ भावों को स्थिरता एवं प्रधानता प्राप्त हुई और कुछ भावों को गौणता। भावों, विभावों और अनुभवों में सामाजिक परिवर्तन की सापेक्षता में निरन्तर अन्तर आता रहा है।

---

१. The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an objective corelative, in other words a set of objects, a situation, a chain of events which shall be a formula of that particular emotion such that when the eternal facts which must terminate in sensory experiences are given, the emotion is immediately aroused.

—Selected Essays, P. 124.

२. अनुसंधान और आलोचना, पृ. १२८; मूल्य और मूल्यांकन, पृ. १२९.

३. मूल्य और मूल्यांकन, पृ. १३०

तृतीय अध्याय

सामाजिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में रसचर्चा का विकास

भारतीय काव्यशास्त्र में रससिद्धान्त का सूत्रपात एक महत्त्वपूर्ण घटना है। ईसा पूर्व २०० के लगभग भरतमुनि ने प्रथमतः नाट्यशास्त्र में रससिद्धान्त की शास्त्रीय रूप में प्रतिष्ठा की। तब से लेकर आज तक लगभग दो सहस्र वर्षों का यह चर्चाप्रवाह, नदी के प्रवाह के समान अखण्ड रूप से प्रवहमान है।

आचार्यों ने शास्त्रीय दृष्टि से रससिद्धान्त की पर्याप्त चर्चा की है। सामाजिक दृष्टिकोण भी उस चर्चा का दूसरा पक्ष हो सकता है। विभिन्न युगों से गुज़रते हुए रससिद्धान्त पर कई समसामयिक परिवेशगत प्रभाव अंकित हुए हैं। समसामयिक राजनीतिक स्थिति, सामाजिक व्यवस्था, सांस्कृतिक परिवर्तन, धर्म और नीति की कल्पनाएँ एवं साहित्य सर्जन के साथ ही कला एवं दर्शनविषयक दृष्टि का भी प्रभाव रहा है। दिखायी यह देता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से रसचर्चा का विकास समग्र सामाजिक विकास का ही अंग है। इस अध्याय में हम सामाजिक परिवेश के संदर्भ में रसचर्चा के विकास एवं ऐतिहासिक क्रम को परखने का प्रयत्न करेंगे।

रसचर्चा को ऐतिहासिक रूप में प्रस्तुत करना हो तो उसका विकासक्रम इस प्रकार प्रदर्शित होगा :

भरतपूर्वी रसचर्चा एवं भरत का रससिद्धान्त

(लगभग ई. पू. २०० तक)

भारतीय इतिहास में यह काल शक, हूण, सातवाहन शासकों का रहा है।

↓

६०० ई. से ८५० ईसवीतक

भामह, दण्डी आदि आचार्य	भरत के टीकाकार
(काव्यवादी धारा)	नाट्यवादी आचार्य

(भारतीय इतिहास में गुप्त एवं हर्षवर्धन शासनोत्तर काल है।)

↓

८५० ई. से ११५० ई. तक

(आनन्दवर्धन से अभिनव गुप्ततक)

(यह काल मध्यकालीन सामन्तवादी शासन का है ।)

↓

११५० ई. से १७०० ई. तक

संस्कृत पण्डितों की परम्परा | गौडीय वैष्णव भक्त परम्परा

(विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ)

(इस काल में भारतीय समाज मुसलमानों एवं मुगलों के शासनाधीन था ।)

↓

१७०० ई. से १९०० ई. तक

हिन्दी और अन्य भाषाओं में काव्यशास्त्रीय विकास

(इस समय देश में मुगल सत्ता का ह्रास हुआ तथा देश अंग्रेज़ों के शासनाधीन हुआ ।)

↓

१९०० ई. के पश्चात्

आधुनिक रसचर्चा

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम-नवनिर्माण युग-(रिनेसॉ)

↓

रसवादी | समन्वयवादी | रसविरोधी

सूत्रपात-भरतमुनि के पूर्ववर्ती एवं भरत का रससिद्धान्त :

विकास का प्रथम चरण—

भरतमुनि के काल के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद होते हुए भी सूत्र, भाष्य एवं कारिकादि शैली के प्रकाश में अधिकांश विद्वानों को उनका समय ई. पू. २०० से ई. प. २०० तक मान्य है ।[1] भारतीय इतिहास में यह काल मौर्य साम्राज्य के पतन और गुप्त साम्राज्य के उदय के बीच का काल रहा है । इतिहासकारों ने इस काल को अंधकारपूर्ण काल कहा है, परन्तु राजनीति, कला, संस्कृति और साहित्य की स्थिति के सन्दर्भ में यह विचार पूर्णतः सही प्रतीत नहीं होता । इस काल को संधिकाल कहा जायेगा ।

१. संस्कृत साहित्यशास्त्राचा इतिहास पृ. १५

मौर्यों के पतन से लेकर गुप्तों के उत्थान तक का समय भारतीय इतिहास में अंधःकारमय रहा है। मौर्य साम्राज्य के ध्वंस (१८० ईसवी) के फलस्वरूप राजनीतिक केंद्रीय सत्ता का अस्तित्व नहीं था। शक, कुशाण, हूण, पह्लव, कण्व, आंध्र, शुंग, सातवाहन आदि बाहरी शासकों का शासन स्थापित हो चुका था। बाहरी सत्ता की इतनी महान विजय होने से राजनीतिक अराजकता का साम्राज्य फैलना सहज संभव था। इसके फलस्वरूप भारत में प्रथम बार एक महान आंतरसांस्कृतिक स्थिति इस काल में उत्पन्न हुई थी। सामन्तवाद (feudalism) के कारण राजनीतिक स्थिति में धूमिलता उत्पन्न हुई थी। प्रत्येक शासक अपनी सीमाओं की रक्षा एवं विस्तार में उलझा था और उसी स्पर्धा में जुटा था। सामन्तीय शासकों (feudal empire) के रूप में अनेक नयी शक्तियाँ बाहर से आईं, जिसके कारण भारतीय धर्म, कला आदि सभी पर उनका प्रभाव पडा है। सामन्तवाद की अधिकता ने परस्पर होड़, द्वेष, स्वार्थवृत्ति, आक्रमणशीलता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देकर जीवन को अनिश्चित एवं अशांत बनाया था। राज्यविस्तार एवं आत्मरक्षा में लगे रहने के कारण राजा और जनता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा। उनके हितों के प्रति राजा सतर्क नहीं थे, फिर भी युगीन जीवन, साहित्य, सभ्यता एवं कला पर सामन्ती वातावरण ने अपना प्रभाव अवश्य डाला।

आलोच्य काल के पूर्ववर्ती काल में बौद्ध धर्म को राजाश्रय प्राप्त होने के कारण उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी थी और उसने समाज, साहित्य, कला और जीवन में निवृत्ति परकता की झलक ला दी थी। इस काल में अधिकांश शासकों की वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा होने के कारण बौद्ध धर्म उनकी छत्रछाया से दूर रहा और वैदिक धर्म में धार्मिक पुनरुत्थान की स्थिति उत्पन्न हो गई। बुद्धदेव और उनके अनुयायियों ने ब्राह्मण धर्म को झकझोरकर उसकी जड़ता तोड डाली और बौद्ध क्रांति की जो शिक्षाएँ अत्यावश्यक दीख पडीं, उन्हें ग्रहण करके ब्राह्मणत्व एक बार फिर नवीन हो रहा था। ब्राह्मणत्व के इस संशोधित और नवीन रूप का युग गुप्त काल ही माना जाता है, किन्तु वस्तुतः इसका आरंभ ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व मानना चाहिये। असल में इस प्रक्रिया के प्रमाण मौर्य-वंश के पतन के बाद दिखलाई पड़ने लगे।

इस स्थिति के विषय में **राधाकुमुद मुखर्जी** लिखते हैं, "शुंग काल में ब्राह्मण परम्परावादिता का पुनरुत्थान इसके लक्षण हैं—वैदिक धार्मिक कृत्यों, संस्कारों, पुरोहितवाद और ब्राह्मण-आधिपत्य की पुनःप्रतिष्ठा, कृष्ण भागवत धर्म का उदय तथा बौद्धों को दण्डित करना।"[1] वैदिक धर्म के यज्ञादि को स्वीकार न करने के कारण अवतारवाद के प्रभाव स्वरूप नये देवताओं का उदय हुआ।

१. भारतीय संस्कृति और कला, पृ. ११५.

बौद्ध और जैन धर्मों के द्वारा की गई बौद्धिक क्रांति के बावजूद भी समाज के व्यावहारिक जीवन में आश्रम एवं वर्णव्यवस्था बनी रही थी। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में चार पुरुषार्थों और पुनर्जन्मसिद्धान्त की प्रतिष्ठा थी। वर्णों में ब्राह्मण और क्षत्रिय उच्च माने जाते थे। मनुस्मृति के वचनों से प्रमाण मिलता है कि स्त्री का स्थान उच्च होकर भी धार्मिक कार्यों में उसे विशेष अधिकार नहीं था एवं सामाजिक परिवेश में उसका अधिक विकास नहीं हुआ था। समाज में दासप्रथा का अस्तित्व था और कर्मविभाजन में शूद्रों के लिए परसेवा का कार्य नियत किया गया था।

तत्कालीन व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का यथातथ्य चित्र कामसूत्र के वर्णन-द्वारा उपस्थित होता है। यद्यपि कामसूत्र और मनुस्मृति के काल में कुछ अंतर है और उनसे भरत के काल में भी कुछ अंतर हो सकता है, फिर भी भरतकालीन सामाजिक स्थिति की कल्पना करने में उससे सहायता अवश्य मिलती है। तत्कालीन नागरी जीवन अत्यंत संपन्न, सुखी एवं संस्कृत था। आर्थिक सम्पन्नता के साथ ही सांस्कृतिक उच्चता के दर्शन भी तत्कालीन विदग्ध गोष्ठियों द्वारा होते हैं। (इन गोष्ठियों के स्वरूप तथा विशेषताओं का विस्तार से विवेचन अन्य अध्याय में किया गया है।) स्थायी नाट्यशालाओं के होने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।[1] भारतीय सांस्कृतिक विकासक्रम में वैदिक संस्कृति की विरासत के साथ बाहरी संस्कृति का मिलन हो रहा था। प्राचीन परम्परा के आधार पर कुलीन आदर्श की प्रतिष्ठा थी।

पाणिनि का व्याकरण, पतंजलि का महाभाष्य, आयुर्वेद के चरक–सुश्रुतादि ग्रंथ, अथर्ववेद, कामसूत्र, छंदशास्त्र, कौटिल्य का अर्थशास्त्र आदि के साथ मनुस्मृति, ब्राह्मणों और पुराणों का निर्माण हो चुका था। इन सारे ग्रन्थों का प्रभाव भरतकालीन काव्यचर्चा पर दिखाई देता है। उस समय तक भास और अश्वघोष ने बुद्ध धर्म को स्वीकार करके और बौद्ध प्रसंगों को भाषा का अधिकार एवं काव्य की विकसित शैली प्रदान की थी। उसके नाटक अधिकतर बौद्ध दर्शन के प्रभाव में लिखे गये थे।[2]

तत्कालीन जीवन में कलासंपन्नता में व्यक्तित्व की गरिमा मानी जाती थी। नाट्यकला, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि विभिन्न कलाएँ उन्नत स्थिति तक पहुँच चुकी थीं। सांची, भरहूत, गांधार आदि स्थानों पर चित्र और शिल्प द्वारा अंकित मूर्तियों में, मथुरा, अमरावती तथा अजंता की शिल्पकला और मूर्तियों के सुन्दर अंकन में, विभिन्न मुद्राओं (gestures), भंगिमाओं (poses) और भावस्थितियों में

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ. ११, ३५
History of Sanskrit Literature, P. 45
स्वतंत्र कलाशास्त्र, पृ. ४०

२. History of Sanskrit Criticism, pp. 74, 76.

तत्कालीन परिष्कृत सौन्दर्यचेतना के दर्शन होते हैं ।[१] गौतमबुद्ध की मूर्तियों में तत्कालीन संस्कृत एवं परिष्कृत कलादृष्टि संचित है । तत्कालीन सारी कलाओं की मूल भित्ति धार्मिक और आध्यात्मिक रही है और कलाओं को धार्मिक व्रतों और उत्सवों में अनिवार्यतः स्वीकार किया गया था । कामसूत्र में कला की उपयोगिता पापप्रक्षालनार्थ बताई गई है । यदि कलाओं का धार्मिक आवरण छूट जाता था और वे नितान्त मनोरंजनार्थ बन जाती थी तो हीन मानी जाती थी । अतः तत्कालीन समाज में विट, नट, विदूषक, आदि व्यावसायिक कलाकारों को हीन माना जाता था ।[२] **कौटिल्य** ने अपने "अर्थशास्त्र" में नट का उल्लेख वेश्या के साथ किया है ।[३] **मनु** ने कला को केवल कामज कहा है, "कामजो दशमो गणः ।"[४] तत्कालीन समाज में महाकाव्यों की लोकप्रियता थी और उनकी कथाएँ कहनेवालों की परम्परा भी थी ।

ऐसे समाज के सदस्य भरत, निश्चित रूप से नाट्य की शास्त्रीय परम्परा, प्रयोगशीलता एवं साहित्यिकता से भली-भाँति परिचित थे । परम्परा के ग्रहण के साथ उसकी स्वतंत्र प्रज्ञा ने तत्कालीन सामाजिक परिवेश से चेतना ग्रहण कर नाट्यशास्त्रान्तर्गत रससिद्धान्त की स्थापना की ।

भरत ने चार वेदों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए पाँचवें वेद की स्थापना की । ऋग्वेदसे पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय, अथर्ववेद से रसों को ग्रहण करने का उल्लेख है ।[५] नाट्यशास्त्र के कई उल्लेखों से उस पर वेदों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । पूर्ववर्ती बौद्ध-जैन धर्म के प्रभाव से बचकर भरत ब्राह्मणधर्म परम्परा का पुनरुत्थान करने की आकांक्षा रखनेवाले थे । अपनी समकालिक धार्मिक उथलपुथल से प्रेरणा ग्रहण करके ब्राह्मणवादी विचारधारा से युक्त उन की दृष्टि रससिद्धान्त की स्थापना में व्यक्त हुई है । वे ब्राह्मणत्व-परम्परा के आचार्य होनेके साथ ही सुधारवादी वृत्ति के भी थे । ब्राह्मणश्रेष्ठत्व से परिपूर्ण वर्णपद्धति के हिमायती होते हुए भी, शूद्र और स्त्री आदि को वेदपठनादि का अधिकार न होना उन की सुधारवादी विचारधारा को मान्य नहीं हुआ, अतः पाँचवें वेद की रचना करके सब वर्णों के लिये अर्थात सर्वसाधारण के लिये उन्होंने वेद का द्वार खोल दिया । पाँचवें वेद के निर्माण के लिये चार वेदों से सामग्री ग्रहण करने में उनका परम्पराभिमान, नवमतवादिता और उदार विचारधारा का परिचय प्राप्त होता है । यह पाँचवाँ वेद अपौरुषेय, अलौकिक और सीमित जन के लिये नहीं, बल्कि जनसामान्य, शिक्षित-अशिक्षित सब के लिए है ।

१. अजंता की बोलती तसबीरें पृ. ३८, ६०, ७१.
२. प्राचीन भारतीय कला, पृ. ६५
३. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधि. ११, प्र. १६०.
४. मनुस्मृति ७, ४७.
५. नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय

परंतु स्वयं इस दृष्टिकोण को अपनाने की प्रतिज्ञा करके इसी हेतु से प्रेरित होते हुए भी, भरतमुनि की धर्म की कट्टरता एवं परम्परावादिता की झलक कहीं-कहीं दिखायी देती है। नायकों की स्थापना, उनके भेद, विशेषता आदि पर दृष्टिपात करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। तत्कालीन समाज में ब्राह्मण और क्षत्रिय उच्च माने जाते थे। मनुष्यजीवन के व्यवहार की कुलीनता का आदर्श उच्चवर्ण ही होता है, अतः भरत ने केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के, उच्च संस्कृति के वीर उदात्त, आदर्श (ideal) नायकों को ही प्रतिष्ठा दी है। धीरललित, धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरोद्धत आदि चार प्रकार के नायकों तथा नायिकाभेद के वर्णनों में ब्राह्मणवादी उच्चवर्णीय दृष्टि स्पष्ट होती है, साथ ही सामन्तवाद के प्रति आस्था व्यक्त होती है। रसों के लक्षणों में भी वही विशेषता मिलती है। इस प्रकार भरत की प्रतिज्ञा और स्थापना में कुछ विरोधाभास (paradox) प्रतीत होता है। भरत का आदर्श तत्कालीन उच्चभ्रू नागरिक, सामन्त अथवा अभिजात नायक और उसी प्रकार का उच्च जीवन (high class level) था। उसीको स्वीकार करते हुए भरत ने अपनी स्थापनाएँ की हैं। वीर शृंगारादि रसों को विशेष प्रधानता दी है। तत्कालीन संपन्न जीवन में शृंगार की महत्ता रही होगी। इन रसों के आलम्बन, आश्रय नायक-नायिका उच्च कुल के माने गये हैं, शूद्र या ग्रामीण नहीं।

सामाजिक धर्मनिष्ठता के कारण भरत की स्थापना में नाट्य को भी धार्मिक भित्ति दी गई है। इस वेद की निर्मिति ब्रम्हा द्वारा होना, प्रयोग के लिये भरत की नियुक्ति, देवासुर संग्राम की कथा आदि सारी बातों की योजना की पृष्ठभूमि में आस्थापूर्ण धार्मिक वातावरण सूचित होता है। **श्री. बेडेकर** ने यज्ञ की कथा, देवासुर-संघर्ष की पराकथा (myth) का उल्लेख किया भी है।[१] इसमें मूलतः भरत की धार्मिक आस्था, पुरुषार्थचतुष्टय में उनकी श्रद्धा एवं वैदिक परम्परा के प्रति निष्ठा व्यक्त होती हैं।

नाटक को "क्रीडनक" कहकर उसके प्रयोग के महत्त्व, अभिनेता की प्रतिष्ठा, अभिनय के प्रभाव द्वारा रसनिष्पत्ति आदि की चर्चा भरत की प्रयोगशीलता एवं व्यवहारवादिता को ही स्पष्ट करती है। प्रयोग या कार्य को महत्ता देने में उन्होंने व्यवहारवादी दृष्टि अपनायी है। रंगमंचीय परिवेश को यथार्थवादी दृष्टि देकर देवासुरयुद्ध की पराकथा द्वारा नाटक का प्रयोजन भी सामाजिक ही बताया है। अभिनय और मुद्रादि में सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का अनुकरण करने में, तथा कथावस्तु में सामाजिक समस्याओं को गूँथने में भरतमुनि नाट्य को समूहजीवन का दर्पण मानते

१. साहित्याविचार, पृ. २७

हैं। इस प्रकार समाज रंगमंच की कल्पना ग्रहण करने में उसकी यथार्थवादिता स्पष्ट होती है। वेदाध्ययन के अनधिकार के विरुद्ध कर्मकाण्ड तथा संकीर्णता के दायरों को त्यागकर सब के लिये नाट्य का विधान किया गया था। इस प्रकार लोक-रंगमंच की स्थापना के द्वारा लोकपक्ष ग्रहण कर मानवसत्य को चित्रित करनेवाले सार्वजनिक वेद-प्रमाण प्रस्तुत करने में भरत की व्यापक सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि व्यक्त होती है। ब्रह्मा द्वारा पाँचवें वेद के निर्माण की कथा के रूप में नाटक का प्रयोजन बताने में भी उनके सामाजिक सुधारवादी विचार निहित हैं।[१]

अर्थात् लोकानुकरण एवं लोकपक्ष का ग्रहण अभिनय, मुद्रा, वृत्ति आदि सारी बातों को लोकपक्ष के रूप में ग्रहण करते हुए भी रससिद्धान्त की स्थापना में उसके भावों, विभावों, अनुभावों आदि में तत्कालीन सांस्कृतिक, सामाजिक और सामन्तवादी झलक मिलती है। चार रसों के ग्रहण में जीवन की सुरूपता के साथ कुरूपता, सत् के साथ असत् तो हैं पर अन्य सामग्री (आलम्बन, उद्दीपन आदि सब) अर्थकामी, सामन्तीय एवं उच्चवर्णीय संस्कृति के दर्शन कराती है। स्त्री, शूद्र, मूर्ख को हास्य के आलम्बन मानने में भरत का हेतु कुलीनता तथा आदर्श की रक्षा करना जान पडता है। जहाँ वे समाज के यथावत् ग्रहण और अनुकरण में हर स्तर के स्वीकार की वृत्ति अपनाते हैं, त्रैलोक्य में जो कुछ है, उसका अनुकरण करने का विधान करते हैं, वहाँ राष्ट्रीय वृत्ति में ब्राह्मणधर्म की स्पष्ट सी झलक है। रंगमंच पर नारी की आवश्यकता को तो वे स्वीकार करते हैं, पर नायिकाभेदों पर कामसूत्र की अभिजात्य दृष्टि का प्रभाव ही बना रहा है। उच्चवर्णीय शृंगार, सामन्तों की वीरता, रणभूमि का चित्रण आदि में तत्कालीन वर्गगत जीवन का आदर्श निभाया गया है। समाज में नट, विदूषक, विटादि की क्रमशः गिरती हुई स्थिति और ग्राम्यत्व तथा हीन स्तर का संकेत "अभिशाप की कथा" में है।[२]

रस सिद्धान्त में भरत की प्रधान स्थापना रसानुभव के सम्बन्ध में है। निष्पत्ति और आस्वाद की प्रक्रिया को सूत्रमय शैली में गूँथकर उन्होंने गुड़पाक का दृष्टांत दिया है, जिस में नितांत व्यावहारिक दृष्टि है।

कुछ विद्वान भरत के रससिद्धान्त की स्थापना में किसी वेदकालीन दर्शनविशेष का अस्तित्व मानते हैं।[३] परंतु भरत ने अभिनेता और नाट्यप्रयोग को ध्यान में रखते हुए षाडवरस के दृष्टान्त से रसास्वाद की प्रक्रिया स्पष्ट की है। यह दृष्टान्त अत्यंत

१. भरत का नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय, श्लोक १२६.

२. भरत का नाट्यशास्त्र

३. रससिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या, पृ. ३०

सरल, सीधा और व्यावहारिक है। इसी प्रकार **डॉ. काणे** रससिद्धान्त को शरीर-शास्त्रीय एवं मानसशास्त्रीय भित्ति पर आधारित मानते हैं।[1] परंतु इसकी पृष्ठभूमि में स्पष्टतः आयुर्वेद का आधार होने का दावा है। इस की व्यापक चर्चा एक विद्वान द्वारा की गयी है जो उचित लगती है। वे लिखते हैं, "भरत के रससिद्धान्त की वास्तविक पार्श्वभूमि मानसशास्त्रीय नहीं है, जितनी चिकित्साशास्त्र एवं शरीरशास्त्र से सम्बन्धित है। भरत ने 'गुड़पाक' और स्वादयुक्त अन्य पेय-पदार्थों की निर्मिति से रस की उत्पत्ति की तुलना की है जो पूर्णतः वैद्यकीय अवधारणा है। वैद्यकीय चिकित्सकों में गुड़पाक नाम से प्रचलित विशेष प्रकार की निर्मिति के सम्बन्ध की चर्चा भरत द्वारा की गई है।[2]

रस प्राशन का पदार्थ है और उस के स्वाद की इंद्रिया है जिह्वा। जिह्वास्वाद प्राथमिक, सरल एवं स्पष्ट स्थिति है और हर व्यक्ति के लिए, सामान्य जन के लिए सुलभ एवं सम्भव है। अर्थात भरत ने अत्यंत व्यावहारिक स्तर और यथार्थ दृष्टिकोण से रस की निष्पत्ति और उसके आस्वाद की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है।

इस प्रकार भरत के काल में वैदिक परम्पराएँ, बौद्ध धर्म का प्रभाव, भारतीय षट् दर्शनों का विकास विद्यमान था। परंतु नये ब्राह्मणवाद के उदय के हिमायती भरत ने समाजोन्मुखी दृष्टि अपना कर रसास्वाद में सामूहिक एकात्मता और भावात्मक एकाग्रता पर बल देकर सूत्रमय शैली में रससिद्धान्त की स्थापना की।

भरत के पश्चात् काल :

रसचर्चा का विकास – द्वितीय चरण

(६०० ईसवी से – ८५० ईसवी तक) आदि मध्यकाल

भरत के पश्चात् गुप्त साम्राज्य के उदय तक का लगभग चार–पाँच सौ वर्षों का काल भारतीय इतिहास में तमोयुग रहा है। बाह्य संस्कृतियों के प्रभाववश भारत में

१. The theory of Rasa has a semi-physiological and semi-psychological basis.

—History of Sanskrit Poetics, P. 342.

२. The true background of Bharat is not so much psychological, as it is pathological or physiological...preparation of drinks, "Guda-Paka" and beverages with which Bharat compares the making of Rasa is a purely medical concept. He is only speaking of a particular kind of preparation which is known as 'गुडपाक' among medical men.

—Ramendra Kumar Sen, Historical Quarterly, March 1954.

राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन आया और अराजकता के कारण कला, साहित्य और शास्त्र का विकास नहीं हो सका। काव्यचर्चा एवं रसचर्चा का प्रवाह भी खण्डित-सा ही रहा।

भरत द्वारा स्थापित रससिद्धान्त की चर्चा का विकास भारतीय मध्यकालीन परिवेश, जीवन एवं चिंतन की छाया में हुआ। उसके विकास पर मध्यकालीन भारतीय राजनीतिक स्थिति, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन, विशिष्ट कलादृष्टि, दर्शन आदि का बहुत प्रभाव रहा है। विवेचन की सुविधा के लिए भारतीय मध्यकालीन सामाजिक इतिहास को तीन चरणों में विभक्त करके समकालिक रससिद्धान्त के विकास को उचित रूप में परखा जा सकता है। अतः मध्यकाल में (१) आदिमध्यकाल ६०० ई. से ८५० ई. तक (२) मध्यमध्यकाल ८५० ई. से ११०० ई. तक और उत्तरमध्यकाल ११०० ई. से १७०० ई. तक क्रमशः तीन विभाग किये जा सकते हैं।

पूर्ववर्ती राजनैतिक अराजकता धीरे-धीरे दूर हुई और चौथी शताब्दी के आरंभ में गुप्तसाम्राज्य का उदय हुआ। गुप्तों का एकछत्र साम्राज्य ३१९ ईसवी से ५३३ ईसवी तक था। तत्पश्चात् हर्षवर्धन के साम्राज्य में लगभग वही परम्परा बनी रही। अतः आदिमध्यकाल को विरासत के रूप में गुप्त और वर्धनकालीन संस्कार प्राप्त थे।

गुप्तसाम्राज्य के संपन्न एवं स्थिर होनेसे वह उग भारतीय इतिहास में सुवर्णयुग कहलाया। एकछत्र राज्य के प्रधान केन्द्र राजा, वीर, विद्वान, कलाप्रेमी एवं सुसंस्कृत तथा प्रज्ञावान थे। उन्होंने विभिन्न कलाओं और कलाकारों, विद्वानों तथा धर्म को प्रश्रय दिया था। गुप्त साम्राज्य के ह्रास के पश्चात् भी हर्ष के काल तक एकछत्रसाम्राज्य, आर्थिक सम्पन्नता एवं राजनीतिक शांति बनी रही। हर्ष के पश्चात् फिर भारत में भारतीयों का एकछत्र साम्राज्य कभी नहीं हुआ।

हुयेनसांग के अनुसार तत्कालीन सामाजिक स्थिति भरतकालीन स्थिति से अतीव भिन्न थी। समाज में चातुर्वर्ण्य स्थिर हो चुका था। आश्रमव्यवस्था का अस्तित्व तो था पर उसमें पहले से बहुत अन्तर आ गया था। ब्राह्मणों का बौद्धिक एवं नैतिक श्रेष्ठत्व समाज में मान्य हो चुका था। जातियों—उपजातियों के उत्पन्न होने से समाज में छुतअछूत की प्रथा दृढ हो रही थी। चाण्डाल एवं अन्य हीन जातियों का प्रचलन हो गया था। उनकी बस्तियाँ शहर से दूर और अलग होती थीं। शबर, किरात जैसे अन्य कबीले भी थे। दासप्रथा थी, पर ब्राह्मण को दास नहीं बनाया जाता था। बाल-विवाह की प्रथा तथा सती प्रथा रूढ बनती जा रही थी। अनुलोम विवाह के साथ प्रतिलोम और मिश्र विवाह का प्रचलन था। गुप्त राजाओं के अन्तर्जातीय विवाह होने का भी उल्लेख है।[1]

1. An Advance History of India, Page 560

आर्थिक स्थैर्य, शांति एवं सुव्यवस्था के साथ ही व्यवसाय स्वातंत्र्य होनेके कारण व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई। मानव का जीवन-स्तर (standard of living), रहनसहन, आभूषण, कपडे आदि उत्तम प्रकार के थे। उन में सम्पन्नता के साथ ही परिष्कृत सौंदर्यदृष्टि व्यक्त होती थी।

वैष्णव, शैव और भागवत सम्प्रदाय और वैदिक धर्म के प्रभाव में शक्ति, सूर्य, कुबेर, वरुण, हनुमान, यम, ब्रह्मा, लक्ष्मी आदि देवीदेवताओं की पूजा आरम्भ हो चुकी थी। यज्ञप्रथा अश्वमेध के रूप में शेष थी पर वैदिक धर्म की बलिपूजा आदि प्रथाएँ बन्द हो गई थीं और वैदिक देवताओं के स्थान पर नये देवताओं की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। बौद्ध और जैन धर्म से बचकर हिंदुधर्म का पुनरुज्जीवन हुआ। बौद्ध धर्म को आश्रय देने के बावजूद अन्य धर्मों के प्रति हर्ष में सहिष्णुता थी। गुप्त सम्राटों ने हिंदू धर्म को प्रश्रय देते हुए सब धर्मों के प्रति उदारता की वृत्ति अपनायी थी। अतः स्पष्ट है कि यह धार्मिक उन्नति का काल रहा है। इस समय बौद्ध धर्म में विभिन्न मतमतान्तरों का उदय हुआ था; महायान कई शाखाओं में विभक्त हो गया था और धर्म में विशृंखलता एवं हीनावस्था उत्पन्न हो गई थी।

राजनीतिक समृद्धि एवं शान्ति, राजाश्रय, सम्राटों की कलाप्रियता एवं कलाभिज्ञता के कारंण शिल्प, चित्र, वास्तु कलाओं को उन्नत स्तर प्राप्त हुआ था। शिल्पकला में संकेतवाद और निसर्गवाद से परिपूर्ण भावमयता, अर्थमयता, गांभीर्य, प्रसन्नता एवं प्रशान्तता के साथ आध्यात्मिकता का रंग चढा है। कृष्णसंप्रदाय की शिल्पकला में नर्तक-नर्तकी के कलापूर्ण चित्र अंकित हैं। शैव शिल्पों में दैवी शक्ति के द्वारा आशा, बल और सुरक्षा का भाव व्यक्त होता है। बुद्धप्रतिमा का विशेष प्रचलन होकर बौद्ध शिल्प में सद्गुण और सौष्ठव के मिश्रण से शिल्प और आध्यात्मिकता का सुन्दर संयोग हुआ है। अजंता की चित्रकला में कल्पनारम्यता और प्रमाणबद्धता के साथ आध्यात्मिकता भी ओतप्रोत है। साथ ही इस काल में शास्त्रीय संगीत को उच्च स्तर प्राप्त हुआ था। उसमें विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति और रागों की निर्मिति इसी काल की देन है।

कविश्रेष्ठ कालिदास इसी काल की देन है। उनके विभिन्न काव्य और नाटक, भारवि के नाटक आदि के साथ विष्णुशर्मा के पंचतंत्र, अमरसिंह के अमरकोश, वसुबन्धु के अभिनयकोश, वाग्भट के अष्टांगसंग्रह आदि शास्त्रीय ग्रंथों ने साहित्य को समृद्ध बनाया। छठी शताब्दी में मेधाविन, धर्मकीर्ति जैसे तर्कशास्त्रियों ने ग्रंथनिर्मिति की। प्रतिभावान कवियों की प्रज्ञा के साथ ही राजाश्रय, समाजजीवन की स्थिरता और जनरुचि का प्रभाव साहित्य पर रहा। संस्कृत भाषा के साथ पाली और प्राकृत में भी साहित्यसर्जना हुई।

इस काल में साहित्य में अभिजात्य का आना स्वाभाविक था; नायक नायिका, कथावस्तु, घटना, स्थान और चित्र सबमें सम्पन्न नागरी जीवन और राजप्रासादों का अंकन था। कवियों की प्रतिभा नाटक, काव्यादि दृश्य-श्रव्य में मुक्त रूप से संचर'

करती थी। राजदरबार में विद्वत्-समाजों और गोष्ठियों का आयोजन होता था। दरबार में कवियों की परीक्षा ली जाती थी। असफल कवि सफल भावक बननेकी चेष्टा करता था। इस समय की काव्यगोष्ठियों की विस्तृत चर्चा अन्य अध्याय में की गई है। इन कवियों के सन्दर्भ में प्रसिद्ध काव्यशास्त्री डे कहते हैं—" वे निश्चित रूप से राजदरबार से संलग्न रहते थे। संक्षेपतः उनके अपने काव्यलेखन व्यवसाय के लिए पोषक उच्च स्तरीय संपन्न जीवन बिताते थे, फिर भी यह मानना पडता है कि वे नित्य ही किसी-न-किसी धनी व्यक्ति के आश्रय में ही रहते थे।"

भारतीय षट्दर्शनों विशेष रूप से न्याय, सांख्य और मीमांसा का पर्याप्त विकास हुआ था और उन में ग्रंथरचना भी हुई थी।

गुप्तकालीन शांति और समृद्धियुक्त समाज में राजाश्रय पाकर कवियों की प्रतिभा ने कलात्मक सर्जना (creative production) की। कवियों में चिंतनपरकता कम रही, परंतु इस काल के पश्चात् जो अशांति उत्पन्न हुई, उसके कारण चिंतनपरकता विशेष बढ़ी और हर्षोत्तर काल में काव्यशास्त्रीय चर्चा का पुनः एक बार प्रारम्भ हुआ। बौद्ध धर्म की चिन्तनपरकता ने समाज को विशेष प्रभावित किया। बौद्ध तथा अन्य दर्शनों के विकास, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि शास्त्रों के चिन्तन का प्रभाव समाज के बुद्धिजीवी वर्ग पर विशेष पड़ा और इन सारे प्रभावों में पलकर काव्यशास्त्रीय चर्चा की धारा फूट पड़ी।

रससिद्धान्त की चर्चा करनेवाली दो धाराएँ इस काल में थीं। एक धारा विशेष रूप में काव्य का ही विचार करती थी और दूसरी ने नाटक अर्थात् दृश्य काव्य को ही अपनी चर्चा का केंद्र बनाया। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रूद्रट, रूद्रभट्ट प्रथम धारा के काव्यशास्त्री माने जा सकते हैं और दूसरी में भरत के टीकाकार शंकुक और भट्टलोल्लट आते हैं। ये सारे आचार्य साधारणतः इस काल के अन्तर्गत आते हैं।

इसके पूर्ववर्ती काल में संस्कृत साहित्य का बहुमुखी विकास हो चुका था। नाटकों के साथ मुक्तक, महाकाव्य, गद्य-पद्य, मिश्र आदि विभिन्न रूपों और विधाओं में काव्यरचना हुई थी। अतः नाटक के साथ काव्य की चर्चा का आरम्भ होना स्वाभाविक था। राजाश्रय में नाटकों की अपेक्षा संगीतकला एवं काव्यकला को महत्ता मिलनेसे काव्यरचना, काव्यपाठ और काव्यास्वाद की ओर विद्वानों

१. They were invariably attached to court of kings. They probably lived well to be able to turn their vocation of writing poetry, but it may be supposed that they had always some patrons among rich people.

—A History of Sanskrit Literature CX.

का ध्यान आकर्षित हुआ। समाज में भी काव्य की लोकप्रियता बढ़ी। अतः काव्य को रस के अतिरिक्त गुण, अलंकार, रीति आदि के संदर्भ में समझाने का विशेष प्रयास किया जाने लगा। इस काल की काव्यचर्चा के ग्रंथों के शीर्षक भी काव्यदर्शन, काव्यालंकार, काव्यानुशासन, काव्यप्रकाश हैं, जिनमें काव्यशरीर का विश्लेषण करके उसकी विशेषताओं को स्पष्ट करना इन काव्यशास्त्रियों का उद्देश्य रहा है।

इस प्रकार रसचर्चा का रूख श्रव्य काव्य की ओर मुडना संभव था। काव्य में रस के स्थान को मानते हुए भी अलंकार-चारुत्व में रस को समेटकर रसवदलंकार की स्थापना की गई थी। कालिदासादि कवियों के काव्य में अलंकारप्रचुरता थी, अतः काव्य के क्षेत्र में रस की अपेक्षा अलंकार की चर्चा विशेष हुई। रस की उत्पत्तिवादी भूमिका बनी रही। विषयभूत रसदृष्टि को अपनाकर रस को अलंकारों में ही अन्तर्भूत करने के कारण भामह आदि रसवादी धारा से दूर जाते हुए प्रतीत होते हैं। **डॉ. नगेन्द्र** ने इन्हें रसविरोधी आचार्य तक कह दिया है।[१] परंतु तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परिवेश को ध्यान में रखने से वह उचित प्रतीत नहीं होता। अभिनय के स्थान पर शब्द और अर्थ का विचार, भाषा का लालित्य, अलंकार, गुणादि प्रधान हो जाते हैं। वैसे इन बातों का संकेत भरत के विवेचन में है, पर विशाल काव्यसंपदा पाने पर उसके रसादि की चर्चा करने की अपेक्षा, अन्य उपकरणों की चर्चा करना भामह-द्वारा उचित समझा जाना स्वाभाविक था। रस को भले ही गौण स्थान मिला और अलंकारों में अन्तर्भूत कर दिया गया, तथापि रस का नितान्त विरोध नहीं हुआ। **डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित** ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि "रससिद्धान्त को परोक्ष या अपरोक्ष दोनों रूपों में सभी संप्रदायों से जो सहायता मिली है, उनमें अलंकारवादियों में भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुय्यक का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है।"[२]

दण्डी ने श्रव्य, दृश्यादि सभी को काव्य के अन्तर्गत समेटकर गुण, प्रतिमा, रीति आदि की चर्चा करते हुए रस को काव्यगत मानकर उत्पत्तिवादी भूमिका ही निभाई है। **डॉ. त्रिपाठी** दण्डी को काव्यविद्या की शास्त्रीय प्रतिष्ठा का उत्तराधिकारी मानते हैं।[३]

वामन ने काव्य के गुणों को विशेष महत्ता देते हुए कान्ति की चर्चा के अंतर्गत रस को समेट लिया है। रस का केवल एक स्थान पर उल्लेख करते हुए उन्होंने शृंगार को मान्य किया है। रससिद्धान्त के प्रति उद्भट की विशेष आस्था उसके ग्रंथों

१. रससिद्धान्त पृ. १८
२. रससिद्धान्त : स्वरूपविश्लेषण पृ. ५ और पृ. १९६
३. आचार्य दण्डी और उनका काव्यादर्श, पृ. ३९४

में भरत की टीका, भामह विवरण और 'काव्यालंकार संग्रह' से स्पष्ट होती है। श्रव्यकाव्यपरक दृष्टि रखते हुए भी काव्य में रस का स्थान उन्हें मान्य है। भरत के स्थायी, संचारी, व्यभिचारी, विभाव, अनुभाव योजना से उत्पत्तिवादी भूमिका ही उन्हें स्वीकार्य जान पड़ती है।[१]

रूद्रटने रस को अलंकार, रीति, गुणादि में अंतर्भूत करने की अपेक्षा रीति कों ही रससापेक्ष माना तथा भरत की रसोत्पत्ति को मान्य करते हुए काव्य में रस की अनिवार्यता को घोषित किया। रूद्रभट्ट का समय कुछ बाद का है। परंतु उनके द्वारा कथित 'नवकाव्य रसाः स्मृताः' में रसवाद तथा अलंकारवाद का समन्वय दिखाई देता है।

उपर्युक्त सारे आचार्य रसविरोधी नहीं थे। समसामयिक सामाजिक स्थिति, साहित्यिक चेतना और काव्य की विपुलता के अनुसार उत्पन्न काव्य की महत्ता को स्वीकार करते हुए उनके अलंकार, रीति, गुण आदि की चर्चा करने के कारण रस को गौण स्थान प्राप्त हुआ। काव्यभाषा शरीर की विचिकित्सा की गई।

इनके अतिरिक्त भट्टलोल्लट और शंकुक ने रससूत्र के 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द को लेकर रससूत्र की दृश्यकाव्यपरक व्याख्या की। वे तत्कालीन गोष्ठी आदि के अलावा चिन्तनपरकता से अधिक प्रभावित थे। उन्होंने दर्शन एवं तर्कशास्त्र के प्रभाव में रस की उत्पत्ति, स्थान, प्रक्रियादि की समग्र चर्चा करते हुए विचारमंथन किया। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए उन्होंने दार्शनिक विचार से भी तार्किक प्रणाली उपयुक्त समझी। रसचिन्तन में दार्शनिक तर्कों का आधारग्रहण और विभिन्न प्रतीकों एवं रूपकों की योजना का आरंभ इनसे हुआ।

मीमांसक भट्टलोल्लट ने उत्पात्तिवाद का ग्रहण करके उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध, अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध तथा पोष्य-पोषक सम्बन्ध के आधारपर रसोत्पत्ति को स्पष्ट करके आरोपवाद का प्रतिपादन किया। सम्भवतः भट्टलोल्लट ने समकालीन दर्शनविचार से प्रेरणा ग्रहण करके इस प्रकार के आधार की स्थापना की है। कुछ विद्वान उन्हें अद्वैतवेदांती मानते हैं[२] तो कुछ उन पर शैव मत का प्रभाव बताते हैं।[३]

भट्टलोल्लट की इस स्थापना के पश्चात् भी रससूत्र की समस्या वैसी ही बनी रही। उसको सुलझाने के प्रयास में शंकुक ने भट्टलोल्लट के उत्पत्ति-वाद और आरोप-वाद का खण्डन किया और अनुमानतत्त्व तथा चित्रतुरग-न्याय सिद्धान्त प्रमाणित करने का प्रयास किया। कुछ विद्वान उनकी चर्चा पर बौद्धमत का प्रभाव मानते हैं[४]

१. काव्यालंकार, ४-४
२. संस्कृत साहित्यशास्त्राचा इतिहास, पृ. १५१
३. स्वतंत्र कलाशास्त्र, पृ. ६९
४. रससिद्धान्त, पृ. ३०

कुछ न्यायदर्शन की छाप।[१] शंकुक के काश्मीर–निवासी होने से उन पर बौद्ध मत का प्रभाव सहजसम्भव था। डॉ. पाण्डये चित्रतुरगन्याय के उपमानग्रहण के विषय में तत्कालीन चित्रकलाविकास की ओर संकेत करते हैं।[२] उस समय बौद्ध शिल्प और कला का स्वतंत्र संप्रदाय (school) था जिसमें गांभीर्य और सहजता के साथ आध्यात्मिक प्रभाव भी था। इस और दर्शन के समन्वय से परिपूर्ण समकालीन कला से प्रेरणा ग्रहण कर इस उपमान की योजना करना उचित ही था।

इस प्रकार रसचिंतन का विकास श्रव्यकाव्यपरक और दृश्यकाव्यपरक, अर्थात् काव्यवादी और नाट्यवादी दो धाराओं में हुआ। दृश्यकाव्य के सन्दर्भ में सूत्र की व्याख्या ही चलती रही। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यह काल परिवर्तन काल था। ऐतिहासिक समृद्धि, सामाजिक सुव्यवस्था, सांस्कृतिक संपन्नता और साहित्यिक गरिमा के कारण इस युग में रसचर्चा धूमिल हुई। तत्कालीन उपलब्ध नाटक, महाकाव्य, मुक्तक, सूक्तियाँ आदि की चर्चा के साथ ही काव्य के सन्दर्भ में कई संप्रदायों (school) का उदय हुआ और नाट्यरस का प्रवाह काव्यरस की ओर मुड़ गया। शास्त्रीय संगीत के विकास और राजाश्रय से काव्यपाठादि को महत्ता प्राप्त हुई।

सभी आचार्यों का दृष्टिकोण नितान्त वस्तुपरक (objective) एवं उत्पत्तिवादी था। काव्यवादी धारा के आचार्यों ने नितान्त साहित्यिक दृष्टि अपनायी और नाट्यवादियों ने यथार्थवादी प्रायोगिक एवं दार्शनिक तर्कवाद पर बल दिया। व्याकरणशास्त्र के आधार पर काव्य के अंगों उपांगों का वर्णन किया।

इस दूसरे चरण में नाट्यवादी धारा के मिलन के बीज निहित हैं और नाट्यरस काव्यरस की ओर रसचर्चा के प्रयाण का संकेत प्राप्त होता है।

भारतीय इतिहास का मध्य-मध्यकाल :

रसचर्चा का विकास–तृतीय चरण (८५० ईसवी से ११५० ईसवी तक)

गुप्तकाल एवं हर्षवर्धन के पश्चात् का भारतीय मध्ययुग का इतिहास राजनीतिक अशान्ति, अव्यवस्था और अराजकता से परिपूर्ण पर काव्यशास्त्रीय दृष्टि से सम्पन्नता का काल कहा जा सकता है। यह रसचर्चा का चरमविकास स्थल है।

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्यवाद का ह्रास हुआ। एकछत्र साम्राज्य के विघटन से राजनीतिक एकता नष्ट होकर देश अनेक खण्डों में विभक्त हुआ। फलस्वरूप विभिन्न स्वतंत्र राज्य स्थापित होकर वंशीय राज्यशासन (Class Monarchy) का उदय हुआ। राज्यों में उत्तराधिकार और सत्ता के लिए परस्पर वैरभाव, स्पर्धा और ईर्ष्या का आधिक्य होता रहा। अपने राज्य की सीमा-रक्षा एवं विस्तार में राजा-

१. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. १६५

२. स्वतंत्र कलाशास्त्र, पृ. ९७

सामन्त सदा जुटे रहते थे। राजपूतों की वीर परम्परा में दम्भ, जातीयवाद, राष्ट्रीयत्व का अभाव, पृथकत्व की भावना के कारण उनके राज्य विद्रोह के केन्द्र बने, और अन्ततः विदेशी शासकों के भक्ष्य हुए। प्राचीन जनपदों का अन्त होने से राज्यशासन का आधार राजवंश ही बना। समाज में शासक, सेनाधिकारी, सामन्त, राजा, उपराजा, ठाकुर आदि की सत्ता रूढ थी। कृषक, दास आदि श्रेणियाँ अस्तित्व में आयीं। सामन्तीय संस्कृति के प्रभाव में उद्दाम शौर्य और कामिनीसौंदर्य की प्रतिष्ठा हुई। परस्पर प्रतिद्वंद्विता, वैमनस्य, ईर्ष्या, संघर्ष, युद्धलिप्सा, षड्यंत्र में अराजकता (Anarchy) एवं नृशंसता (tyranny) उत्पन्न हुई। नित्य युद्ध के वातावरण से समाज में आतंक बना रहता था।

तत्कालीन विभिन्न लेखों में राजाओं द्वारा चातुर्वर्ण्य और आश्रमव्यवस्था का पोषण किये जानेका उल्लेख है। बर्बरों का जातीय सम्मिश्रण तेज़ी से होने के कारण वर्णव्यवस्था का विघटन एवं परिवर्तन सम्भव था। पालनरेशों के शासनकाल में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार एवं प्रभाव होने के बावजूद प्रत्यक्ष व्यवहार में वर्णव्यवस्था बनी रही। समाज में ब्राह्मणों का वर्चस्व तथा धार्मिक, आत्मिक और बौद्धिक श्रेष्ठता अब भी स्वीकृत थी। उनमें कई शाखा–उपशाखाएँ उत्पन्न हुई थीं। समाज में धर्मोपदेशों और दार्शनिकों की विशेष महत्ता थी। ब्राह्मणों के पश्चात् क्षत्रियों को स्थान था। छुआछूत की प्रथा में वृद्धि हुई थी। जातिप्रथा अधिकाधिक कठोर (rigid) बनी थी। चंडाल, चमार, डोम, नट आदि पंचमवर्ग के माने जाते थे। अनुलोम और अन्तर्जातीय विवाह रूढ थे। हरिश्चन्द्र ब्राह्मण का भद्रा नामक क्षत्रिय स्त्री से विवाह का उल्लेख प्राप्त है।[१] समाजविघटन से बौद्धों के विरोध में ब्राह्मणवाद के धार्मिक बंधन अधिक कडे बने। आज तक कई बाह्य कबीलों और जातियों को अपने में समालेनेवाली सभा हिंदु संस्कृति की एकता नष्ट होकर सामाजिक दृष्टि संकीर्ण बन गई।

समाज में सामान्य स्त्री का जीवन हीन और परावलम्बी था। राजपूतों में स्त्रियों का आदर और सम्मान था। स्वयंवर प्रथा और जौहर जैसी उज्ज्वल परम्पराएँ भी थीं। राजवंश सम्बन्धित अभिजात उच्च वर्ग सुखी एवं उपभोगशील था। इतिहास के एक विद्वान (ल्युनिया) ने तत्कालीन समाज को यथार्थ रूप में शब्दबद्ध किया है। हिन्दू समाज अपनी समाहित करने की शक्ति खो बैठा था। लोगोंको अज्ञान, मिथ्या

१. We are informed in Pratihar inscription dated 861 that Harishchandra, a Brahmin by caste, married Bhadra, a Kshatriya girl.

—Evolution in Indian Culture, Page No. 386

विश्वास तथा चमत्कारादि के भुलावे में रखा जाता था। विभिन्न भव्य तथा भडकीले समारोहों में समय नष्ट किया जाता था। जातियों की वृद्धि तथा जातिप्रथा का कठोर पालन प्रचलित था और ब्राह्मणों का अतीव वर्चस्व स्थापित हो गया था। वे अपने को समग्र आत्मिक और धार्मिक ज्ञान के स्वामी मानते थे। सारांशतः इन सब बातों ने सब लोगों को सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत संकीर्ण बना दिया था।[1]

शुंगकाल से वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई, उसको गुप्तकाल में बल मिला और तेरहवीं शताब्दी तक उसके तीव्रतर होने पर बौद्ध धर्म का रूप अत्यन्त विकृत हो गया। वज्रयानादि में रूपान्तर के कारण विहारों में विलासिता बढ़ने से मंत्रशक्ति, तांत्रिक क्रिया, रहस्यमयता, तंत्रवाद, गुह्यसाधनादि का आडम्बर बढ़ा और धीरे-धीरे वज्रयान लुप्त हो गया। जैन धर्म के कुछ राजाओं से आश्रय प्राप्त होनें पर भी उसकी विशेष उन्नति नहीं हुई।

हिंदू धर्म के उत्थान को कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य की दार्शनिक क्रांति से गति मिली। शंकराचार्य ने अन्य दार्शनिक मतों को हराकर शास्त्रार्थ द्वारा अद्वैत का प्रतिपादन किया और ब्रह्मवाद तथा ज्ञान को ही मोक्षप्राप्ति का साधन बनाया। कुमारिल भट्ट ने याज्ञिक कर्मकाण्ड का विरोध कर वैदिक अनुष्ठान को स्वर्ग और मोक्षप्राप्ति का मार्ग बताया। इससे हिंदु धर्म के नये रूपोदय के साथ पौराणिक धर्म परम्परा की महत्ता बढ़ी और अवतारवाद (incarnation) तथा भक्तिसंप्रदायों का उदय हुआ। विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि विभिन्न देवताओं की पूजाविधि का प्रारम्भ हुआ। आत्मा, कर्म रूपादि की कल्पना से सगुणनिर्गुण की कल्पनाएँ विकसित हुईं। "मानव का रूप ग्रहण करने से अज्ञात निर्गुण परमात्मा चिन्त्य एवं सगुण बनता है। अवतारवाद के सिद्धान्त में भारतीय दार्शनिक विचारों का आग्रह

१. Hindu society had lost its assimilative power. The people were kept in ignorance, fed with unwholesome,superstition and beguiled with gorgeous and never ending festivals. The number of growing of sub-castes and rigidity of the caste-system and the dominance of the Brahmins, who claimed to be custodian of all spiritual and secular knowledge, narrowed considerably the social and political vision of the people.

—Evolution in Indian Culture, Page No. 351.

और किसी देवता के लोक प्रचलित भक्तिभाव के समन्वय को सहज ही में स्वीकृति मिली।[१]

वैष्णव, शैव, शाक्त, कापालिक, पाशुपत आदि कई भक्तिपंथों एवं उपपंथों का उदय हुआ। मूर्तिपूजा, मूर्तियों की स्थापना, मन्दिरों का निर्माण, साजसज्जा का महत्त्व बढ़ा। कालान्तर से मूर्तियों को उपलक्षण न मानकर उनको जीवित मान लेने के कारण उनका स्थान, भोग, शृंगार, वस्त्रादि के साथ विभिन्न विधियाँ सम्पन्न होने लगीं। वज्रयानियों के समान शक्ति में रहस्यमयी शक्ति, गुह्यसाधना, वामाचार, बलि का महत्त्व, तंत्रमंत्र का आधिक्य हुआ। शिवशक्ति का कार्य पुरुषप्रकृति के रूप में स्थापित कर विभिन्न मन्त्र-तन्त्र, मुद्रा, मंडल निश्चित हुए। युग्मनग्नता परस्पर आलिंगन का प्रतीक बना। शून्य, महासुख और विज्ञान तीन तत्त्व बने। इष्टदेवता पूजा और कर्मकाण्ड के स्थान पर सहजयान के प्रभाव में सहजयौगिक ध्यान की महत्ता बढ़ी। हठयौगिक क्रिया, महासुख, कायासाधना, अप्सरायोग आदि पर बल दिया जाने लगा। बौद्ध तन्त्रवाद के समान ही हिंदु तन्त्रवाद विकसित हुआ। शैव तांत्रिकवाद शुद्ध चैतन्य (शून्य-शिव का) पुरुषरूप में और यथार्थ की गतिशीलता (शक्ति की) स्त्री के रूप में व्याख्या करता है। बौद्ध तांत्रिकवाद की शून्यता की स्त्री के रूप में और गतिशीलता की पुरुषरूप में कल्पना करता है।

हिंदु दर्शन का चरमविकास हुआ। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित-द्वारा दार्शनिक विकास सम्पन्न हुआ। वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यानिक ऐसी चार शाखाओं में पर्याप्त ग्रंथनिर्मिति हुई। जैन दर्शन हरिभद्र विद्यानंद, हेमचंद्र ने ग्रंथरचना की, पर जैन और बौद्ध दर्शन के विरोध में आस्तिक दर्शनों का विकास हुआ। खण्डनमण्डनादि उत्कृष्ट ग्रंथों का निर्माण हुआ। इस दार्शनिक क्रांति के नेता शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट थे।

कलाविकास के इस काल में भक्ति और दार्शनिक आंदोलन का प्रभाव था। स्थापत्य, शिल्पकला और चित्रकला के विकास में मन्दिरों, मूर्तियों, गुफाचित्रों का विकास हुआ। काश्मीर के मन्दिरों में सूर्य, विष्णु, शिव, शक्ति आदि कई मूर्तियों की स्थापना हुई। दीवारों पर अनेक मूर्तियाँ अंकित हैं। मंदिरों के शिल्प में भव्यता,

१. This unknowable nirguna God becomes knowable when it takes human shape and the compromise between the rigidity of Hindu philosophical thoughts and popular demand for devotion of personal God, was easily attested by the doctrine of avataras.

— Evolution in Indian Culture, Page No. 400

उदात्तता और सौष्ठव कम होकर अलंकार बहुलता आयी। अजंता एलोरा की गुफाओं में और उडीसा के मन्दिरों पर विभिन्न नायिकाओं और नायकों, इंद्र की नर्तकियों, सुरसुन्दरियों, तथा अप्सराओं आदि की मोहक मूर्तियाँ अपनी सुकुमारता और आभूषणप्रियता से मण्डित हैं। सौंदर्य के साथ उनमें तरल पारदर्शी, गोलाई से परिपूर्ण नग्नता और अश्लीलता की झलक है। **राधाकमल मुकर्जी** इसका संकेत कर कहते हैं, "इन आँखों की पुतलियाँ अंकित नहीं की गई हैं, अतः उसका अभिप्राय भिन्न ही है...ध्यान देने की बात है कि अंतराभिमुखता को व्यक्त करनेके उद्देश्य से अक्सर आँखों की पुतलियाँ बनायी नहीं गई हैं...आखिर सुरसुंदरी अथवा नायिका अज्ञात मानवीय आत्मा के अतिरिक्त और क्या है, जो अपनी प्रवृत्ति एवं गति में ईश्वर के समान है।"[1] शैव मन्दिरों पर रतिमग्न युगल मूर्तियों में भी असांसारिकता और इंद्रियसुख, अमूर्तता और सौंदर्य का अपूर्व संयोग है। हीन अभिरुचि और अनैतिकता की प्रवृत्ति ने मूर्तियों को अश्लील बनाया और नग्न मूर्तियों में शृंगारिक प्रतीकवाद की स्थापना हुई। खजुराहों में स्नेहमयी माँ बच्चे को प्यार करती है, प्रेमपत्र लिखनेवाली प्रेमिका, नर्तिका, शिवपार्वती युगल, अवलोकितेश्वर, दर्पण में देखती हुई सुन्दरी इत्यादि मूर्तियाँ हैं। **श्री. राधाकमल मुखर्जी** के मत में मिथुन का आध्यात्मिक महत्त्व मन्दिरनिर्माण की शैली में है। जहाँ इनकी तमाम मूर्तियों में अलंकरण अनिवार्य रूप से मिलन की ओर संकेत करती है वहाँ स्वयं मन्दिर गुहापर्वत मेरू की तरह बनाया जाता है, जो स्वर्ग और पृथ्वी को विभाजित करता है या आदि विश्वपुरुष के शरीर की तरह बनाया जाता है, जो अपनेको माया और यथार्थ के ध्रुवों में विभाजित करता है।[2]

प्रज्ञावान कवियों के साथ असफल कवि-आलोचकों का एक वर्ग भावक समाज में तैयार हो गया था। कीर्ति की लालसा एवं आश्रयदाता का विजयगान करने के हेतु काव्य-सृजन में धर्म की अपेक्षा 'अर्थ' की प्रधानता हुई। साहित्यनिर्मिति अत्यंत मौलिक और सभी विषयों से संपृक्त है। लालित्यपूर्ण कृतियों की अपेक्षा ज्ञानात्मक ग्रंथनिर्मिति अधिक हुई। भवभूति के अतिरिक्त कालिदास की प्रतिभा का नाटककार कवि नहीं हुआ पर साहित्यान्तर्गत गद्य, नाट्य, काव्य, विज्ञान, शास्त्र और दर्शन के क्षेत्र में महान ग्रंथों का निर्माण हुआ।

दार्शनिक क्षेत्र में खण्डनमण्डन की प्रवृत्ति रही। मानवजीवन का समग्र दृष्टिकोण ही अधिक चिन्तनात्मक, विश्लेषणात्मक और दार्शनिक था। दर्शन सामान्य जनता की वस्तु न होनेसे चर्चागोष्ठियों के सदस्य बुद्धिमान जन, विद्वन्मंडली, दार्शनिक आदि रहे। चर्चा में क्रिया-प्रतिक्रिया, सिद्धान्त-प्रस्ताव-निरूपण, प्रतिपादन, खण्डन-

१. भारतीय संस्कृति और कला, पृ. २७२
२. भारतीय संस्कृति और कला, पृ. २४९

मण्डनादि की अधिकता थी। इस तरह आध्यात्मिक चेतना के परिवेश में मूल्य चिंतनशीलता, विवेचनाशक्ति की प्रगल्भता एवं गहराई से परिपूर्ण जीवनदृष्टि के प्रभाव में काव्य चर्चा का प्रवाह बहा।

इस दार्शनिक क्रांति के काल में बौद्ध और जैन धर्म की अपेक्षा वेदान्त दर्शन, शैव मत, अद्वैत, मीमांसा, सांख्य का विशेष प्रभाव था। काव्यचर्चा इन दार्शनिक मतों के प्रकाश में की जाने लगी और तदनुरूप प्रतीकों और रूपकों की योजना की गई।

काश्मीर और कन्नौज – विद्या, कला एवं दर्शन तथा काव्यसर्जना और काव्य-चर्चा के संपन्न प्रमुख केंद्र थे। काश्मीरी प्रणयी राजाओं के शासनकाल में आनंदवर्धन (१० वीं शती), अभिनवगुप्त (११ वीं), क्षेमेन्द्र (११ वीं), मम्मट (१२ वीं) आदि काव्याचार्य हुए। कान्यकुब्ज के यशोवर्धन, महीपाल, महेन्द्रपाल के आश्रय में भवभूति, राजशेखर जैसे आचार्य थे। काव्य के संदर्भ में रसचर्चा के विचार का आरंभ तो हो चुका था। उसमें उठनेवाली समस्याओं का मौलिक चिन्तन करते हुए आचार्यों मेंसे हर एक ने किसी–न–किसी रूप में रस की सत्ता को स्वीकार किया और रससिद्धान्त की चर्चा के अंतर्गत केवल धर्ममुख और पूर्ववर्ती प्रामाण्यपूर्ण विवेचन में मौलिक क्रांति करते हुए रसतत्त्व की व्यापक, सूक्ष्म एवं गहनतम व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

इस काल के प्रथम आचार्य आनंदवर्धन ने रस का स्वतंत्र रूप से विवेचन करते हुए ध्वनिमत के अंतर्गत रसध्वनि की स्थापना की। नाटक और प्रबंधकाव्य के लिए रसास्वाद की चर्चा संभव थी पर मुक्तक की व्याख्या के लिए समस्या उत्पन्न होने पर ध्वनि मत का उद्‌घाटन हुआ और रस को व्यंजनात्मक माना गया। रसवाद और ध्वनि की पटरी बाँध दी गई। बौद्धिक जागरूकता पर आधारित बौद्धिकता एवं तटस्थता का प्रवेश उसमें हुआ। दरबारी वातावरण, राजाश्रय, सामयिक कवि सभा, काव्य की कसौटियाँ एवं सूक्ष्म विचारपरकता के प्रभाव में अलंकारशास्त्रांतर्गत स्थापनाओं के अतिरिक्त सूक्ष्मग्राही और मार्मिक तत्त्व की खोज उनकी मौलिकता है।

तत्कालीन काव्यगोष्ठियों का विस्तारपूर्वक विवेचन अन्यत्र किया गया है, परंतु संक्षेप में कहना हो तो काव्यगोष्ठियाँ विदग्धगोष्ठियों से भिन्न बनकर दरबार से संलग्न एवं श्रव्यकाव्यपरक बनी थीं। उसके स्वरूप के प्रभाव से आनन्दवर्धन को श्रव्यकाव्य की महत्ता को समझाने के लिए अलंकारादि के साथ ध्वनिमत का प्रतिपादन करना पडा और रस की महत्ता को स्वीकार करना पडा। दरबारी काव्य में वक्रोक्ति, व्यंजकता अधिक बढ़ रही थी, वह उस काल के काव्य की प्रधान विशेषता ही थी। कुछ विद्वानों के मत से काव्य में ध्वनि द्वारा रस की प्रतिष्ठा करनेका कारण आनन्दवर्धन का अपने आसपास के रचनात्मक वातावरण में मंदी का अनुभव करना था।"[१]

१. कविता के नये प्रतिमान, पृ. ५२

रस को ध्वन्यात्मकता में अन्तर्भूत कर वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि का परिचय रसध्वनि के अन्तर्गत माना गया है। "तेन रस एवं वस्तुतः आत्मा" कहते हुए प्रबन्ध काव्य में रस की ओर ध्यान देने की उन्होंने सूचना दी है। काव्यगत शब्दार्थों के संयोग से रसिक के मन में विशेष अनुभूति होगी, जिसका वह आस्वाद करता है। वह आस्वाद व्यंजनाशक्ति के द्वारा होने के कारण रस व्यंग्य है। यह विचार उनके विवेचन की विशेष उपलब्धि है, जिससे रस चिंतन का नया द्वार खुलता है। रसचिंतन में रसिक पाठक का स्थान प्रधान हुआ और रस की चर्चा का रुख बदला। इस धारणा पर भी समकालीन काव्यचर्चा के स्वरूप का अधिक प्रभाव है। इस काल में महाकवि तो अधिक नहीं हुए, परन्तु भावक वर्ग को विशेष महत्ता प्राप्त हुई।

यही नाट्यरस और काव्यरस का मिलनबिन्दु है। ध्वन्यात्मकता या व्यंजकता की प्रतिष्ठा से अभिनयप्रधान नाट्यार्थ और शब्दार्थपूर्ण काव्यार्थ को एक केंद्र में लाया गया। इन दो धाराओं के परस्पर मिलन से काव्यशास्त्रीय रसचर्चा को प्रगल्भता, नवीनता एवं सूक्ष्मता प्राप्त हुई। इसके बीज मूलतः समकालीन सामाजिक जीवन में ही अवस्थित हैं।

पूर्ववर्ती रसचर्चा और ध्वनिमतोत्तर रसचर्चा की सीमारेखा पर भट्टनायक का उदय हुआ। उन्होंने ध्वनिमत का खण्डन कर आदर्शवादी दृष्टिकोण से विषयीगत व्याख्या करके संतुलित एवं विकसनशील विवेचन प्रस्तुत किया। इन्हें शैव आनंदवादी द्वैतवादी कहा गया है, कुछ विद्वान मीमांसक मानते हैं तो किसीने वेदांती सांख्यवादी माना है। जगत् एक नाटक है और हर मनुष्य निरंतर उसमें रसास्वादन करता रहता है ऐसी भूमिका धारण कर रस का विषयीगत विचार किया। नाट्य के साथ ही श्रव्य काव्य का ग्रहण कर भावकत्व, भोजकत्व शक्ति और साधारणीकरण के सिद्धान्त की स्थापना की। सहृदयगत स्थिति को मान्यता देकर विघ्ननाश, साधारणीकरण और आनंदवाद की स्थापना के साथ रस की अखण्ड, अद्वैत और एकांत सत्ता स्थापित की। संस्कारों के बल पर मानवमात्र के हृदय की एकता एवं वासनात्मक स्थायी भाव की रसात्मक अभिव्यक्ति का सिद्धान्त स्थापित किया।

भट्टनायक की स्थापनाओं में समकालीन दार्शनिक चिन्तन का स्पष्ट प्रभाव है, परंतु साथ ही श्रव्य काव्य की लोकप्रियता के बढ़ने के साथ-साथ उसके आस्वाद की चर्चा करना उनके लिए आवश्यक हो गया। समकालीन काव्य-गोष्ठियों और दरबारी वातावरण के फलस्वरूप जो एक विशेष वर्ग 'भावक' उत्पन्न हुआ था, उसके कारण रचयिता की अपेक्षा काव्य के आस्वाद की समस्या को विशेष प्रधानता मिली। श्रव्य काव्य के आस्वाद के संदर्भ में अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि विभिन्न मतों के साथ ध्वनि की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। श्रव्य काव्य के आस्वाद के लिए नाटक के प्रेक्षक से भिन्न प्रकार की प्रक्रिया से गुजरना पडता था। अतः भावकत्व, भोजकत्व शक्तियों का

उल्लेख कर साधारणीकरण का सिद्धान्त रखकर यह कठिनाई दूर करने का प्रयास भट्ट-नायक ने किया। साधारणीकरण के द्वारा बौद्धिक क्षमता और व्यक्तिगत विभिन्नता के बावजूद श्रव्य काव्य के आस्वादन में भी सरलता उत्पन्न करने का उद्देश्य भट्ट-नायक का था।

इस काल के सर्वश्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्त ने रससिद्धान्त का व्यापक एवं सूक्ष्म व्याख्यान करते हुए पहली बार रसास्वादन के कलात्मक प्रश्न को दार्शनिक आधारभूमि प्रदान की। आत्मतत्त्व को महत्त्व देकर शैवाद्वैत के आधार पर रसतत्त्व की व्याख्या कर रस की एकान्त आनन्दरूपता की स्थापना की। अभिनवगुप्त पर शैव मत के साथ ही शंकराचार्य का अद्वैत और बौद्ध के विज्ञानवाद का प्रभाव माना जाता है। श्रव्य काव्य के सन्दर्भ में रसचर्चा स्थिर होने पर अपने काल की चिंतनपरक विचारधारा के रससिद्धान्त की चर्चा करना एवं निष्कर्ष प्रस्तुत करना अभिनवगुप्त के लिए स्वाभाविक था।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रसजीवित कहकर रसौचित्य और रसाभास की पर्याप्त चर्चा कर रसचर्चा में योगदान किया। सम्भवतः दरबार के दूषित वातावरण में रचित एवं पठित काव्यरचना में शृंगारिक अश्लीलता और अनैतिकता का आधिक्य होने से उससे बचने के लिए समग्र विवेचन करना पड़ा और औचित्य को प्रतिष्ठा देनी पड़ी। कुन्तक ने वक्रोक्ति की स्थापना रमणीयता के लिए रस का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा, "रसेन वर्तते तुल्यम्।" वक्रोक्ति नित्य की अपेक्षा भिन्न प्रकार की भाषासरणी, दरबारी काव्य का प्रभाव है। भोजने 'सरस्वती कण्ठाभरण' और 'शृंगारतिलक' में नाट्य और काव्य के सन्दर्भ में रस की चर्चा की। शृंगार को 'अहंकार' रूप में सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र रस घोषित करने में तत्कालीन सामंतवादी, दम्भी, व्यक्तित्व की झाँकी और अहंभाव (egoism) की स्पष्ट छाप है। मम्मट ने ध्वनिमत का खण्डन करके पूर्ववर्ती सभी मतों की चर्चा एवं व्यवस्थापन के साथ रसचर्चा का विशदता से वर्णन किया।

सबसे अधिक रसचर्चा इसी काल में हुई। अन्य काव्यमतों की अपेक्षा ध्वनि और रस की चर्चा के विकास ने दोनों मतों को परस्पर मिला दिया। रसवाद ने ध्वन्यात्मकता को और ध्वनिमत ने रसध्वनि के रूप में रस को स्वीकार किया। ध्वनिमत के प्रभाव में व्यंजना शक्ति और रस की व्यंजकता को महत्त्व प्राप्त हुआ जिससे काव्यार्थ एवं नाट्यार्थ को महत्ता मिली। दोनों धाराओं का मिलन हुआ। काव्यरस को प्रतिष्ठा प्राप्त होकर नाट्यरस उसीमें समा गया और नट के स्थान पर सहृदयगत रसास्वाद की स्थिति की चर्चा विशेष रूप में हुई।

काव्यानुभूति को जीवनानुभूति की सापेक्षता के स्थान पर आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में देखा और परखा जाने लगा। वस्तुपरक दृष्टि बदलकर व्यक्तिपरकता एवं आत्म-

निष्ठता आ गयी। दार्शनिक खण्डनमण्डन, चर्चा विवादादि रूप में काव्यानुभुति, रस-निष्पत्ति, रसास्वाद आदि परखा जाने लगा। उससे उत्पन्न सब गुत्थियों को सुलझाने के लिए दार्शनिक रूपकों, प्रतीकों की योजना से रससूत्र और तदनुषंगिक चर्चा समकालीन दो चिन्तनों के फलस्वरूप आध्यात्मिक परिवेश में रंग गई। अभिनय के स्थान पर सूक्ष्म व्यंजक भावों का स्वीकार, दृश्य की अपेक्षा श्रव्य का विचार, एवं भावना के अतिरिक्त कल्पना की स्थापना हुई। जीवनानुभूति और सूक्ष्म संवेदनशक्ति तथा विवेचन-प्रगल्मता से परिपूर्ण रसचर्चापर शैवाद्वैत और सांख्य मीमांसा का प्रभाव रहा है। मुक्तक और दरबारी काव्य के संदर्भ में उभरनेवाली समस्याओं के फलस्वरूप काव्यरस की चर्चा हुई। प्रकाश, लोचन, मीमांसा, दर्शन आदि विभिन्न शीर्षकों के ग्रंथों द्वारा रसचर्चा परिपक्व बनाई गई। भरत की यथार्थ परकता और विषयपरकता के स्थान पर विषयीगत चेतना, अलौकिक अनुभूति, आदर्शमय और अखण्ड बन गई।

उत्तर मध्यकालीन भारत :

रसचर्चा का विकास – चतुर्थ चरण – (११५० ईसवी से १७०० ईसवी तक)

बारहवीं शताब्दी तक भारत के राजनीतिक विघटन, परस्पर वैरभाव और सामन्तशाही से उत्पन्न अराजकता से बाहरी आक्रमकों ने लाभ उठाया। गझनी का मुहम्मद, शहाबुद्दीन घोरी आदि तुर्कों ने दिल्ली और कन्नोज पर आक्रमण कर मन्दिरों का ध्वंस एवं धन की लूट कर अपना आधिपत्य स्थापित किया। बारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक मुसलमानों और मुगलों का शासन अखण्ड रूप से रहा, अतः दो विभिन्न संस्कृतियों तथा धर्मों के संघर्ष और समन्वय का यह काल रहा है।

प्रांतीय शासकों ने विद्रोह कर स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की थी। तेरहवीं शताब्दी के बाद अफगाण–तुर्क शासन समाप्त होकर भारत मुगल साम्राज्याधीन बना।

पूर्णतः विदेशी शासन के दबाव में भिन्न संस्कृति, धर्म, सामाजिक रीति-रिवाज एवं व्यवस्था के होने कारण यह काल सामाजिक एवं सांस्कृतिक संघर्षमय रहा है। शुंगकाल से विदेशी लोगों को भारत ने अपने में समा लिया था पर मुसल्मान-मुगल अपनी जातिभिन्नता और कट्टरता के कारण भारतीयता में पूर्णतः घुल नहीं गये; (absorb) परंतु परस्पर संघर्ष–समन्वय से गुज़रते हुए अनुकूलन (adaptation) और समायोजना (adjustment) से सामंजस्य पैदा हुआ।

अफगाण सुलतानों के काल में राजनीतिक अराजकता एवं अव्यवस्था थी, परंतु मुगलों ने दिल्ली के तख्त पर बादशाह की स्थापना की। छोटे–छोटे राजा बनने की अपेक्षा दिल्ली और आग्रा दरबार में मनसबदार, मन्त्री आदि स्थान पाने में हिंदू राजा

अपना सम्मान समझने लगे। सामन्तवादी पद्धति नष्ट होकर नई स्थिति उत्पन्न हुई। बादशाह की कृपा महत्तम बनी। जाति का ही नहीं, राष्ट्रीय रूप में मुगलशासन स्थिर हुआ। मुगल बादशाहों की उदारता, सहिष्णुता और उत्तम शासन के फलस्वरूप शान्ति समृद्धि और सुव्यवस्था उत्पन्न हुई। राजपूतों से संधि करके, विवाहसम्बन्ध द्वारा या हिंदुओं को उच्च पद देकर सामान्य विरोध को दूर करने में मुगल बादशाह सफल रहे और केन्द्रीय व्यापक सुदृढ साम्राज्य की स्थापना हुई। सुलतानशाही में प्रथम सुलतान की मृत्यु होते ही जनयुद्ध (civil war) होता था या उसकी हत्या कर उत्तराधिकार का कब्जा किया जाता था। बिना नियम या कानून से सब करना सामन्तों, जागीरदारों और सरदारों (kingmakers) पर निर्भर करता था पर मुगलों के काल में बादशाहत सुव्यवस्थित थी। विजयनगर और राजपुताने में राजपूतों का विकास हुआ था; जिससे हिंदु राजा धर्म और संस्कृति की रक्षा करते थे। इस काल की राजनीतिक स्थिति को एक इतिहासकार वर्णित करते हैं कि 'राज्य सेना की शक्ति से विकसित हो गया था, उसके शासक विशेष रूपसे अपने व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा एवं सक्षमता बढ़ाने में सतर्क रहते थे। शासन-व्यवस्था में कोई निश्चित एवं सुसंगत नीति के न होनेसे केवल स्वार्थान्धता का अनुसरण किया जाता था। अतः कुछ समय के पश्चात् शासन अधिकाधिक महत्त्वाकांक्षी और विद्रोही बनता गया, जिसके फलस्वरूप राज्य के पतन के अलावा और कुछ न हो सका।"[१]

समाज में सर्वोच्च केंद्रीय, मूर्धन्य एवं अग्र स्थान बादशाह को प्राप्त था। समाज स्पष्टतः उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग ऐसी तीन श्रेणियों में विभक्त था। शासक और जनता में घोर खाई थी। मन्त्री, सरदारादि उच्चवर्ग आराम और विलास-मय जीवन बिताता था। दरबार ही कला, संस्कृति, धन का केंद्र था। मध्यश्रेणी में व्यापारी, शिल्पी, कर्मचारी आदि धनी थे पर कोतवाल से अपने धन को छिपाने के प्रयास में रहते थे। आम जनता की स्थिति हीन थी। किसान, मज़दूर, शिल्पी, ग्रामीण जन आदि का जीवन कठिन था। बालविवाह, बहुपत्नीत्व, जातिप्रथा का प्रचलन था, विधवाविवाह अमान्य था। फलज्योतिष आदि में हिंदू मुसलमान दोनों की श्रद्धा

१. The State grew on military strength, its rulers were mainly concerned to adopt measure to safeguard and strengthen their own authorities and its aristocracy having no consistent policy, pursued selfish interest and in course of time grew more ambitious and tarbulent just a State could not but collapse.

— An Advance History of India, P. 396.

थी। गुलाम प्रथा, दासदासियों को खरीदना और पर्दा पद्धति आदि रूढ था। यद्यपि राजघरानों की स्त्रियाँ शिक्षित एवं कलासंपन्न थीं, परंतु सामान्य स्त्री की स्थिति हीन ही थी। दरबार या हरम में दासियाँ और नर्तकियाँ रखनेकी प्रथा का प्रचलन था। स्त्रीस्वातंत्र्य की पूर्णतः हानि हुई थी।

समाज का नैतिक स्तर हीन बना था। उच्चवर्ग और निम्नवर्ग, राजा-प्रजा, धनी-गरीब तथा दरबारी संस्कृति और लोकजीवन में गहरी खाई होने से भारतीय परंपरा और संस्कृति में भ्रष्टता एवं अनैतिकता आयी थी। सामाजिक नीतिनियमों (public morals) के स्थान पर हीनवृत्ति, रिश्वतखोरी, दुष्टता, ईर्ष्या, चाटुकारिता उत्पन्न हुई थी। जादूटोने में विश्वास, भिखारियों की बढती संख्या और सामाजिक अपकर्ष की स्थिति थी। जानवरों की कुश्तियाँ, जुआ, शिकार, कबूतर उड़ाना, शतरंज, ताश, नृत्य, संगीत आदि मनरंजन के साधन प्रचलित थे। हिंदुओं के देश में मुसलमानों की प्रतिष्ठा थी। जातियों-उपजातियों में अधिकाधिक वृद्धि हुई थी। आर्थिक संपन्नता और समृद्धता थी। इस्लाम के प्रभाव एवं हिंदु धर्म का राजाश्रय नष्ट होने से हिंदु धर्म का विकास अवरुद्ध हुआ था। मुगलशासन में औरंगजेब के अतिरिक्त सब सम्राट धर्मसहिष्णु एवं उदार होने के कारण दोनों धर्मों का परस्पर पर प्रभाव हुआ। इस्लामी मानवीय समानता, विश्वबंधुत्व, जातिबंधन का त्याग और एकेश्वरवाद आदि का प्रभाव हिंदु दार्शनिक एवं धार्मिक प्रज्ञा पर पड़ता रहा और धार्मिक क्रांति का बीज बोया गया। अफगानों के काल में उठी हिंदू-धर्मजागृति की लहर को मुगलों के काल में बल मिला।

दक्षिण में सातवीं शताब्दी से ही आलवारों की प्रधानता थी, जो प्रेममय कोमल मानवी भावनाओं को महत्ता देते थे। अफगाण-मुगल साम्राज्य में ज़बरदस्ती से धर्मान्तरादि के कारण हिंदू धर्म के लिए जो आव्हानपरक स्थिति उत्पन्न हुई, उसमें आलवारों की भक्ति का कुछ सहारा मिला। हिंदू धर्म में अनाचारी और एकाधिकारी (monopolist) ब्राह्मणों का वर्चस्व तो था ही, कठोर जातिबंधन, अस्पृश्यों को मन्दिरों में प्रवेश की मनाही, स्त्रीविषयक संकीर्ण दृष्टि, पूजाविधि आदि कर्मकाण्ड का आडम्बर, तंत्रमन्त्र, अंधविश्वास (superstition) आदि कई बुराइयाँ उत्पन्न हुई थीं। एक ओर यह अनास्था और दूसरी ओर धर्म पर संकट आने से जो तनावपूर्ण धार्मिक स्थिति उत्पन्न हुई थी, उसके कारण ही धार्मिक क्रांति का उदय हुआ।

रामानंद ने दक्षिण में धार्मिक कर्मकाण्ड और जातपात का बंधन तोडकर जन-भाषा के माध्यम से धार्मिक जागरण किया। आलवारों के मानवीय दैवी उपासनामार्ग से कुछ प्रेरणा मिली और भक्तिपन्थों का उदय हुआ। सर्वधर्मसहिष्णुता, परमात्मा का एकत्व, अद्वैत श्रद्धा तथा भक्ति और प्रेम की पवित्रता पर बल देकर सिद्धान्तों और तत्त्वों के बोझ से मुक्त भक्तिमार्ग का उदय हिंदु धर्म में अनोखी क्रांति थी। यह

क्रांति न केवल धार्मिक थी, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक भी थी। सब वर्णों और जातियों के प्रति समान दृष्टि एवं धर्मशुद्धीकरण में उदार दृष्टि अपनायी गई।

बारहवीं शताब्दी में रामानुज ने जीव और जगत् को ईश्वर के दो रूप मानते हुए विशिष्टाद्वैत की प्रतिष्ठा की, जिसमें विवेक, अंतर्ज्ञान, सर्वव्यापकता और पारलौकिकता का समन्वय था। तेरहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने ईश्वर और जीव की पृथक् सत्ताएँ मानकर द्वैतवाद की स्थापना की और विष्णु या हरिदर्शन का हेतु अंतिम मोक्ष मानकर ज्ञान को भक्ति की ओर मोड़ दिया। तेरहवीं शताब्दी में ही निम्बार्क ने जीव और ब्रह्म के अभिन्न होते हुए भी व्यावहारिक रूप से भिन्न होने का द्वैताद्वैत सिद्धान्त सामने रखा। सोलहवीं शती में वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग के द्वारा प्रेममय उपासना की महत्ता स्थापित की।

भक्ति आंदोलन के कारण शंकराचार्य का अद्वैतवाद कुछ फीका पडा और वैष्णव संप्रदाय एवं दर्शन की महत्ता बढ़ी। धर्म ने समकालीन स्थिति को चुनौती देकर वर्णविहीन हिंदू धर्म का आंदोलन चलाया। उसके फलस्वरूप कई रहस्यवादी संतों का उदय हुआ। कबीर, रामानंद, नामदेव, चैतन्य, नानक आदि ने इस क्रान्ति को आगे बढ़ाया। भारतीय मनीषा विशुद्ध मानवीय अनुरक्ति एवं निष्ठा की प्रौढता के साथ परात्परता को देवता के समीप पहुँचने का प्रतीक मानने लगी। विनम्रता, सहजशीलता और आत्मसमर्पणपरक भक्ति और प्रेम पर बल दिया गया।

पाँचों मुगल सम्राटों के शासनकाल में उनके सक्रिय आश्रय, सुव्यवस्था और शांति के फलस्वरूप कलाओं का विकास एवं नवीन शैली का उदय हुआ। संगीत, वास्तु, चित्र, अक्षर, पुतले बनाना आदि कलाएँ विकसित हुईं। विजयस्तंभों और इमारतों पर हिन्दू-मुस्लिम शैलियों का समन्वय है। विशाल मसज़िदों, किलों, बुरजों और जलाशयों का निर्माण हुआ। पत्थर की मूर्तियाँ ही नहीं, वरन पत्थर की बेलबूटियाँ फूल-फल आदि नक्काशी बनायी गई। संगीत कला में खयाल, तराना, ठुमरी, गझल, कव्वाली का उदय हुआ। परंतु भारतीय परंपरा में पूर्ववर्ती स्थापित संगीत का धार्मिक सम्बन्ध टूटकर इस काल में दरबारी वातावरण के कारण सामाजिक स्तर हीन बना। समाज विलासिता एवं भोग का केन्द्र बना। उस्ताद, नर्तिका और गवैये का स्थान हीन हुआ। कला लोककला के पद से हटकर व्यावसायिक बनने के कारण सामान्य समाज उससे दूर रहा।

चित्रकला में जहाँ एक ओर मुगल शैली में व्यक्तिचित्रों की भरमार रही, वहाँ दूसरी ओर राजपूत शैली में लोक-सामान्य की अनुभूति थी। पर मुगल कला अभिजात वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। दरबारों, अमीरों, शाही परिवार सामन्तादि के ऐतिहासिक प्रसंगों तथा दन्तकथाओं के चित्र हैं। लडाइयों, शाही हरमों के साथ ही आखेट, मदिरापान के दृश्य अंकित हैं। बाघ, हिरन सिंहादि, राजा, राजपुत्र, सरदारों

के चित्र हैं। सरदार हुक्का पीते हुए खिड़की में बैठे हैं। व्यक्तिचित्रों में (portraits) कृत्रिमता, कलात्मकता, गोलाई, कान्ति, सुकुमारता, रंगरेखाओं की चमकदमक, तरलता, डीलडौल और अलंकारिता है। दरबारी भव्यता और दिव्यता के साथ गहरे रंगों की योजना एवं लाल नीले स्वर्णमय बारिकी से सजावट है। सूक्ष्मचित्रकारों के साथ भौतिकता और मनरंजन की विशेषता है। चित्रों में सजीवता मौलिकता; जीवितता, एवं बल (vigour) की अपेक्षा कृत्रिमता और भावनाभाव है।

इसी काल की राजपूत शैली की कला इससे नितांत भिन्न है, जो लोककला कहला सकती है। इसमें ग्रामजीवन, धर्म, वातावरण, समारोह, बाज़ार, कारीगर, खेल आदि सामान्य जीवन की झाँकियों के अतिरिक्त रामायण-महाभारत की घटनाओं, बुद्ध की कथाओं और जीवनप्रसंगों का चित्रण है। अजन्ता की गुफाओं में गाय, हाथी, मोर, हिरन आदि पशुपंछियों को देवताओं का स्वरूप देकर शिव-पार्वती, कृष्ण आदि के भक्तों के सहित चित्रित है। लोकप्रचलित विषयों के ग्रहण से जातीय भावना, वीरता, शांति, धर्मनिष्ठा और विश्वास अंकित है। मानवीय शृंगार (रति), दुःख-कातरता, करूणा, दया, अनुकम्पा, सहानुभूति, वात्सल्यादि का सुंदर अंकन है। राधाकृष्ण को प्रेमी और प्रेमिका के रूप में अंकित करने से धर्म और प्रेम को मिला दिया। भारतीय धर्म और अध्यात्म से जुडी हुई इस कला में चारूता (grace), आकर्षकता (charm) और सारल्य (sincerity) व्यक्त होता है। आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित सजीव, सहज, स्वाभाविक, सूक्ष्म, कल्पनाप्रचुर और बौद्धिक प्रज्ञा से परिपूर्ण लोककला के दर्शन होते हैं। इन दोनों शैलियों को तुलनात्मक रूप में व्यक्त किया गया है। "तत्कालीन लोकप्रिय देवताओं में प्रेम-प्रणय और धर्म के सहज सुखद संकेत थे। इस तरह राजपूत चित्रकला का संप्रदाय सौंदर्यात्मक सुसंगतियुक्त था और उसकी आध्यात्मिकता में मानवीय जीवन एवं धर्म का समन्वय था; अतः वह मुगल चित्रकला से उच्चतर प्रमाणित हुआ।"[१]

इस काल में संस्कृत साहित्य की अवनति हुई। अरबी, फारसी, उर्दू, हिन्दी आदि देशीय भाषाओं का विकास हुआ। उर्दू व्यवहार की भाषा (lingua franca) बनी। जनभाषा की महत्ता बढ़ी। अलंकारिक शास्त्री कवीन्द्र रूपगोस्वामी इसी काल के हैं। शृंगार, भक्ति और वेदान्तपरक श्रेष्ठ ग्रंथों की रचना हुई।

---

१. Love, romance and religion were happily symbolised in popular divinities. Thus the Rajput school of painting had so beautifully harmonised and blended the human life and religion that in its spiritual ideology, it because superior to the Moghal art of painting.

—Evolution in Indian Culture, P. 491.

इस काल में प्रथमतः आक्रमणकारियों से घोर संघर्ष हुआ। धीरे-धीरे संघर्ष कम होकर दोनों संस्कृतियों के परस्पर प्रभाव में मेल (harmony), समन्वय (synthesis), सहिष्णुता (tolarance) और सहकार्य से समन्वयात्मक दृष्टि पाकर सामंजस्य आया। समाज में विचारकों के दो भिन्न वर्ग बने। एक बुद्धिवादी पण्डित आचार्यों का वर्ग, जो राजाश्रय, दरबार एवं उच्च वर्ग से सम्बन्धित थे और दूसरा जनजीवन की धारा में भक्तिरस से ओतप्रोत भक्तगणों का वर्ग था।

आचार्य संस्कृत पंडितों की परम्परा पर आभिजात्य जीवन के संस्कार थे, अतः उनकी कला और काव्यचर्चा पर बादशाह की रुचि, दरबारी ठाठबाट एवं समकालीन दर्शन का प्रभाव दिखाई देता है। ये दार्शनिक विचारक उच्चवर्गीय संस्कृति के प्रभाव से बच नहीं सके। पर दूसरी धारा वैष्णव धर्म की भक्ति और प्रेममय मार्ग को अपनाकर तथा दरबारी विलासिता से मुँह मोड़कर मन्दिरों में राधाकृष्ण के युगल-प्रेम में रंग गयी। भक्ति के माध्यम के लिए उन्होंने अपने काल के प्रभावी भाव रति को चुना। जनसामान्य की शृंगार – रुचि को कृष्णभक्ति का उत्कट एवं प्रभावी माध्यम बनाया गया। उस पर आध्यात्मिकता का मुलम्मा चढ़ाकर उसी में जीवनकी सार्थकता मानी गयी।

सामाजिक जीवन में वैचारिक विभिन्नत्व एवं जीवनगत भिन्न दृष्टिकोण का प्रभाव इस काल की काव्यशास्त्रीय चर्चा पर पड़ा है। रसचर्चा का एक प्रवाह संस्कृत पण्डितों और आचार्यों का और दूसरा गौडीय भक्तों का रहा है। रसचर्चा में पर्याप्त परिवर्तन आया। रुय्यक, वाग्भट, हेमचन्द्र, मम्मट, जयदेव, भोजराज, विश्वनाथ, भानुदत्त, रूपगोस्वामी, पण्डितराज जगन्नाथ, अप्पय दीक्षित आदि आचार्यों ने नाट्य और काव्य के सन्दर्भ में चर्चा की। अभिनवगुप्त की स्थापना तथा ध्वनिवादी तत्त्व का आधार ग्रहण कर रस की पुनर्व्यवस्था की गयी।

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाटक के सन्दर्भ में **भरत** और **धनंजय** की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए नाटक का मुख्य आकर्षण रस माना, तथा उन्होंने पहली बार रस की सुखात्मता के साथ दुःखात्मता की चर्चा की। कटु भावों पर आश्रित रसों की अनुभूति दुःखात्मक होती है। उनकी इस स्थापना में इन दोनोंपर जैन दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। मुस्लिम धर्म के कारण भारतीय धर्म आक्रान्त थे, जिनमें हिंदु धर्म के साथ ही जैन और बौद्ध धर्म भी थे। यद्यपि इनकी लोकप्रियता कम थी, फिर भी अपनी सीमा में वे बद्ध थे। **रामचन्द्र गुणचन्द्र** पर जैन धर्म की साधन कठोरता, शरीर को आत्मा का दुश्मन मानना, अपरिमित कष्ट, अनशन, उपवास एवं दुःखमार्ग का अनुसरण करना और प्रत्येक सुख को दुःख का कारण मानना आदि तत्त्वों का प्रभाव अवश्यमेव था। **रुय्यक** ने **महिमभट्ट** का कठोर खण्डन कर ध्वनिविरोध किया और 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' के अन्तर्गत रस का ग्रहण किया। **जयदेव** ने 'चन्द्रालोक' में रस-ध्वनि का महत्त्व प्रमाणित किया। **शारदातनय** शुद्ध रसशास्त्र का ग्रंथ है। काव्य और

रस, शब्द और अर्थ, भाव और रस का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए रूपक-भेदों की चर्चा की गयी और रस को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य माना गया।

इस युग के महान काव्याचार्यों **विश्वनाथ** (१४ वीं शती) और **पण्डितराज जगन्नाथ** (१७ वीं शती) ने रसचर्चा का व्यापक विचार किया। विश्वनाथ के पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलंकार, रीति आदि को काव्य-आत्मा माना था। यद्यपि विश्वनाथ किसी दर्शनविशेष से प्रभावित न थे, अपितु उन्होंने रस की प्रतिष्ठा काव्य में करना उचित माना और रसात्मक काव्य पर बल दिया। उनकी स्थापना में पूर्ववर्ती साहित्यिक विवाद ही प्रधान है। उन्होंने काव्य और नाटक दोनों को ग्रहण कर "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" कहकर अन्य सब तत्त्वों का समाहार रसतत्त्व में माना। साधारणीकरण के संबंध में पूर्ववर्ती मान्यता को महत्ता एवं व्यापकता दी।

आचार्य **धनंजय** ने ध्वनिमत का खण्डन कर केवल नाट्य के सन्दर्भ में आठ स्थायी भावों को मान्यता दी। **अप्पय दीक्षित** ने (१६ वीं शती) व्यंग्य काव्य, उत्तम काव्य का लक्षण माना और ध्वनि काव्य के अन्तर्गत रस को रखकर केवल उल्लेख मात्र किया। रस धारा के अंतिम आचार्य एवं श्रेष्ठ संस्कृत कवि तथा मार्मिक काव्यशास्त्री **पण्डितराज जगन्नाथ** ने आदर्शवादी दृष्टि अपनाकर रसतत्त्व के अंगों-उपांगों की चर्चा की। रसविषयक पूर्ववर्ती सब मान्यताओं के सन्दर्भ में अभिनव का अनुमोदन किया। परंतु दर्शन-भेद से इनकी मान्यताएँ भिन्न एवं मौलिक हैं। शब्दार्थ के बदले रमणीयता को ही काव्य मानकर रसनिष्पत्ति की व्याख्या को 'भग्नावरणचित्' के द्वारा समझाया है। रमणीयता की अवधारणा (concept) उनकी अपनी है; जिस पर समकालीन दरबारी रंगत में रंगी वृत्ति का प्रभाव परिलक्षित होता है। चमत्कार पर विशेष बल दिया है। वेदान्त के पण्डित होने से अद्वैतवादी प्रौढ भित्ति पर रस की स्थापना करने में वे सफल रहे हैं। **पण्डितराज** वेदान्त के दर्शन तथा अन्य कई शास्त्रों के पण्डित होते हुए भी शाहजहाँ के दरबार में सम्मानित थे। अतः शाहजहाँ जैसे विलासमय मुगल बादशाह के समकालीन वातावरणगत कुछ संस्कार उनकी विचारधारा पर अनायास हुए हैं। रस की चर्चा में पूर्ववर्ती समग्र मान्यताओं के बावजूद काव्य को रमणीयत्व का साज चढानेवाले की चेतना मुगल दरबार के विलास, रंगढंग, शान शौकत से रंगी हुई थी। औचित्य की व्यापक भूमि को रसदोषों का मानदण्ड माना। सम्भवतः तत्कालीन सामाजिक हीन स्थिति, एवं बढ़ती हुई अनैतिकता के कारण औचित्य का महत्त्व काव्य के लिए उन्होंने विशेष महसूस किया हो।

भक्ति संप्रदाय से प्रभावित गौडीय वैष्णव आचार्य **रूपगोस्वामी** और **मधुसूदन सरस्वती** ने कृष्णभक्ति के शृंगारमय स्वरूप को ग्रहण कर मधुर रस की प्रतिष्ठापना की और रसचर्चा में अभिनव क्रान्ति ला दी। उज्ज्वल मधुर रस की स्थापना में सब रसों का समाहार माना गया। समकालिक सांप्रदायिक प्रभाव में रसचर्चा मधुर रस से सराबोर

हो जाना आश्चर्य की बात नहीं। तेरहवीं शताब्दी से वैष्णव संप्रदाय की लोकप्रियता के साथ ही राम और कृष्ण के लीला–गान की प्रबल धारा जनता के बीच बही। उसने जनमानस को अत्यधिक प्रभावित किया।

रसचर्चा का अन्य भाषाओं में विकास

हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास (१७ वीं शताब्दी से १९ वीं शताब्दी तक)

संस्कृत में रसचर्चा का पर्याप्त विकास होने के पश्चात् दार्शनिक आवरण में गुँथकर **पण्डितराज** के हाथों रससूत्र का समापन हुआ। सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् मुगल साम्राज्य का ऱ्हास होने पर भारतीय जीवन में अत्यधिक परिवर्तन आया। संस्कृत साहित्य एवं भाषाविकास की अवनति हुई और देशी भाषाओं के विकास को गति प्राप्त हुई।

शिवाजी महाराज ने मुगलों को ज़बरदस्त चुनौती देकर साहस और वीरता से राज्य की स्थापना की तथा हिन्दु धर्म और संस्कृति को प्रतिष्ठा प्राप्त कराई। उनके आध्यात्मिक गुरू समर्थ रामदास ने स्वार्थ और परमार्थ का मार्ग दिखाया। भारत में फिर एक बार स्वसंस्कृति, स्वधर्म, और स्वराज्य की चेतना फूट पड़ी। औरंगज़ेब की कट्टरता को चुनौती देनेवाले पंजाब के अंतिम पातशाह गुरू गोविंदसिंह ने सिख धर्म का विकास किया।

पतनोन्मुखी हिंदु-मुसलमान दरबारों का दूषित वातावरण समाज में फैला हुआ था। उसका फायदा उठाकर अंग्रेजों ने डेढ़ सौ वर्ष तक राज्य किया। अंग्रेज़ी संस्कार, शिक्षा एवं शासन के प्रभाव में भौतिक विकास हुआ। बुद्धिवादियों में सामाजिक एकता, जातिविरोध और राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हुई। सारे समाजजीवन का आधुनिकीकरण (modernisation) होने से नये रीति-रिवाज, विद्या, कला, शिक्षा, साहित्य आदि का नवनिर्माण हुआ।

परन्तु साहित्य निर्मिति और काव्यशास्त्रीय चर्चा को विशेष अनुकूलता प्राप्त नहीं हुई। इस्लामी संस्कृति के अवशेषों के कारण समाज में दरबारी संस्कार का प्रभाव था। रियासतों के आश्रय में कवि अपने को आचार्य मानकर कवित्व की अपेक्षा काव्य-चर्चा की ओर उन्मुख रहते थे। संस्कृत ग्रंथों के आधार पर काव्यशास्त्रीय चर्चा को आगे बढ़ाते हुए अलंकार, रस, रीति आदि का शास्त्रीय व्याख्यान देशी भाषाओं में किया गया।

रसचर्चा के ग्रंथों में इस काल में भी दो धाराएँ रहीं। एक धारा भक्तिरस के प्रभाव में रसादि की चर्चा करती रही। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' रसरीति पर सर्वप्रथम ग्रंथ है। कृपाराम की उक्ति से ज्ञात होता है कि उसने भरत के नाट्यशास्त्र

का आधार ग्रहण किया है[1] । पर **डॉ. मिश्र ने** कहा है, " पर अन्त में स्वाधीनपतिका आदि नायिका के रस भेदों से स्पष्ट होता है कि उसमें भानुदत्त का आधार था, क्योंकि भरत ने केवल आठ भेद किये हैं, दस नहीं । " **नन्ददास** ने 'रसमंजरी' में नायिका भेद का वर्णन किया हैं । 'रसिकप्रिया' में **केशवदास** रस का वर्णन कृष्ण और राधा के सन्दर्भ में करते हुए " नवरस में व्रजराज नित " कहते हैं। रसिकों के लिए ' रसिकप्रिया ' का निर्माण कर उसमें रस को विभावों, अनुभावों और संचारी भावों द्वारा प्रकाशित स्थायी भाव कहा गया है । इस धारा ने नवरसों का विस्तृत निरूपण कर शृंगाररस, नायिकाभेद, सखी, दूती, नायिकाओं के हाव-भाव, नखशिख वर्णन सभी अंगों का सूक्ष्म वर्णन किया ।[2]

इस काल में रस चर्चा व्रजभाषा में अवतरित हुई । आचार्यों की सीमित संकुचित दृष्टि के कारण उसमें मौलिक परिवर्तन नहीं आया । केवल शृंगार और भक्ति रस का निरूपणात्मक एवं अनुकरणात्मक पद्धति से वर्णन किया गया ।

रस चर्चा का आधुनिक स्वरूप :
(१९ वीं शताब्दी से आज तक)

भारतीय इतिहास में यह काल अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पुनर्जागरण (Renaissance) का काल है । पाश्चात्य प्रभाव के साथ अन्य क्रान्तिकारी परिवर्तन आये और भारतीय समाज, संस्कृति और विचारधारा में आमूलाग्र परिवर्तन हुआ ।

पुराने विचारों, प्रथाओं और पद्धतियों के स्थान पर शास्त्र, साहित्य, दर्शन, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि के कारण विचारधारा में अन्तर आया । पूर्ववर्ती रहस्यपरकता, अंधविश्वास, दंतकथाओं का इतिहास तथा राजसत्ता तथा की निरंकुशता के स्थान पर नवोन्नत समाज, राजनीतिक उत्थानपतन और विज्ञानादि के प्रभाव से राष्ट्रीय नवनिर्माण की प्रवृत्ति जगी । विश्वास और श्रद्धा के स्थान पर तर्क (reasoning) और न्याय (judgement), अंधविश्वास के स्थान पर बुद्धिवादिता और विघटन के स्थानपर उत्कट इच्छा (zeal) ने नवनिर्माण की चेतना के बीज बो दिये । इसके फलस्वरूप भारत में १९ वीं शताब्दी के अन्त में रिनेसाँ (renaissance) का काल रहा । परंतु भारतीय पुनर्जागरण अंग्रेजी रिनेसाँ से बहुत भिन्न है, जिसे **श्री. लुनिया** ने इन शब्दों में व्यक्त किया गया है, " आत्माभिव्यक्ति की नई सर्जनात्मक प्रेरणा उत्पन्न

१. ' कृपाराम यों कहत हैं, भरत ग्रंथ अनुमानि ' —
—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास. पृ. ५१

२. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ. ६७–६८

करने के लिए राष्ट्रीयत्व की प्रेरणा पुनः जागृत करने का वह एक प्रयास था। उसमें भारतीय रिनेसाँ को भव्य रूपाकार देने एवं पुनर्रचना करने की प्रेरणा थी। अतः भारतीय सांस्कृतिक जीवन की कायापलट हुई, जिसने पूर्ववर्ती संस्कारों या पृष्ठभूमि को बनाये रखकर उस पर नया आवरण या साज चढ़ाया। [1]

राजनैतिक सर्वव्यापी आन्दोलन ने अंग्रेज शासन को ज़बरदस्त चुनौती दी। आत्मबलिदान और त्यागपूर्ण क्रांतिकारियों की परम्परा बनी। अंग्रेज़ी वस्तुओं का बहिष्कार और बंग आंदोलन से सांस्कृतिक आधारभूमि प्राप्त होकर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को बल मिला। जन आन्दोलन, सत्य, आत्मिक बल,अहिंसात्मक सत्याग्रह तथा नैतिक बल के आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन आगे बढ़ा। मार्क्सकी द्वंद्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली से प्रेरित होकर सामाजिक वर्गहीन समाजरचना करके राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्ती की ओर कुछ क्रान्तिकारियों का रुख हुआ। इस वेगवान बहुरुपी आन्दोलन के फलस्वरूप १९४७ में रक्तपात के बिना स्वाधीनता प्राप्त हुई। रियासतों, सामन्तवाद और निरंकुशता का नाश होकर भारतीय गणतंत्रात्मक संघराज्य की स्थापना हुई।

यह युग राजनीतिक स्वाधीनता आन्दोलन के समसामयिक, सांस्कृतिक,सामाजिक और धार्मिक पुनरुत्थान का रहा है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण समाज में तीन वर्ग उत्पन्न हुए थे। एक वर्ग पाश्चात्य कल्पनाएँ, पोशाक, रीति-रिवाज, विचारधारा आदि को श्रेष्ठ मानता था और पाश्चात्यों का अनुकरण करनेमें महानता मानकर भारतीय संस्कृति के खिलाफ़ दृष्टिकोण रखता था। यह दल (progressive group) कहलाता था। दूसरा वर्ग, जो इसकी प्रतिक्रियास्वरूप जन्मा था और पुरातनवादियों का था, धार्मिक पुनर्जागरणवादी (revivalist group) कहलाता था। तीसरा मध्यवर्ग (middle group), निरपेक्षता एवं होकर तर्कशक्ति के आधार पर प्राचीनता का विश्लेषण कर नवीनता को अपनाने के पक्ष में था। इस वर्ग के कवियों, लेखकों और नेताओं की धारणा अधिक विकसित एवं शुद्ध थी, जिसके कारण स्वच्छंदता की धारा बही।

---

१. It is the attempt of a reawakened national spirit to explore a new creative impulse of self expression that shall give the spiritual force for a magnificant reshaping and reconstructing Indian Renaissance, therefore is the rejuvenation of Indian cultural life that puts on a new garb without completely being arift moorings.

—Evolution of Culture, P. 510

इसी समय धार्मिक आडम्बर एवं सिद्धान्तों की कठोरता तोडकर, ब्राह्मोसमाज, प्रार्थनासमाज, रामकृष्ण मिशन, आर्यसमाज आदि ने हिंदु धर्म की आंतरिक क्षमता बढ़ाई और पुनः परीक्षण करके नयी पृष्ठभूमि पर न्यायसंगत परीक्षण किया।

धार्मिक आन्दोलन सामाजिक सुधारों के संयोजन से ही आगे बढ़ा। कई संस्थाओं ने समाजविकास में मानवीयता की रक्षा कर मिशनरी वृत्ति से धार्मिक और सामाजिक पुनर्घटना एवं पुर्ननिर्माण का कार्य किया। सतीपद्धति, बालविवाह, बहुपत्नीविवाह आदि कुप्रथाएँ बंद कर स्त्री-शिक्षा, समान अधिकार, अन्तर्जातीय विवाह, जातियों में परस्पर खानपान की स्वतंत्रता और उदारता का प्रचलन किया। पर्दा पद्धति हटाने का प्रयास किया। मद्यपान, निरक्षरता, जातिभेद, स्पृश्यास्पृश्यता, दरिद्रता आदि बुराइयों को दूर करके भारत का भौतिक एवं नैतिक विकास किया तथा सामाजिक कर्तव्य के प्रति चेतना (consciousness) उत्पन्न की।

हिंदू धर्म और समाज में विज्ञान के विचारों और राजनीतिक, सामाजिक तत्त्वज्ञान का सापेक्ष समायोजन हो गया। आधुनिक शास्त्रीय विचारप्रणालियों के प्रकाश से हिंदू धर्म और दर्शन को नवीन अर्थ प्राप्त हुआ। नवभारतीय संस्कृति में व्यक्तिवाद का उदय हुआ। व्यक्तिस्वातंत्र्य, विभक्त परिवारपद्धति और मध्यवर्ग के कारण भारतीय जीवनमान (standard of living) में अन्तर आया।

संस्कृत साहित्य के पुनरुज्जीवन के साथ ही विभिन्न देशी भाषाओं का पर्याप्त विकास हुआ। विभिन्न शास्त्रीय, कलाओं और साहित्यिक ग्रंथों के निर्माण के साथ ही विभिन्न विधाओं का सूत्रपात एवं विकास हुआ। बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, शरदचन्द्र, प्रेमचन्द्र, इकबाल आदि कतिपय साहित्यिकों पर सरस्वती का वरदहस्त सिद्ध हुआ। पाश्चात्य विचारों एवं साहित्यिक विशेषताओं और प्रवृत्तियों का पर्याप्त प्रभाव रहा और पाश्चात्यपौरस्त्य प्रणालियों का समन्वय हुआ।

वैज्ञानिक अनुसंधान का विकास होने से विभिन्न शाखान्तर्गत विषयों पर शोधकार्य की वृत्ति बढ़ी। कलाविषयक दृष्टिकोण और सौंदर्यदृष्टि (aesthetic sense) के विकास से कला और साहित्यविषयक रसग्रहणात्मकता भी बढ़ी विभिन्न कलाओं के विकास के साथ ही उनमें नयी प्रणालियों एवं दृष्टिकोणों का उदय हुआ।

परम्परागत विदग्ध-गोष्ठियों की परम्परा अब सभागोष्ठियों, संगोष्ठियों और परिसंवादों के रूप में बची हैं। परन्तु अंकपत्रिकाओं के प्रचलन से साहित्यशास्त्रीय चर्चा को व्यापक, विविधतापूर्ण पर्याप्त अवकाश प्राप्त हुआ और अन्य शास्त्रों के आधार पर साहित्यिक और साहित्यशास्त्र के अध्ययन-आलोचना की नई प्रवृत्तियों और पद्धतियों का उदय एवं विकास हुआ।

आधुनिक भारत के पुनर्जागरण (renaissance) युग के आरम्भ में तर्कवादिता की प्रवृत्ति विशेष थी और पूर्ववर्ती उत्थान एवं आदर्शवादी धारा का आग्रह था। उसके पश्चात् स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों के साथ जीवन की सुरम्यता एवं कल्पनामयता में साहित्यिक रमे। परंतु वर्तमान काल में समसामयिक (contemporary) समाज में व्यक्तिचेतना क्रांतिकारी एवं यथार्थवादी बन गयी। इस प्रकार आधुनिक युग में परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ नित्य ही प्रभावी रहीं। तर्कशीलता सर्वव्यापी व्यवहारविचारों में आमूल परिवर्तन ले आयी। देवत्त्व के बदले मानवत्व की प्रतिष्ठा हुई। मानवता (humanism) का महत्त्व बढ़ा और सारी संस्कृति को यथार्थवादी और परिपूर्ण तथा मानवकेन्द्रित बनाने की प्रेरणा ने मानव की चिन्तनात्मक प्रज्ञा, प्रयोगशक्ति और विचारक्षमता को जाग्रत एवं आंदोलित किया। इस बौद्धिकतापूर्ण सामाजिक पहलू से धर्मनिरपेक्ष संस्कृति की खोज हुई।

किन्तु स्वाधीनता के कुछ वर्ष पश्चात् मानव के स्वप्न भंग हो गये। क्षणवाद ने उसे ग्रस लिया। विकसित विज्ञान के प्रभाव से कृत्रिम एवं यांत्रिक बने जीवन में मनुष्य अपने को कटा हुआ, टूटा हुआ–सा पाने लगा। यांत्रिक सभ्यता, महंगाई आदि ने अनास्था जगाई। राजनीतिक स्थिति ने घोर निराशा उत्पन्न की। बुद्धिवाद के कठोर आघात ने जीवन की निष्ठा और आस्था नष्ट कर दी। मूल्यहीन जीवन के संघर्ष में मनुष्य के मन में 'अलगाव'–सा उत्पन्न हुआ।

इस पूरी परिस्थिति के कारण आधुनिक काल में काव्यशास्त्रीय चर्चा में पर्याप्त उथलपुथल हुई और स्वतंत्र काव्यशास्त्र का विकास हुआ। रससिद्धान्त के परम्परागत स्वरूप पर प्रश्नचिन्ह लगाये गये। भारतीय भाषाओं में, विशेष रूप से मराठी, हिन्दी और बंगला में रसविषयक चर्चा हुई; जिसमें दृष्टिविस्तार तथा मूल्यांकन किया गया।

एक धारा के द्वारा संस्कृत के काव्यशास्त्रीय, रसविषयक ग्रंथों को अन्य भाषाओं में अनूदित किया गया। दूसरी के अन्तर्गत कुछ विद्वान् रसवाद का परम्परावादी निरूपण एवं व्याख्यान करते रहे। तीसरी धारा नवयुग से प्रेरणा ग्रहण करते हुए विभिन्न दृष्टियों से रसवाद की व्याख्या और आलोचना करनेमें जुट गई। विभिन्न शास्त्रों के आधारपर रसवाद का नवमूल्यांकन, परिष्कार एवं परिवर्धन करने की दृष्टि इन विद्वानों ने अपनायी। इस नवीन चेतना ने रससिद्धान्त का पुनर्व्याख्यान और पुनर्विकास करने का प्रयास किया। इसमें रसपरम्परा की पूर्ववर्ती स्थापनाओं की व्याख्या के साथ पाश्चात्य विचारधाराओं, समीक्षाप्रणालियों, नवविचारों के आधारपर रसवाद को कुछ लचीला बनानेका प्रयास किया गया। कुछ पूर्ववर्ती स्थापनाओं के क्षेत्र में शोध की आवश्यकता समझायी गयी। चौथी आधुनिकतम धारा ने रस का सम्पूर्ण विरोध किया।

आधुनिक विद्वानों ने रसनिष्पत्ति और रसास्वाद की समस्या को लेकर विभिन्न दृष्टिकोणों से चर्चा की है। ज्ञान और विज्ञान के चरम विकास के फलस्वरूप तथा विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन के कारण विद्वानों को किसी प्रश्न की ओर देखने या उसका मूल्यांकन करनेके विभिन्न दृष्टिकोण प्राप्त हुए। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, जीवशास्त्र आदि विज्ञान की कई शाखा-उपशाखाओं तथा सामाजिक शास्त्रों ने मानव-जीवन की ओर देखने की नयी दृष्टि प्रदान की। स्थूल आदर्शवादी परम्परा को मान्य करके आगे बढ़नेवाली दृष्टि से निन्तात भिन्न नूतनतम विशेष विचारधारा का स्वीकार एवं आग्रह भी किया जाने लगा। यह नये युग के अनुसार परिवर्तित मानवजीवन के नूतनतम स्वरूप एवं दृष्टि का ही प्रतिफल है। आज किसी भी बात को परम्परा से विभिन्न कर नूतन दृष्टि से आँकनेका प्रयास अभीष्ट माना जाता है। अतएव आधुनिक विद्वानों ने रससिद्धान्त को आप्त प्रमाण न मानकर उसे अपने एक नये दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया। इसमें प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का सरलीकरण या व्याख्यान के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक, नैतिक, दार्शनिक दृष्टि से मूल्यांकन की वृत्ति विशेष रही।

भरतमुनि द्वारा स्थापित स्थायी और संचारी भावों के स्वरूप एवं संख्या के सन्दर्भ में पर्याप्त विवेचन एवं मतभिन्नता प्रकट की गई थी। मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण ही कई विद्वानों ने पूरे रससिद्धान्त को, भाव-विभावादि सामग्री से रसनिष्पत्ति एवं रसास्वाद की प्रक्रिया तक, मनोवैज्ञानिक आधार द्वारा समझाया। 'भाव' को मनोविज्ञान के आधार पर व्याख्यित करनेसे विवाद उत्पन्न हुआ। उसे भावना (feeling), भाव (emotion) या स्थिरभाव (sentiment) कहा गया, जिसके कारण भावसंख्या के प्रश्न पर पर्याप्त मतभिन्नता रही है। रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए अलौकिकत्व और ब्रह्मानन्दसहोदरत्व का विशेष पुनराख्यान किया गया। रस की सहृदयनिष्ठता पर विशेष बल दिया गया। रस के भावमय स्वरूप को महत्ता देकर हृदय की मुक्तावस्था के आधार पर उसे समझाया गया। कुछ विद्वानों ने रस और भाव को एक ही मानते हुए रस के स्थान पर भाव शब्द को स्वीकार किया और "भावगंध" की चर्चा की, आधुनिक काल में प्रथमतः रससिद्धान्त के सब उपकरणों एवं प्रक्रिया को मनोविज्ञान के आधार पर समझाने का प्रयास किया गया और रस का तात्पर्य भावना या इमोशन माना गया। कुछ विद्वान "रससिद्धान्त" को प्राचीन समाज की स्थिति के अनुरूप स्थापना मानकर ऐतिहासिक महत्ता प्रदान करते हैं। उसमें परिवर्तन करना उनको अमान्य है।

प्रगतिवादी समीक्षकों के सम्मुख वर्गहीन समाजरचना, समानता आदि नितान्त सामाजिक दृष्टिकोण होने के कारण उन्होंने रससिद्धान्त को एकांगी, अपूर्ण एवं सामन्तवादी प्रवृत्ति से जनित मानकर त्याज्य घोषित किया। मार्क्सवाद से विशेष प्रभावित होनेके कारण सामाजिक चेतना, लोककल्याण, वर्गहीन समाजरचना, लोक के लिये ही काव्य की

महत्ता आदि धारणाएँ समाज में स्थिरता पा रही थीं। अतः ये विचारक समाजशास्त्रीय दृष्टि से रससिद्धान्त का विचार करने लगे और अपनी विचारधारा के अनुरूप न लगने पर उसका कड़ा विरोध करने लगे। कहीं अपने सिद्धान्तों के अनुसार रससिद्धान्त को मोड़कर उसका व्याख्यान किया गया। कुछ विद्वानों ने रससिद्धान्त को मानवीयता की उच्च भूमि परस्थित करते हुए समन्वयात्मक विवेचन किया है।

परंतु उसके पश्चात् समाजजीवन में जो स्थिति उत्पन्न हुई, उसके फलस्वरूप व्यक्तिचेतना स्वतंत्र, मुक्त एवं यथार्थपरक बनी। प्रयोगवादियों में व्यक्तिगत चेतना, यथार्थता तथा बौद्धिकता के आग्रह की अधिकता थी। परम्परा को तोडने के अति आग्रह के साथ, खण्डित भावराशि और क्षणानुभूति जीनेवाले इन व्यक्तियों ने रस को सर्वथा अस्वीकार किया। इन आलोचकों ने रससिद्धान्त की शाश्वतता को ललकारा तथा सर्वथा अनुपयुक्त घोषित किया। इस प्रकार सर्वथा नूतन सामाजिक स्थिति में आलोचकों की परिवर्तित संवेदना एवं दृष्टि रसवाद को उसी रूप में स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। आज आलोचकों को अधिक से अधिक "अनुभूति" शब्द सहनीय है, 'भाव' नहीं, और 'रस' तो बिलकुल नहीं।

निष्कर्ष रूप में रससिद्धान्त की चर्चा के विकास, उसमें स्थापित नूतन तत्त्वों और उसमें घटित परिवर्तनों पर समसामयिक सामाजिक परिवर्तन, जीवनदृष्टि, कलात्मक चेतना और साहित्यगत विशेषताओं का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। आचार्यों ने अपने समकालीन समाज, दर्शन, कलात्मक सर्जना आदि से प्रेरणा ग्रहण की और समय-समय पर रससिद्धान्त में कुछ परिवर्तन किये गये। रसचर्चा का ऐतिहासिक विकास एक तरह से सामाजिक चिंतन का विकास ही है।

■ ■

चतुर्थ अध्याय

नाट्यरस से काव्यरस की ओर

अब तक रससिद्धान्त की चर्चा के विकास के इतिहास को सामाजिक परिप्रेक्ष्य की कसौटी पर कसकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि समसामयिक सामाजिक परिवर्तित स्थिति ने उसे कितना प्रभावित किया है। परंतु रससिद्धान्त का सूत्रपात एवं उसके क्रमिक विकास की शृंखला पर दृष्टिपात करने पर एक बात सामने आती है कि रससूत्र की व्याख्याओं एवं भाष्यों के प्रवाह में एक समय आया जब नाट्यरस के साथ श्रव्य–काव्यरस की चर्चा होने लगी और अंततः वह प्रधानतया श्रव्य काव्य के संदर्भ तक ही सीमित हो गई। अतः सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नाट्यरस से काव्यरस तक इस स्थलांतरण के कारणों और उनकी पृष्ठभूमि का विशद विचार करना भी आवश्यक हो जाता है। यही इस अध्याय में विवेच्य है।

साहित्यनिर्मिति के साथ-साथ तद्विषयक रसिकवृत्ति का जन्म होता है। साहित्य-सर्जना के साथ ही उसके आस्वादन की क्रिया का भी आरम्भ होता है। अतः सर्जना और आस्वाद में परस्पर अत्यंत निकट एवं स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। शास्त्रीय स्थापनाओं और सिद्धान्त–विवेचन पर साहित्य सर्जना, उसका आस्वाद, साहित्यविषयक चर्चा आदि का प्रभाव होना स्वाभाविक है।

काव्यचर्चा और काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तस्थापना में गोष्ठियों की परम्परा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन काल में आज जैसे मासिक पत्रिकाओं, ग्रंथों आदि के समान लिखित सामग्री के अभाव में केवल मौखिक रूप से काव्य-चर्चाओं का अस्तित्व होना स्वाभाविक था। मौखिक रूप से साहित्यचर्चा की जाती थी, इसके द्वारा साहित्य, काव्यकला, संगीतकला, नाट्य आदिगत समस्याओं को सुलझाने का कार्य संपन्न होता था।

काव्यचर्चा के लिए सामूहिक रूप से चर्चा–सभाओं का आयोजन किया जाता था, जो गोष्ठी कहलाती थी। मानवलोक में ही नहीं, देवलोक में भी गोष्ठियों के होने

का उल्लेख **बाणभट्ट** के 'हर्षचरित' में प्राप्त होता है।[1] देवताओं की गोष्ठी की कल्पना भारतीय कला में एक शिलापट्ट पर अंकित है। इस चित्र में 'ब्रह्मा की गोष्ठी' का दृश्य है। इंद्रादि देवताओं के साथ ब्रह्मा कमलासन पर बैठे हैं और इस सभा में विद्यादि पर चर्चा हो रही है।[2] विद्यागोष्ठी की परम्परा भी प्राचीन भारतीय जीवन में रही है। वैदिक युग में समाज या सभागोष्ठी के रूप में 'समन' का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। 'समान' एक प्रकार का मेला ही होता था। यह परम्परा वैदिक काल से चली आती हुई अबाध गति से प्रवहमान रही। लोकरूचि, साहित्यिक एवं कला-विषयक अभिरुचि, बदली हुई जीवनदृष्टि और साहित्यिक एवं कलाओं की सर्जना के स्वरूपादि से प्रभावित होकर समसामयिक अनुभूति के अनुसार परिवर्तित होती रही है।

गोष्ठियों का विस्तारपूर्वक वर्णन प्रथमतः **वात्स्यायन** के कामसूत्र में मिलता है। तत्कालीन संपन्न एवं समृद्ध समाज के यथार्थ चित्रण के साथ उसमें विभिन्न गोष्ठियों का वर्णन भी है। तत्कालीन समाज में सारी कलाएँ मानवजीवन एवं समाजजीवन में इतनी घुलमिल गई थीं कि वे समाजजीवन का अभिन्न अंग-सा प्रतीत होती थीं। 'कामसूत्र' में उल्लिखित कलाएँ उस काल में उन्नत स्थिति तक पहुँची हुई थीं।

कलाओं का ज्ञान या अभिरुचि होना कुलीनता, गौरव और विद्वत्ता का लक्षण माना जाता था। राजसभा, विद्वन्मण्डली और सभासमाजों के रूपमें विभिन्न गोष्ठियों का आयोजन होता था। वात्स्यायन ने तत्कालीन विदग्ध नागरक के व्यक्तित्व और व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को प्रस्तुत करते हुए समाज-जीवन की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के रूप में गोष्ठियों का उल्लेख किया है।

'गोष्ठी' शब्द 'गोष्ठ' शब्द से उत्पन्न हुआ है तथा उसका अर्थ मण्डल, सभा या एकत्रित आना आदि है।[3] गोष्ठियों के सम्बन्ध में लिखा गया है, 'समानविद्या-वित्तशीलबुद्धिवयसानुरूपैरालापैरेभासनवन्धो गोष्ठी।" तत्कालीन गोष्ठियों का सदस्य नागरक, संस्कृत एवं संपन्न नागरी संस्कृति का प्रतिनिधि है। नागरक शब्द का अर्थ केवल शहर या नगर का निवासी नहीं, बल्कि रईस और संस्कृत मनुष्यों का प्रतिनिधि है। पाणिनि ने कैशिकी वृत्ति के संदर्भ में नागरक का उल्लेख करते हुए कहा है कि

१. हर्षचरित – एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. १२

२. गुप्त आर्ट चित्र १८

३. हिन्दी मानककोश

यह कुशल एवं विदग्ध कलाओं में अभिरुचि रखनेवाला व्यक्ति था। कामसूत्र के 'नागरकवृत्तम्' में इसी नागरक का जीवन वर्णित है।[1]

कामसूत्रकार ने एक सूत्र द्वारा नागरक का लक्षण बताते हुए लिखा है कि वेदाध्ययन के पश्चात् गृहस्थाश्रम को स्वीकार कर अपने वर्ण के अनुसार कार्य करते रहनेवाला नागरक विशेषतः शहर में बसता है। उचित व्यवसाय कर गृहस्थाश्रम में लग जाता है।[2] ऐसे व्यक्ति को शहर में रहकर सज्जनों के संग में अपना जीवन आदर्श बनाना चाहिये।[3] नागरक के जीवन को आदर्श बताकर ग्रामवासियों को बताया गया है कि वे देहात के व्यक्तियों को नागरी जीवन की रोचक घटनाएँ सुनाएँ और नागरक जीवन बिताने के लिए प्रवृत्त करें।

नागरक को **वात्स्यायन** ने 'विदग्ध' विशेषण दिया है। "नागरको विदग्धजनः।"[4] विदग्ध अर्थात् सुशिक्षित, सुसंस्कृत, चतुर, निपुण तथा पण्डित। विदग्ध शब्द वि + दह् से बना भूतकालिक धातुसाधित विशेषण है। अर्थात् यौगिक धात्वर्थ, 'विशेष रूप से भुना हुआ' (well roasted) होता है। परंतु लक्षणा से योगरूढ अर्थ सुसंस्कृत, चतुर, पण्डित, निपुण नागरक बना। प्रकृतिदत्त वस्तु पर मानवकृत प्रयत्नपूर्वक संस्कारों से बननेवाली स्थिति विदग्धता है।[5]

इस विदग्ध नागरक के महँगे शहरी जीवन का विस्तार से वर्णन करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि भोजनोत्तर विश्राम के पश्चात् दिन के तीसरे प्रहर में अच्छे कपडे वगैरह पहनकर वह गोष्ठीविहार या सामूहिक सभा के लिए जाता है जहाँ कला, काव्यचर्चा और काव्यकलाविषयक समस्याओं पर विचार होता है। ये चर्चाएँ अधिक-

१. The whole section of the book is called Nagarakarittam, where he describes the life of a city man, not of a mere dweller in the city - such a person would only a Nagar - but of a Nagaraka, who according to Panini, is a city-bred man, skilled in the arts and knaveries that specially develop in a big city, one possessing the virtues and vice of a cockney, he might be a clever artist or a knave, as the kasika - Vritti so naively explained.

—Social Life in Ancient India, P. 144

२. कामसूत्र, १-४-१

३. कामसूत्र, १-४-१

४. कामसूत्र, १-४-२

५. संस्कृत काव्याचे पंचप्राण, पृ. ७८

तर बौद्धिक होती हैं। रात को वाद्यसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत और नृत्यादि के कार्यक्रमों में वह उपस्थित होता है।[१]

गोष्ठियाँ दो प्रकार की होती थीं। कुछ गोष्ठियाँ दैनिक होती थीं और कुछ नैमित्तिक (occasional)। अपनी दिनचर्या को निभाते हुए काव्य कला चर्चा में सहभागी होनेवाले नागरक के जीवन में नैमित्तिक गोष्ठियों को वात्स्यायन ने पाँच भागों में विभाजित किया है।

समाज, यात्रा और घटा नामक गोष्ठियाँ विभिन्न पूजाविधियों आदि से सम्बन्धित थीं। गोष्ठियाँ सामाजिक सम्मिलन से सम्बन्धित होती थीं, जिनमें स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित रहते थे। उसी समय समस्या-क्रीडाएँ, समपानकम् (बगीचों में एकत्रित आना) (garden parties) सोमपान आदि के एकत्रित समारंभ आयोजित किये जाते थे।[२]

काव्यशास्त्रादि से सम्बन्धित गोष्ठियाँ दो प्रकारकी थीं। इन गोष्ठियों या सभाओं के द्वारा तत्कालीन नागरक का समाजजीवन, कलाभिरुचि, मनोरंजन एवं बौद्धिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का परिचय प्राप्त हो सकता है, अतः समाज और गोष्ठी आदि संस्थाओं का परिचय विस्तार से प्राप्त करना आवश्यक है। **वात्स्यायन** ने इन गोष्ठियों के सदस्यों के बारे में स्पष्टतः उल्लेख किया है कि समान सामाजिक प्रतिष्ठा एवं रुचि रखनेवाले ही एकत्रित होकर सभा सम्मेलनादि में उपस्थित हो जायें।

सरस्वती के मन्दिर में महीने में या पंद्रह दिनों में एक निश्चित तिथि या पवित्र दिन निश्चितता एवं नियमितता से समाज का आयोजन होता था।[३] देवायतन में नागरकों का समूह एकत्रित होता था और सामूहिक नृत्यगान या गोष्ठी हुआ करती थी। एकत्रित होकर वे लोग ऋतु भी मनाते थे। वसन्तोत्सव, जो संपन्नता एवं समृद्धता का प्रतीक माना जाता था, सर्वाधिक धूमधाम से मनाया जाता था। समाज में अनेक नर्तकों, गायकों और कलाकारों को स्थायी रूप से नियुक्त किया जाता था और देवताओं की प्रशस्ति में उनका कार्यक्रम हुआ करता था। अन्य नगरों से आनेवाले कलाकारों के समूह को भी कलाप्रदर्शन का अवसर दिया जाता था और कौशल दिखाने पर दूसरे

---

१. कामसूत्र, २२-२४

२. घटानिबन्धनं गोष्ठीसमवायः समापानकम् उद्यानगमनं समस्या क्रीडाय प्रवर्तयेत्।

—कामसूत्र, सूत्र २६

३. पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्य समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षकमेषां दद्युः।

—कामसूत्र सू. २७

दिन पुरस्कार दिये जाते थे। कभी-कभी विशेष उत्सवों के अवसर पर नागरकों के पारस्परिक सहकार्य से "समाज" का आयोजन किया जाता था। वहाँ स्थायी रंगमंचों की व्यवस्था होती थी। यह जाति, धर्म आदि बंधनों से मुक्त एक सार्वजनिक उत्सव होता था। सब वर्णों के लोगों द्वारा वहाँ सम्मिलित रूप में सरस्वती, शिव और कामदेव की पूजा की जाती थी। यह विशुद्ध रूप में लोकोत्सव ही रहता था जिसमें मित्रता, अनुराग, मनोरंजन आदि के साथ सहकारिता का उदय होता था। रंगमंच पर प्रस्तुत किए जानेवाले नाटक, नृत्य और संगीतादि कलाओं को इन अवसरों पर विशेष महत्ता मिलती थी।

रसिक नागरक अपने या किसी गणिका के घर पर गोष्ठियों में सम्मिलित होता था। विद्या, बुद्धि, संपत्ति, आयु और शील में समान होनेवाले मित्रों और सहचरों के साथ घर में, महफिल में या किसी नागरक के निवासस्थान पर गोष्ठियों का आयोजन होता था। सुयोग्य वेश्याओं के साथ बैठकर भी मधुर मनोरंजन, काव्यसमस्यापूर्ति, मानसी काव्यक्रिया, पुस्तकवाचन और काव्यकलादि बौद्धिक चर्चाएँ होती थीं।[1]

प्रतिभावान कलाकारों या गणिकाओं को निमंत्रित किया जाता था। विभिन्न काव्यसमस्याओं के साथ ही देशभाषाविज्ञान, छन्द, नाटक, आख्यान, प्रतिमाला खेल (छन्द के अंत्याक्षर में छन्द गाना), काव्यक्रिया, साहित्यिक स्पर्धाएँ आदि का अन्तर्भाव इन गोष्ठियों में होता था।

पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी इसमें सम्मिलित होती थीं। अविवाहित लडकियों के लिए काव्य गोष्ठियों या सभाओं में रुचि होना विशेष गुण माना जाता था। इन सभाओं में केवल संस्कृत का ही प्रयोग नहीं होता था, अपितु देशभाषा का भी होता था। देशभाषा और संस्कृत दोनों अधिकार होना नागरक के लिए उचित समझा जाता था।

वात्स्यायन ने दो प्रकार की गोष्ठियों का उल्लेख करते हुए एकको लोकविदिष्टा परमहिंसात्मिका और दूसरी को लोकचित्तानुवर्तिनी कहा है। दुष्ट भाव रखनेवाली और अवांछनीय तत्वोंवाली, सत्तारूढ दल की दलनिन्दा या हानि पहुँचानेवाली गोष्ठियों में न जाने का उपदेश भी उन्होंने नागरकों को दिया है।[2]

१. वेश्याभवने सभायामन्यतमस्योदवसिते वा समानविद्या बुद्धिशीलवित्तवयसां सह वेश्याभिमुखैरालापैरासनबन्धो गोष्ठी। तत्र चैषां काव्यसमस्या कलासमस्या च।
सूत्र ३४, ३५

२. हिन्दी कामसूत्र, देवदत्तशास्त्री (जयमंगल टीका), पृ. १२२

स्पष्ट है कि **वात्स्यायन** जनमानस-पारखी था। सभाओं के अवांछनीय तत्त्वों के उदय का कुछ एहसास उसे भी हुआ था, इसीलिये उसने स्पष्ट सूचना दी है। उसने कहा है कि गरीब-अमीर सभी को उत्सवों में भाग लेना चाहिए, नाटक नृत्यादि केवल मनोरंजक नहीं, बल्कि मोक्ष सहायक एवं पापक्षालक भी है।

इन सभा गोष्ठियों और समाजों के विस्तृत अध्ययन से प्रारंभकालीन काव्यचर्चा के स्वरूप का निश्चित चित्र अंकित करने में सहायता मिल सकती है। यह स्पष्ट है कि नागरकों की दैनिक या नैमितिक गोष्ठियों और सभा-समाजों के आयोजन द्वारा कला, साहित्य, शास्त्रादि विषयों पर बौद्धिक चर्चाएँ होती थीं और समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत किया जाता होगा। तत्कालीन समाज में यद्यपि नागरक श्रेष्ठी रहते थे परंतु समाजों और गोष्ठियों में सामान्य जन और ग्रामवासी भी सहयोगी बन जाते थे। अर्थात् इन समाजों और विदग्ध गोष्ठियों का स्वरूप सार्वजनीन था। सामुदायिक एकत्व (Racial Homogeneity) के दर्शन इनमें होते हैं। काव्यनाट्यचर्चाएँ, समस्याओं पर विचारविमर्श और उनका समाधान, विभिन्न कलाओं का प्रस्तुतीकरण (performance) आदि बातों में विदग्ध नागरकों के साथ सामान्य जनों का भी सम्बन्ध आता था। साहित्य और कलाओं का समाजजीवन में घुला हुआ रूप इससे अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता। स्थायी रंगमंचों का तत्कालीन अस्तित्व नाट्यप्रयोगों की परम्परा का साक्षी है। देशभाषा का प्रयोग सम्भवतः बौद्ध धर्म के प्रभावके कारण था। लोकचित्तानुवर्तिनी सभाओं का महत्त्व अधिक था। स्पष्ट है कि नागरकों की विदग्ध गोष्ठियों में संपन्न एवं समृद्ध नागरक के जीवन को महत्त्व होते हुए भी ग्रामीणों की अवहेलना वहाँ नहीं थी। एक मनुष्य की अपेक्षा समाज, सामुदायिकता, सहकारिता एवं एकत्रितता की महत्ता थी। गोष्ठियों में समष्टिसहित व्यक्ति को ग्रहण कर जीवनादर्श रखा गया था, अतएव समाज में एकत्रित आने का सर्वोत्तम माध्यम ये गोष्ठियाँ ही थीं। जीवनानुभूति का समन्वय गोष्ठियों के स्वरूप में स्पष्टतः दिखाई देता है। काव्यचर्चा का स्वरूप भी संस्थागत होने के कारण उसमें समूहात्मक भावना एवं व्यापक सामाजिक दृष्टि का अन्तर्भाव था।

वात्स्यायन और **भरत** के काल में कुछ अन्तर अवश्य है परंतु भरत के नाट्यशास्त्र में अंकित उच्च एवं अभिजात जीवन वात्स्यायनकालीन जीवन से नितान्त भिन्न नहीं हो सकता। साथ ही नाट्य की लोकप्रियता एवं प्रचलन भी भरत के समय तक बना रहा था। अतः **भरत ने वात्स्यायन** से प्रेरणा ग्रहण की अथवा नहीं इस विवादग्रस्त प्रश्न को छोड देने पर भी इतना तो कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती काल में प्रचलित काव्यचर्चा का स्वरूप एवं परम्परा भरत के काल में भी उपर्युक्त गोष्ठियों के रूप में समान रूप में प्रचलित रही। गोष्ठियों के संस्थागत (Institutional) स्वरूप की विशेषताओं का प्रभाव तत्कालीन काव्यनाट्यचर्चा और रससिद्धान्त पर भी होना

स्वाभाविक था। चर्चाएँ ऐसी ही सभाओं में होती होंगी। काव्य और नाट्य का घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण दोनों विषयों पर चर्चाएँ होती थीं। गोष्ठियों में चर्चित विषयों को देखने पर लगता है कि अवश्य ही काव्य और नाट्य के सन्दर्भ में दो भिन्न धाराओं में चर्चा होती होगी। काव्यक्रिया, क्रीडा, समस्यापूर्ति, छन्दरचना, छन्दपूर्ति के रूप में काव्यचर्चा की स्वतंत्र धारा का अस्तित्व था। नाट्यविषयक चर्चा में सिद्धान्तग्रंथ के रूप में प्रथमतः भरत की ही ग्रंथरचना प्राप्त होती है। उसके नाट्यशास्त्र से पता चलता है कि भरत ने नाट्य पर ही विशेष बल देते हुए रससिद्धान्त की स्थापना की है, पर साथ ही काव्य के अलंकारादि पहलुओं का उल्लेख भी उसमें है।

पूर्वोक्त विवेचन से यह प्रमाणित हो जाता है कि विदग्ध गोष्ठियों के संस्थागत स्वरूप, काव्यचर्चा स्तर, स्थायी रंगमंचों पर प्रस्तुत की जानेवाली नाट्यपरंपरा आदि समकालीन अनुकूल परिवेश का प्रभाव भरत पर था। इसी पृष्ठभूमि पर रससिद्धान्त में नाट्यरस के सन्दर्भ में शास्त्रीय स्थापना का सूत्रपात उसने किया।

सातवाहनादि शासकों के पश्चात् गुप्तसाम्राज्य के उदयतक का काल भरत का पूर्ववर्ती काल रहा है। इस काल में राजनीतिक धूमिलता के बावजूद काव्यगोष्ठियों की परम्परा समाज में बनी रही थी। गुप्तकाल में राजाश्रय पाकर इन गोष्ठियों ने नया व्यापक रूप प्राप्त कर लिया। गुप्तकालीन सुवर्णयुग में राजनीति, धर्म, सामाजिक एवं आर्थिक संपन्नता और साहित्य की समृद्धि के साथ ही व्यक्ति और समाज के जीवन में मनोरंजन एवं ज्ञानसंवर्धन के लिए सभाओं का महत्त्व बढ़ा। नृत्य-संगीतादि के साथ काव्यशास्त्रान्तर्गत चर्चाओं का अन्तर्भाव इन गोष्ठियों में होता था। हर्षवर्धन के काल में गोष्ठियों के अस्तित्व का उल्लेख है। स्वयं राजा रसिक, कवि, कलाप्रिय तथा काव्यशास्त्राभिरुचिसंपन्न होने से कवियों को आश्रय देता था और सम्मान के साथ ऐसी गोष्ठियों का आयोजन करता था। दण्डी के काव्यादर्श, भामह और वामन क ग्रंथों तथा बाणभट्ट के ग्रंथों में समकालीन गोष्ठियों के उल्लेख हैं।

दण्डीके समय काव्यगोष्ठियों को पूर्णतः राजाश्रय प्राप्त हो चुका था। उनमें पौरस्थ कवि और दक्षिणात्य कवि इस प्रकार का भेद था। इसी समय कवि और आलोचक (भावक) की अलग-अलग मान्यताएँ सभागोष्ठियों में प्रस्तुत की जा रही थीं। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर चर्चाएँ होती थीं तथा कवित्वज्ञान की सार्थकता सिद्ध होती थी। भावकों के अस्तित्व एवं सत्ता का प्रारंभ इन गोष्ठियों में हुआ। कविगण भावकों की सत्ता से आक्रान्त तो नहीं हुए थे, परंतु असफल कवि भावक बनकर काव्य-परीक्षक बनने की अभिलाषा रखते थे। दरबार में काव्यपाठ की प्रथा भी प्रचलित थी। काव्यपाठ में सफल न होनेवाले दूसरों के गुणदोष-विवेचन में अपनी प्रतिभा का बल दिखाने की चेष्टा करते थे।[1]

१. काव्यादर्श १-१०५

दण्डी ने काव्यादर्श के आरम्भ में कवि-कर्म के मार्गों और गुणों का उल्लेख किया है। महाकाव्य और सूक्ति-काव्य का पाठ होता था और इन काव्यचर्चाओं, कवियों और गोष्ठियों के प्रति जनता के मन में विशेष आकर्षक बना रहता था। वाणी की परमसिद्धि काव्यरचना में ही मानी जाती थी। इस सन्दर्भ में **दण्डी** लिखते हैं, "बिना कवि हुए या बिना पाण्डित्य के गोष्ठियों में भाग लेना दुर्बलता प्रकट करना था अतः वाणीविदग्धों को सरस्वती से काव्यसम्बन्धी कौशल का अनुग्रह अभीष्ट था। श्रमादुमास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः—से दण्डी का अभिप्राय है कि काव्यरचनासिद्धि प्राप्त होने पर काव्यगोष्ठियों में डटकर जाने में आनन्द आता था और उसी कवि के चारों ओर काव्यप्रतिभा की कीर्ति का प्रसार होता था। इन गोष्ठियों में काव्य के रचना-प्रकार, नये नये सिद्धान्त, अलंकारादि के स्थान पर वाणी के मार्ग और कविमार्ग को महत्ता थी और काव्यव्युत्पत्ति में मर्मज्ञों को विशेष अभिरुचि थी।[1] इस युग में इन्हीं काव्यगोष्ठियों से काव्यप्रयोग, सिद्धान्त आदि सारे जन्म लेते थे। **श्री त्रिपाठीजी** के मत में दण्डी का काव्यप्रयोजन 'कामसूत्र' के नागरक की गोष्ठी-सा था। वे लिखते हैं, "गोष्ठी का आनन्द और अच्छी रचना के लिए साधुवाद का अस्तित्व था। परंतु नागरक की गोष्ठियों से मुख्य भिन्नता इन गोष्ठियों में मुझे यह दिखाई देती है कि राजाश्रय में पलनेवाली इन गोष्ठियों में भावक का अस्तित्व नूतन है जिसके कारण गोष्ठियों का स्वरूप बदल गया। भामह ने विद्याओं का वर्णन करके पंचमी विद्या साहित्यविद्या मानी है।[2] वामन ने युवती के रूप में काव्य में सौंदर्य के बावजूद गुण को महत्ता दी और अलंकार को आभूषण माना। वह काव्य का प्रयोजन कीर्तिआधायक मानते हैं। कवि की मृत्यु के बाद स्वर्गप्राप्ति की आकांक्षा उसने व्यक्त की है।

बाणभट्ट के हर्षचरित का आरंभ विद्यागोष्ठी से हुआ है।[3] इसी समय कई अन्य प्रकार की गोष्ठियाँ प्रचलित थीं जैसे-पदगोष्ठी, काव्यगोष्ठी, नृतगोष्ठी, वाद्यगोष्ठी, काव्यकहानियाँ गोष्ठी आदि।[4] प्रबुद्ध नागरिक इन गोष्ठियों में भाग लेते थे, उनके बुद्धिचातुर्य का परीक्षण इनमें होता था, साथ ही मनोरंजन भी होता था। राजसभाओं में विदग्धों का मण्डल जुटता था जहाँ विद्या, शास्त्र कलादि के विषय में होड़-सी लगती थी। विलासिता, वाक्चातुरी और मनोरंजन के साथ ही विद्याशास्त्राध्ययन एवं कला-प्रियता आदि इन गोष्ठियों में व्यक्त होती थीं।

---

१. काव्यदर्श, १-१०४
२. काव्यमीमांसा, पृ. १०
३. हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. ४
४. हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. १३

इन गोष्ठियों की तुलना पूर्ववर्ती विदग्ध गोष्ठियों से करने पर पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है। एकछत्र गुप्त साम्राज्य में सुख और शांति होने के कारण पूर्ववर्ती श्रेष्ठीयुक्त समाजव्यवस्था के स्थान पर भिन्न प्रकार की समाजस्थिति उत्पन्न हुई थी। गोष्ठियों की स्वरूप-भिन्नता के मूल में वस्तुतः सामाजिक परिवेशगत भिन्नता ही प्रधान है। इस युग में राजा महामानव के रूप में माना जाता था और उसके आश्रित कवि उसकी प्रसन्नता एवं मर्जी संपादन के इच्छुक तथा कीर्ति के अभिलाषी थे। काव्य-रचनाकारों में इस कारण से परस्पर स्पर्धा-भाव वृद्धिंगत हुआ था। एक व्यक्ति की महत्ता बढ़ने के कारण पूर्ववर्ती सामाजिक समष्टिसापेक्ष विदग्ध गोष्ठियों के स्थान पर काव्यचर्चा व्यष्टिपरक बनने लगी। गोष्ठियाँ राजा से सम्बन्धित दरबार के आश्रित कवि, विदग्ध पंडित, दार्शनिक, सामन्त आदि से ही सम्बद्ध रहीं। जनता के सन्मुख सभा-समाजों में सामुदायिक रूप से खुले मंच पर प्रस्तुत किये जानेवाले नाटक-नृत्य या संगीत के स्थान पर राजदरबारों और अंतःपुरों में स्थित मंच पर सीमित प्रेक्षकों और श्रोताओं के सम्मुख कलादर्शन और काव्यपाठ होने लगे। सार्वजनिक स्थल पर संपन्न होनेवाली विदग्ध गोष्ठियों के स्थान पर विशेष उच्चवर्गसमन्वित चर्चाएँ होने लगीं। प्रायोगिकता और लोकपक्ष के स्थान पर व्यक्तिपरकता एवं स्पर्धावृत्ति की प्रधानता बढ़ी। जीवनानुभूति और कलानुभूति में अंतर आने लगा और साहित्यचर्चा में समाजोन्मुखता के बदले दरबारोन्मुखता आयी। दरबारी प्रभाव में श्रव्य काव्य के पाठ की महत्ता बढ़ने से विलासिता, अलंकारिकता एवं विदग्धतापूर्ण काव्य पंक्तियों को प्रभावी वाणी द्वारा प्रस्तुत करके श्रोताओं को आश्चर्यमुग्ध करने की प्रवृत्ति बढ़ी। दरबारों में नाट्य, महाकाव्य जैसे लम्बे आख्यानादि के लिए अवसर कहाँ ? अतः मुक्तकों के सर्जन एवं पाठ का विशेष प्रचलन हुआ। तत्कालीन उपलब्ध साहित्य में भी काव्य, नाटक और मुक्तकों की विपुलता थी। अतएव इस पृष्ठभूमि के कारण श्रव्यकाव्य की प्रधानता के फलस्वरूप रस की चर्चा काव्य के संदर्भ में आरम्भ हुई। भरतमुनि द्वारा प्रस्थापित नाट्य-रस की चर्चा का प्रवाह काव्य की ओर मुडने में समकालीन गोष्ठियों का प्रभाव रहा।

गुप्तकाल के परवर्ती काल में काव्यगोष्ठियों का स्वरूप कुछ विकृत-सा बनता गया। जनता के आमोदमय सम्मेलन, नाट्यप्रयोगादि के स्थान पर दरबारों में कलाकारों, संगीतज्ञों, रसिक कवियों का जमघट होने लगा। दार्शनिकों और विद्वानों का क्षेत्र भी दरबार आश्रय था। साथ ही समाज के उच्च प्रबुद्ध वर्ग पर विभिन्न दार्शनिक मतप्रवाहों का प्रभाव विशेष रहा। अतः काव्यचर्चा के साथ ही दर्शन, अध्यात्म की अति-बौद्धिक चर्चाएँ होने लगीं। फिर प्रत्यक्ष के स्थान पर अप्रत्यक्ष, लौकिक के बदले अलौकिक, स्थूल के बदले अति सूक्ष्म की ओर बढ़ने का प्रयास काव्यशास्त्रियों द्वारा होने लगा। श्रव्य काव्य के सन्दर्भ में रस की चर्चा का आरंभ तो हो चुका था। इन दरबारी

आचार्यों-कवियों, दार्शनिक विद्वानों एवं विचारकों की चिंतनपरकता के कारण काव्यानुभूति में बहुत अन्तर आने लगा और काव्यरस की चर्चा में अधिकाधिक सूक्ष्मता आने लगी।

इस काल की काव्यगोष्ठियों तथा कवि के स्थान आदि के उल्लेख **राजशेखर** की 'काव्यमीमांसा' में प्राप्त होते हैं, जिनसे उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।[1] इस काल में कविशिक्षा को विशेष महत्ता प्राप्त हो चुकी थी। विदग्ध नागरक की दिनचर्या, सार्वजनिक सभागोष्ठी आदि के स्थानपर अब कवि की दिनचर्या, राजा के कर्तव्य, ब्रह्मसभादि का आयोजन आदि पर विशेष बल दिया जाने लगा। कवि की दिनचर्या और राजा के कर्तव्यों के सन्दर्भ में सूचना देते हुए **राजशेखर** ने कहा है, "कीर्ति के इच्छुक कवियों को किन विषयों में सतर्क रहना चाहिए।[2]" कवि-गोष्ठी के सभ्य सदस्य अपनी भाषा एवं संस्कारों की समानता रखें। राजशेखर स्वयं कवि तथा नाटककार था। उसने शास्त्र और काव्य के रूप में साहित्य का विभाजन उसने किया है। 'काव्य-मीमांसा' के दसवें अध्याय में कविचर्या और राजचर्या मुख्य विषय है। कवि की दिन-चर्या का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि भोजन के पश्चात् कवि काव्यगोष्ठी करें। कभी-कभी प्रश्नोत्तर भी करें। काव्यसमस्याओं की पूर्ति, सुन्दराक्षरों का अभ्यास, चित्रबन्धों का निर्माण करें। चौथे प्रहर में अकेले सीमित आदमियों के साथ पूर्वांग में बनाये काव्य की परीक्षा करें, न्यून्य की पूर्ति करें, अधिक का त्याग और परिवर्तन करें। समय समय पर केवल चुने हुए रसिकों की मंडली में काव्य की शोधनपूर्वक परीक्षा करनी चाहिए। अनेक बार रसावेग में विवेक छूटता है।[3] विदग्ध गोष्ठी का महत्त्व जानते हुए उसने लिखा है कि अपनी कृति की जनता के बीच क्या मान्यता है, यह कवि को जानना चाहिए। परंतु जनता तो निरंकुश रहती है, उससे डरना भी ठीक नहीं। स्वयं, अपनी शक्ति को पहचनना चाहिए। कवि के पश्चात् ही उसके काव्य की प्रशंसा होती है। परंतु उसकी कीर्ति का वही मार्ग है। विदग्ध गोष्ठी के कारण कवि की रचना समाज के सम्मुख प्रस्तुत होती है, सज्जन उसकी प्रशंसा करते हैं, एवं बालक, स्त्रियाँ आदि की मुखपरम्परा से उसका प्रचार होता है।[4] गोष्ठियों का उल्लेख करते हुए राजचर्या में वह कहता है कि राजा को कवि होना चाहिये। यदि वह स्वयं कवि हो तो उसे कविसमाज की संस्थापना करनी चाहिये। राजा के कवि होने पर सारा समाज ही कवि बन जाता है। राजा को कविपरीक्षा के लिए सभा... बडे बडे शहरों में

१. काव्यमीमांसा, पृ. १३६.
२. वही
३. काव्यमीमांसा, पृ. ३१
४. काव्यमीमांसा, पृ. ३३

ब्रह्मसभा आयोजित करनी चाहिये और उसमें जो कवि प्रवीण प्रमाणित होंगे, उन्हें ब्रह्मरथयान या पट्टबन्ध देकर सम्मानित करना चाहिए। काव्यगोष्ठी कविसमाज तथा ब्रह्मसभा द्वारा कवि के कवित्व की परीक्षा तथा कीर्ति और यश का प्रचार होता था और राजाश्रय प्राप्त होता था।

'काव्यमीमांसा' के आधार पर यदि तत्कालीन कवि के कर्म और काव्यचर्चा के स्वरूप को निर्धारित करें तो स्पष्ट होता है कि जनरुचि के साथ ही राजा की प्रसन्नता तथा कीर्ति की लालसा ने साहित्यिकों को प्रभावित किया था और अलंकारिकता, वाक्चातुर्य, उक्तिचमत्कार और काव्यस्पर्धा की ओर उन्मुख किया। इस समय की स्थिति को चित्रित करते हुए **डॉ. हजारीप्रसाद** कहते हैं, "इन दिनों नागरक लोग बिन्दुमती और अक्षर पहली से मनोविनोद करते थे; राजदरबार में चमत्कारिक उक्तियों से कवियों को पछाडने का प्रयत्न करते थे, आशुकवित्व द्वारा सभा को चकित करके यशस्वी बनते थे। इस काल में प्रज्ञावान पण्डित परीक्षा के लिये ब्रह्मसभा में उपस्थित होकर सफलता प्राप्त करते थे।[1] ऐसी सभा के सदस्य की विशेषता **श्री. ग. त्र्यं. देशपाण्डे** ने इन शब्दों में व्यक्त की है, "काव्यगोष्ठी, कविसमाज और ब्रह्मसभा इन सभी में सहृदय काव्य का आस्वाद लेता था।"[2]

राजशेखर द्वारा वर्णित कविगोष्ठियों के सदस्यों में भावकों का अस्तित्व प्रमुख था। असफल कवि भावक बन जाते थे। भावकत्व एवं भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा का उल्लेख भी आगे चलकर विशेष होने लगा। जो भावक भी है और कवि भी वह कुकाव्य की रचना नहीं कर सकता।[3] उसने लिखा है कि भावकत्व और कवित्व प्रतिभा से युक्त व्यक्ति विदग्धगोष्ठी में थिरकती हुई सुक्तियों की काव्यरचना करते थे। कृश कवित्व के लिए अवसर पडने पर किसी कवि को चाहे काव्यगुणों से संपन्न बताकर ऊँचा उठा देते वरन् ईर्ष्या से दोषों की जननी करते हुए उसके काव्य को तार-तार करा देते थे। भावकों द्वारा कवि के गुणदोषों का सभागोष्ठियों में प्रचार होने के कारण तथा राजा द्वारा काव्यसभाओं का आयोजन होने के कारण समष्टिपरकता नष्ट हुई। **राजशेखर** ने काव्यगोष्ठी को पाठशाला ही कहा है जहाँ कवि को शिक्षा-दीक्षा मिलती थी। सूक्तिकाव्य से लेकर रसकाव्यतक चर्चा के पाठ वहाँ होते थे। भावक के सम्बन्ध में आचार्य के मत बताकर राजशेखर ने उनके दो नाम बताये हैं। अरोचकी, जिसको कोई भी रचना अच्छी नहीं लगती, और अतृणाभ्यव्यवहारी, ऐसा भावक जो सब पर वाह वाह करता है। **राजशेखर ने** अपनी ओरसे भावकों के और दो भेद

१. साहित्य का मर्म, पृ. ७
२. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ. १७
३. काव्यमीमांसा, पृ. ३१

जोड़ दिये हैं, मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी ।[1] इससे तत्कालीन गोष्ठी के सदस्यों और उनकी चर्चा के स्वरूप की कल्पना करने में सहायता मिल सकती है।

राजशेखर के पश्चात् गोष्ठियों का स्वरुप लगभग उसी रुप में चलता रहा। मुसलमान और मुगल राजाओं के दरबारों में उनका प्रवाह कुछ मन्द पड़ गया और शेर-शायरी और शृङ्गारपूर्ण मुक्तकों की भरमार रही। दरबारों में विद्वानों, कवियों, आचार्यों या गोष्ठियों के बदले संस्कृत ग्रंथों के आधार पर अन्य देशी भाषाओं में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के निर्माण का प्रचलन रहा। कवि ऐसे लक्षणग्रंथों का निर्माण करके आचार्य कहलाते थे। इस काल की काव्यशास्त्रीय सामग्री एवं रीतिकाल के इतिहास से उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित हो सकती है। मुसलमानों और मुगलों के शासन के फलस्वरुप संस्कृत भाषा, साहित्य एवं साहित्यशास्त्र की अवनति होती रही। अतः जिन आचार्यों ने इन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण किया उनपर समकालीन चर्चा के बदले व्यक्तिगत प्रतिभा एवं तर्कशक्ति का प्रभाव अधिक है। सम्भवतः **पण्डितराज जगन्नाथ** के काल तक कविगोष्ठियों का अस्तित्व विद्वान आचार्यों तक ही सीमित था। अन्त में राजाश्रय के अभाव में उनका ह्रास होना भी स्वाभाविक ही था।

उपर्युक्त काव्यगोष्ठियों के स्वरुप-विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भरतमुनि के काल से **पण्डितराज जगन्नाथ** तक विद्वान् काव्यशास्त्री एवं विचारक समकालीन काव्यगोष्ठियों से किसी न-किसी अनुपात में प्रभावित अवश्य थे। गोष्ठियों और काव्यचर्चा के स्वरूप तथा समकालीन सामाजिक परिवेश के अनुसार उनमें नित्य ही परिवर्तन होता रहा और इस परिवर्तन का प्रभाव रस की चर्चा पर अनिवार्यतः हुआ है।

गोष्ठियों के परिवर्तनशील प्रवाह-क्रम में यह देखा जाता है कि नाट्यरस के संदर्भ में चर्चा का रूख काव्यरस की ओर बढ़ने के मूल में भी वस्तुतः समाजस्थिति की ही प्रेरणा है। गोष्ठियों और सामाजिक परिवेश के परिवर्तन के साथ काव्यचर्चा जैसे-जैसे लोक से दरबार की ओर, जनता से राजा या सीमित सदस्यों की ओर बढ़ती गई वैसे-वैसे लोकपक्ष से आत्मपक्ष की, प्रायोगिकता की अपेक्षा कल्पना की प्रधानता होने लगी। भरतकालीन विदग्धगोष्ठी, गुप्तकालीन विद्यागोष्ठी, तत्पश्चात् राजशेखरकालीन कविचर्या, राजचर्या, ब्रह्मसभा एवं कविपरीक्षा और बाद में मुगल शासन के दरबारी शायरों और पण्डितों की परम्परा के पूरे विकास-क्रम को देखने पर उसका पारम्परिक वैभिन्य स्पष्ट हो जाता है। इस पूरे इतिहास के प्रवाह में नागरक गोष्ठियों का स्वरूप परिवर्तित होता रहा और लोकानुवर्तिनी, सामुदायिक एवं संस्था

१. काव्यमीमांसा, पृ. ३४

(institution) के रूप में स्थित, मनोरंजक एवं बौद्धिक व्यापक कलात्मक भूमिका से युक्त विदग्धगोष्ठियाँ, शासकों के रंजन, कवि की कीर्ति एवं यश का साधन तथा परीक्षा और स्पर्धा का स्थल बनकर काव्यपाठ में संपन्न होने लगी। समाज के खुले रंगमच से हटकर अन्तःपुर के सीमित एवं संकीर्ण दायरों में फँस गई; जनतासंपर्क से दूर हटकर विद्वान विचारकों एवं दार्शनिकों के बंधन में आई। उनके सदस्य सामान्य जन, कला-संपन्न, प्रतिभावान विदग्ध नागरक नहीं रहे, अपितु वहाँ सीमित विद्वानों, दार्शनिकों का गुट बना। इस सारे परिवर्तन के फलस्वरूप काव्यचर्चा में नाट्यरस का विलुप्त हो जाना और काव्यरस का उभर आना स्वाभाविक था।

नाटककार, नाट्यप्रयोग, अभिनय और प्रेक्षकादि की महत्ता कम होकर एकांतिक मनोरंजन एवं काव्यपाठ की कुशलता, शृंगारप्रधान मुक्तक काव्य की ध्वन्यात्मकता तथा उक्तिचमत्कार की महत्ता बढ़ी। श्रव्यकाव्य के बढ़ते हुए प्रचलन के फलस्वरूप रसचर्चा करनेवाले विचारकों तथा काव्यशास्त्रियों का एक वर्ग तैयार हुआ। यह उच्चस्तरीय चिंतनप्रणाली से युक्त वर्ग समाज से अधिकाधिक अलगावयुक्त (alienated) बनता गया और रस की चर्चा में विशेषतः आत्मरतता, व्यक्तिगतता एवं सूक्ष्मता आने लगी। सर्वजनसुलभ दृश्य काव्य की अपेक्षा ससंवेद्य, रसमय, ध्वन्यात्मक, सूक्ष्मभावव्यंजक श्रव्यकाव्य को प्रधानता मिली। लगभग बारहवीं शताब्दी में रस की चर्चा नाट्य के संदर्भ में न रहकर वह पूर्णतः काव्यरस में परिणत हो गई। नाट्यरस और काव्यरस का मिलन होकर काव्यरस की चर्चा का ही प्रवाह अखण्ड रूप से बहने लगा। दर्शन के प्रभाव से काव्यरस की चर्चा अध्यात्मपरक दृष्टि के प्रभाव में होने लगी। जनसामान्य को तृप्ति देनेवाले नाट्यरस की अपेक्षा सूक्ष्म एवं भावरम्य हृदयसंवेद्य काव्यरस की चर्चा विशेष होने लगी। प्रज्ञावानों की गहन चिंतनशीलता ने संवेदनक्षम एवं सूक्ष्मतर काव्यरस को ही अपनाया और विभिन्न आध्यात्मिक रूपकों की रचना की गई।

रसचर्चा का प्रवाह नाट्यरस से काव्यरस की ओर मुड़ने में समकालीन काव्य-गोष्ठियों का अत्यधिक प्रभाव उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। इन काव्यगोष्ठियों क परिवर्तित स्वरूप ने काव्य चर्चा एवं सिद्धान्तनिरूपण के साथ ही रस की चर्चा को प्रभाविद किया तथा उसमें कई परिवर्तन लाये गये।

इस परिवर्तन को देखने पर एक अन्य बात सामने आती है कि समकालीन काव्यचर्चा का स्वरूप और सामाजिक स्थिति के प्रभाव-स्वरूप आचार्यों ने काव्य अथवा रस के आस्वाद में विशेष योग्यताओं एवं विशेषताओं की अपेक्षा की है और उसके व्यक्तित्व की अवधारणा भी निश्चित रूप में व्यक्त की है। अतः भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न अवधारणाओं का परीक्षण करना यहाँ अभीष्ट है।

संगीत के लिये श्रोता की, नाट्य, चित्रकला एवं नृत्य के लिये प्रेक्षक की और काव्य के लिये पाठक की आवश्यकता होती है। जैसे रसनिष्पत्ति में कवि का अधिक सम्बन्ध है, वैसे ही रसानुभव में अधिकारी केवल आस्वादक (appreciator) ही होता है। विषयपक्ष में काव्यार्थ की महत्ता होती है, तो विषयी पक्ष में आस्वादक की प्रधानता होती है। रसास्वादक की महत्ता बताते हुए **डॉ. निर्मला जैन** लिखती हैं, "रस एक समूहावलम्बित प्रक्रिया है और रसज्ञ पाठक इस समूह के अंतरंग या काव्यचक्र में कवि और आदर्श पाठक की परम्परावलम्बित स्थिति पर पूर्व और पश्चिम दोनों के मनीषियों ने समान बल दिया है।"[१]

रसास्वाद की महत्ता बताते हुए प्राचीन आचार्यों ने आस्वादक की योग्यता एवं अवधारणा (concept) का व्याख्यान किया है और उसे एक विशेष व्यक्तित्व में ढाला है। समाज के विभिन्न परिवर्तनों के फलस्वरूप जैसे दृश्य या श्रव्य काव्य की महत्ता बढ़ी, वैसे उसे समझने के लिये आचार्यों को योग्य प्रेक्षक, श्रोता एवं पाठक आस्वादक की आवश्यकता प्रतीत हुई। समकालीन सामाजिक स्थिति और संस्कृति, विशेष दार्शनिक मतवाद से प्रभावित होकर काव्यशास्त्रियों ने आस्वादक की भूमिका (role) एवं व्यक्तित्व (personality) की अवधारणाएँ प्रस्तुत की हैं।

रसचक्र की एक-एक आर पर आस्वाद की एक-एक नई भूमिका आती रही है। रसचर्चा के विकसनशील रंगमंच पर आस्वादक विभिन्न व्यक्तित्व—अवधारणाएँ ग्रहण कर मुखौटोंसहित अवतीर्ण होते हैं। आस्वादक की इन भूमिकाओं एवं व्यक्तित्व विशिष्टताओं को आचार्यों ने विशेष शब्दों से अभिहित किया है। उन शब्दों का अपना-अपना महत्त्व है। भरत ने जिसे सुमनस प्रेक्षक कहा था उसी के लिए बाद में 'प्रमाता प्रेक्षक' शब्द, प्रयुक्त हुआ। बाद में सामाजिक, सहृदय, रसिकयोगी, भक्त आदि कई शब्दों द्वारा विभिन्न रूपों में आस्वादक की भूमिकाओं का परिचय मिलता है।

इन सारे आचार्यों, काव्यशास्त्रियों एवं विचारकों ने रसचर्चा के लिए किसी-न-किसी विचारधारा, दार्शनिक मतवाद समसामयिक काव्यचर्चा एवं लोकरुचि से प्रेरणा ग्रहण की और उसके अनुसार प्रतीकों एवं रूपकों की रचना तथा आस्वादक की अवधारणा की है। ये सारे परिवर्तित शब्द एक प्रकार से वैचारिक विकास और सामाजिक मनोविज्ञान के विकास का प्रतीक हैं। इन व्यक्तियों का निर्माण उनकी अपनी प्रतिभा की सूझ भले ही हो, अपितु तत्कालीन सामाजिक जीवन, सांस्कृतिक धारणाओं, विशिष्ट दर्शन, समकालिक जीवनदृष्टि (world view), तथा कलाविषयक लोकमत के मूलगत प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। रसचर्चा के विकास के इतिहास में जैसे-जैसे रसचर्चा नाट्यरस से काव्यरस की ओर उन्मुख होती जाती रही, सुमनस प्रेक्षक से महान

१. रससिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र, पृ. २५१

योगीतक आस्वादक की व्यक्तित्वविषयक अवधारणायें (personality concepts) परिवर्तित हुई हैं। अतः उन्हें सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परखना उचित होगा।

भरत का "सुमनस प्रेक्षक"–भरत की यथार्थवादी दृष्टि ने सामाजिक परिवेश से युक्त मानव को, प्रेक्षक को नाट्यरस का आस्वादक बनाया। विदग्ध नागरक के साथ ही जनसामान्यों एवं सारे वर्णों के लिए पाँचवें वेद का निर्माण करना उनका उद्देश्य था।[1] प्रेक्षक उनके नाटक का अपरिहार्य पक्ष है। कवि, काव्य, नाटक के साथ ही वे नट और आस्वादक को महत्ता देते हैं। अतः उन्होंने यथार्थ के कलात्मक रूपांतरण पर बल देकर नाट्यधर्मी और लोकधर्मी की स्थापना की और अभिनेता नट और प्रेक्षक के आंतरिक सम्बन्ध के प्रत्यक्षीकरण से रसानुभव चित्रित किया है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में स्पष्टतः कहा है, "आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः"। 'सुमनस' का अर्थ होता है, निर्मल मनवाला, अच्छा एवं संस्कारशील व्यक्ति। रससिद्धान्त की मूल भित्ति भावनात्मक और आदर्शवादी होने के कारण संस्कारशील और संवेदनशील प्रेक्षक की अपेक्षा रखना स्वाभाविक था। भरत ने प्रेक्षक की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए कहा है कि बौद्धिक पृष्ठभूमि, कला और साहित्य का ज्ञान, सौंदर्यवर्धक साधनों का ज्ञान, मानसशारीर अवस्थाओं का परिचय, विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों का ज्ञान, एकाग्रता शक्ति, तीव्र ग्राहिका शक्ति, निरपेक्ष बुद्धि, चरित्र तथा संस्कार, अभिनीत वस्तु के प्रति रुचि और तन्मयता की शक्ति उसमें हो।[2] स्पष्ट है कि बौद्धिकता एवं ससंवेद्यता और सौंदर्यदृष्टि की अपेक्षा भरत ने आस्वादक में रसानुभव के लिये मानसिक स्थिति का अनुकूल होना आवश्यक बताया है। विदग्ध नागरकों के जीवन को आदर्शवत माननेवाला ग्रामवासी सुमनस व्यक्ति भी योग्य आस्वादक बन सकता है यह नितान्त व्यावहारिक दृष्टि है। नाट्य में दृश्यत्व या प्रयोग की महत्ता थी, अतः उसके प्रेक्षक के लिये आवश्यक योग्यता भरत को अभिप्रेत रही। भरत के व्यावहारिक दृष्टि को अपनाने के कारण ही हीन बौद्धिक एवं निम्न मानसिक स्तर रखनेवाले व्यक्ति को रसानुभव के लिये अयोग्य बताया है। भरत का प्रेक्षक उसके समकालीन समाज का विदग्ध नागरक है तथा सभागोष्ठियों का सदस्य है। भरत की यह धारणा तत्कालीन संवेदनामय विकसित जीवनदृष्टि और दृश्य काव्य के सन्दर्भ में नाट्यरस की चर्चा से प्रभावित थी। यह सुमनस प्रेक्षक संस्कारशील और संवेदनाक्षम प्रेक्षकसमूह का एक अंग है। अर्थात् इस रूप में भरत ने "जन" को अपनाकर सामाजिक आदर्श व्यवहारवादी दृष्टि का परिचय दिया है। उसकी सामाजिक व्यापक दृष्टि ने समूहविज्ञान को जाना था और समूह का एक अंश (individual in

१. भरत का नाट्यशास्त्र, पृ. ६

२. भरत का नाट्यशास्त्र, अध्याय २७, पृ. ३१२

group) एक व्यक्ति मानकर उसे प्रत्यक्ष अभिनयादि से अभिव्यक्त नाट्यरस का आस्वादक माना था। आदर्श प्रेक्षक की अपनी कल्पना स्पष्ट करते हुए **भरत** कहते हैं, "जो व्यक्ति नाटक या नृत्यादि का अच्छा प्रेक्षक हो वह सब प्रकार से सद्‌गुणशीलता से युक्त हो तभी ठीक–ठीक रसग्रहण कर सकता है। वह शास्त्रों का जानकार, नाटक के छः अंगों का ज्ञाता, चार प्रकार के आतोद्य बाजों का मर्मज्ञ, सब प्रकार के पहनावे का जानकार, नाना देशभाषाओं का पण्डित, सब कलाओं और शिल्प में विचक्षण, चतुर, अभिज्ञ, मर्मज्ञ हो तो ठीक है।"[१] इन लक्षणों के होते हुए भी प्रत्येक दर्शक रसानुभव नहीं कर सकता। "आयु, जन्मजात संस्कार और किसी नाट्यप्रदर्शन को देखते समय दर्शक की मानसिक एवं शारीरिक दशा रस के लिये महत्त्वपूर्ण बाते वे मानते हैं।"[२] भरत की आस्वादक की स्थापना को स्पष्ट करते हुए **डॉ. रमेशकुन्तल मेघ** लिखते हैं, "भरत ने सुमनस प्रेक्षक पर बल दिया है, जो यथार्थ के कलात्मक रूपान्तरण तदनुकूल अन्तरानुभूति (empathy) से प्रत्यक्षीकरण कर सके।"[३]

'प्रेक्षकप्रमाता' – भट्टलोल्लट और शंकुक, भरत के रससूत्र के प्रथम व्याख्याकारों ने विचारधारा को बनायें रखकर ही रसास्वाद की समस्या को ज्ञानात्मक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि पर विवेचित करने का प्रयास किया। रसास्वाद की समस्या को ज्ञानात्मक एवं बौद्धिक स्तर पर तार्किकता की सहायता से सुलझाने के प्रयास के कारण इन्होंने उसके आस्वादक, नाटक के प्रेक्षक के व्यक्तित्व की कल्पना भी प्रमाता प्रेक्षक के रूप में की। आठवीं शताब्दी में भारत में दार्शनिक सिद्धान्तों की जो बाढ़ आई थी, उसमें शंकराचार्य के अद्वैत मीमांसादर्शन और न्यायदर्शन ने विशेष प्रभाव डाला था। तार्किकता और चिंतनपरकता से अधिक प्रभावित होने के कारण इन दोनों ने सुमनस प्रेक्षक को प्रमाता प्रेक्षक बनाया। प्रमाता प्रेक्षक सुशिक्षित उच्च वर्ग का सदस्य था। तर्कशास्त्र के आधार पर दार्शनिक मतवाद के सहारे आस्वाद की ज्ञानात्मक गुत्थी को सुलझाते हुए प्रेक्षक के सन्दर्भ में भरत की अवधारणा (concept) को उन्हें परिवर्तित करना पडा। अतएव ज्ञानानुभव में सक्षम एवं समर्थ, बुद्धिवान प्रमाता प्रेक्षक की व्यक्तित्व-कल्पना सामने आई। यह प्रमाता प्रेक्षक यथार्थ को इंद्रियों के परे अनुमानादि के द्वारा प्रत्यक्षज्ञान (perception) के आधार पर ग्रहण कर ज्ञान की विलक्षणता का अनुभव करने में समर्थ होता है। उनकी इस स्थापना में दृश्यकाव्य का सन्दर्भ एवं यथार्थ दृष्टि भरत के अनुसार ही रही परंतु तार्किकता की कसौटी पर रसास्वाद की समस्या को सुलझाने के कारण प्रेक्षक में विशेष गुणों की आशा की गई। उसमें विशेष बौद्धिक क्षमता तथा ज्ञानप्राप्ति में प्रयत्नवादिता की आशा की गयी। 'सामाजिक' –

१. भरत का नाट्यशास्त्र, अ. २७
२. भरत का नाट्यशास्त्र, अ. २७
३. मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध पृ. १५

प्रमाता प्रेक्षक दसवीं शती में आते-आते पूर्णतः शहरी बन गया। उसके व्यक्तित्व में व्यक्ति और समष्टि का योग करके उसे सामाजिक बनाया गया। **भट्टनायक** ने आस्वादक को "सामाजिक" शब्द से अभिहित किया है।

भट्टनायक सांख्यवादी दार्शनिक विचारों से प्रभावित थे। अतः इनका आस्वादक सांख्यवादी व्यक्तित्व से पूर्ण है। सत्त्व, रज, तम में युक्त होकर रज और तम का निवारण करके सत्त्व की विजय होने में ही उसके व्यक्तित्व की महत्ता है। तत्कालीन कविगोष्ठियों का जो रूप राजशेखर द्वारा 'काव्यमीमांसा' में अंकित है उसके अनुसार असफल कवि 'भावक' बने थे और काव्य का आस्वाद एवं आलोचना करते थे। अर्थात् काव्य के आस्वादन का 'भावक' नामक नया वर्ग तैयार हुआ था। श्रव्यकाव्य की प्रधानता होने के कारण उसका श्रोता भावक आस्वादक विशिष्ट क्षमता से संपन्न माना जाना उचित था। भट्टनायक ने रसास्वाद की प्रक्रिया में 'भावकत्व' और भोजकत्व तत्त्वों की स्थापना एवं व्याख्यान किया और भावना भोगादि शक्तियों की कल्पना कर के आस्वादक के व्यक्तित्व की धारणा में प्राकृतिक एवं दार्शनिक व्यक्तित्व का समन्वय किया है।

भट्टनायक पर समकालीन समाज की स्थिति, काव्यगोष्ठियों का स्वरूप, श्रव्यकाव्य का बढ़ता हुआ प्रचलन एवं दार्शनिक मतवादों का गहरा प्रभाव है। इस पूरे प्रभाव से समन्वयात्मक दृष्टि अपनाते हुए उन्होंने आस्वादक के व्यक्तित्व की अवधारणा स्थिर की। एक प्रकार से व्यष्टि और समष्टि का सम्मिलन इस स्थापना में है। सामाजिक शब्द में समाज का होना अभिप्रेत है। समाज में होनेवाला व्यक्ति अर्थात तत्कालीन समाज का अंश समाजजीवन की विशिष्टताओं के सहित व्यक्तित्व धारण करता है और नाट्यकाव्यादि का आस्वाद करता है। इस व्यक्तिनिष्ठता और समाजनिष्ठता के सम्मिश्रण में भट्टनायक की उदार दृष्टि के साथ अन्तर्मुखी वृत्ति की छाया है। निबिड-निजमोहनिवारण, सविद्विश्रांति जैसी आस्वाद की स्थितियों की धारणा में दर्शन की ओर उनका झुकाव दिखायी देता है, परंतु वे अब तक व्यावहारिक पक्ष से पूर्णतः दूर नहीं हटे हैं।

भट्टनायक के 'सामाजिक' के विषय में **प्रा. ग. त्र्यं. देशपांडे** ने वात्स्यायन की विदग्ध गोष्ठी का संदर्भ देकर लिखा है कि–इस सम्मेलन को 'समाज' कहा जाता था तथा उसमें भाग लेनेवाले सामाजिक कहलाते थे। सामाजिक का नाम लेते ही काव्य का आस्वादक सम्मुख उपस्थित हो जाता है,[1] क्योंकि साहित्यशास्त्र में ये दोनों पर्याय शब्द है, पर उनका कथन उचित नहीं लगता। **भट्टनायक** का आस्वादक 'सामाजिक' इस रूप में साधारण समाज का अंग नहीं हो सकता, क्योंकि उनके काल में काव्यगोष्ठियों का स्वरूप बहुत बदल चुका था। दरबारी वातावरण में काव्यचर्चा एवं रसचर्चा का स्रोत

१. भारतीय साहित्यशास्त्र पृ. ८२

उमड़ पड़ता था। अतः सामाजिक स्थापना उनकी अपनी मौलिक सूझ है। यह सामाजिक जिसके सामने कवि काव्यपाठ करते थे, काव्य का श्रोता एवं नाटक का प्रेक्षक भी होता था। वह आस्वादक सामाजिक **राजशेखर**सूचित बुद्धजीवी है, राजगोष्ठियों की प्रतियोगिताओं में कवि से स्पर्धा करनेवाला हैं। एक ओर साधारणीकरण से निजमोहादिनिवारण और दूसरी ओर निजसंविदविश्रांति ये लक्षण समष्टियुक्तता के साथ ही व्यक्तिनिष्ठता एवं अन्तर्मुखता को व्यक्त करते हैं। अतः **डॉ. रमेशकुन्तल मेघ** के शब्दों में सामाजिक व्यक्तित्व उचित रूप में अंकित हुआ है, **भट्टनायक** के सामाजिक की धारणा आदर्श विश्रांत ध्यानलीन वैश्वक स्व (contemplation universal self) है, जिसे सांख्य का पुरुष कह सकते हैं।[1]

'सहृदय' काव्य का आस्वादक अपनी भूमिकाएँ बदलते हुए काश्मीरी शैव आचार्यों के हाथों आकर सहृदय बना। अभिनवगुप्त द्वारा की गई सहृदय की स्थापना दरबार और अध्यात्म के रंगों से सराबोर होकर अलौकिकता से युक्त बनी और लौकिक धरातल से एकदम ऊपर उठकर अधिक सूक्ष्म, गहरा एवं अलौकिक व्यक्तित्व उसने धारण किया।

इस काल में नाटक का महत्त्व बिलकुल कम होकर श्रव्यकाव्य की प्रधानता हुई थी। दरबार में प्रस्तुत किया जानेवाला व्यंजकतापूर्ण, उक्तिचमत्कारों से परिपूर्ण काव्य काव्यशास्त्रियों के सन्मुख था। काव्यगोष्ठियाँ भी दरबार में पलती थीं, अतः काव्य के श्रोता में काव्य समझने की क्षमता, योग्यता एवं प्रतिभा होने की अपेक्षा की गई और मानसिक संस्कार की अपेक्षा बौद्धिक संस्कार को महत्ता मिली। आनन्दवर्धन ने भी काव्य के आस्वादक सहृदय को महत्ता दी थी। अतः कुछ विद्वान "सहृदय" की धारणा के निर्माण, व्याख्यान एवं प्रचलन का श्रेय आनन्दवर्धन को देते हैं। अभिनवगुप्त ने सहृदय में जन्मजन्मान्तर के वासनासंस्कार, पाण्डित्य और प्रतिभाशक्ति को महत्ता दी और आस्वादनप्रक्रिया में विघ्नहरण, हृदयसंवाद जैसे शब्दों की योजना की। श्रव्य काव्य की प्रधानता के कारण आस्वादक-सहृदय में कई विशेषताओं की अपेक्षा की गई। उसके व्यक्तित्व को सामान्य योग्यता से युक्त नहीं बल्कि विशेष योग्यता, शक्ति रखनेवाला व्यंजित किया गया। श्रव्य काव्य को सुनने, समझने तथा अनुशीलन करने की शक्ति की आवश्यकता होती है। श्रव्य काव्य में दृश्यकाव्य-सी प्रत्यक्षता एवं सुलभ रसग्रहण की प्रक्रिया न होने से पूर्वसंस्कार की महत्ता होती है। उसका बार-बार अनुशीलन करना पडता है। अर्थात् सहृदय की अवधारणा में काव्यानुशीलन-कुशलता, बौद्धिक उच्चता एवं संस्कारशीलता की अपेक्षा करना स्वाभाविक था। इस स्थापना में समष्टिपरकता की अपेक्षा व्यक्तिनिष्ठता को महत्ता मिली।

१. मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध पृ. १२६

अभिनवगुप्त का सहृदय भरतमुनि के सुमनस प्रेक्षक से नितान्त भिन्न माना गया। इन दोनोंमें ऊपरी तौर से समानता दीखने के बावजूद पर्याप्त भिन्नता है। सुमनस प्रेक्षक से लगभग हज़ार वर्ष बाद सहृदय की अवधारणा स्थापित की गई। भरत की यथार्थपरक दृष्टि, नाट्यरस का सन्दर्भ एवं समष्टिपरकता के स्थान पर काव्यरस के साथ ही दरबारी छाप और दार्शनिक मतवाद से कारण अभिनवगुप्त प्रभावित थे। अतः उन्होंने सहृदय में तीन विशेषताएँ मानी हैं। सहृदयत्व अर्थात् भावनाओं का होना, विमलप्रतिभाशाली व्यक्तित्व अर्थात् प्रतिभा का होना और विमल मनोमुकुर-पूर्वग्रह से रहित साफ़ मन होना आवश्यक माना गया है। श्रव्य काव्य के आस्वाद के लिये इन गुणों की नितान्त आवश्यकता उनको प्रतीत हुई। रस की चर्चा का सन्दर्भ बदल जाने के कारण अब सुमनस प्रेक्षक से आस्वादक के कार्य का निर्वाह नहीं हो सकता था। अतः काव्यास्वाद के समय व्यंग्यार्थ समझने के लिये ज्ञान की सापेक्षता में प्रतिभा का होना, पूर्वसंस्कारों का अस्तित्व भी आवश्यक था। अतः मुकुल के समान पवित्र मन होने का आग्रह किया गया।

कुछ विद्वान मनोमुकुर की पवित्रता का सम्बन्ध तंत्रवाद के नैर्मल्य से लगाते हैं।[1] सहृदय कवि के समान हृदयवाला हो, जिसके कारण हृदयसंवाद करने की क्षमता उसमें हो। तन्मयीभवन की क्षमता ही हृदयसंवाद करा सकती है। अतः "कविः सामाजिक तुल्य" कहते हुए अभिनव ने सहृदय को भी कवितुल्य होना घोषित किया है। सहृदय की सारी विशेषताओं का उल्लेख **अभिनवगुप्त** के इन शब्दों में है,

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे
वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवाद भाजः सहृदयः।[2]

अभिनवगुप्त की धारणा पर तत्कालीन दरबारी काव्यपाठ एवं श्रव्य काव्य की महत्ता के अतिरिक्त दार्शनिक प्रभाव अधिक था। **डॉ. निर्मला जैन** उनकी सहृदय की धारणा पर शैवदर्शन का प्रभाव मानते हुए लिखती हैं, काश्मीर शैव परम्परा में सहृदय शब्द की लोकप्रियता का एक प्रमाण तो यही है कि ग्रंथों के नाम तक "सहृदयदर्पण," "सहृदयालोक" अथवा "सहृदय-हृदयालोक" जैसे हुआ करते थे। अनेक प्राचीन ग्रंथों में ध्वन्यालोक को "सहृदयालोक" और "सहृदय-हृदयालोक" भी कहा गया है। अभिनवगुप्त ने "लोचन" में आनन्दवर्धन को सहृदय-चक्रवर्ती नाम से सादर स्मरण किया गया है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि ध्वनिकारिकाओं के निर्माता का नाम सहृदय था।[3]

१. रससिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र, पृ. २४१
२. ध्वन्यालोकलोचन, पृ. ३९–४०
३. रससिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र, पृ. २४१

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन काव्यचर्चाओं और राजगोष्ठियों में होनेवाली चर्चाओं में काव्य के आलोचक और काव्यशास्त्री आचार्य की दुहरी भूमिका सहृदय को निभानी पड़ती थी। सहृदय की धारणा पर पाण्डित्य की महानता, दरबारी वातावरण की प्रधानता, श्रव्यकाव्य की महत्ता और दर्शन के महत्त्व का प्रभाव अवश्य ही है। आत्मतत्त्व को प्रधानता देकर **अभिनवगुप्त** ने सहृदय की धारणा में अध्यात्मवादी व्यक्तित्व में दरबारी व्यक्तित्व को मिला दिया और रस का समन्वय चित्त-वृत्ति, आत्मन, आनंदरूप, भग्नावरण आदि से करके सहृदय के रूपक द्वारा आत्म-चैतन्यरूप ब्रह्मानंदसहोदर का आस्वादन सिद्ध किया और रसना तथा चर्वणा का अधिकारी बनाया।

इसके पश्चात् आस्वादक के व्यक्तित्व की बिलकुल भिन्न अवधारणायें प्रस्तुत की गयीं। एक ओर राजदरबारों में पली काव्यचर्चाओं को रसिकता से ग्रहण करनेवाला काव्यरसिक योगी बना और दूसरी ओर दरबार से बिलकुल दूर वैष्णव भक्ति के प्रांगण में वही आस्वादक भक्त बन गया। सामन्तवाद के सच्चे प्रतिनिधि राजा भोज ने श्रृंगार को एकमेव रसराज का स्थान देकर उसके अधिकारी आस्वादक को 'रसिक' का नामाभिधान किया। रसिक वही हो सकता है जो अहंकार से युक्त हो।

रसिक का व्यक्तित्व राजविलासी जीवन में पला हुआ है। संपन्न सम्राट के निरंकुश शासनाधिकार और अभिमान से परिपूर्ण दृष्टिकोण से इस व्यक्तित्व की अवधारणा स्थिर हुई है। यह अहंकार भी जन्मजन्मांतर से प्राप्त होता है। पूर्वजन्मसंस्कार से उद्बुद्ध अहंकार को भोज ने श्रृंगार के अन्तर्गत स्थान दिया और तदनुसार राजविलासी जीवन एवं भोग का प्रभाव 'रसिक' के व्यक्तित्व पर परिलक्षित होता है। **डॉ. राघवन** सहृदय के साथ 'रसिक' के व्यक्तित्व की तुलना करते हुए रसिक की विशेषता व्यक्त करते हैं, "**भोज** द्वारा 'रसिक' शब्द केवल काव्य या नाट्य के आस्वादक के अर्थ में नहीं बल्कि एक विशेष मनुष्य के रूप में प्रयुक्त है। 'रसिक' शब्द द्वारा मानव के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता का सन्दर्भ-निदर्शन है और समाज में 'नीरस' कहे जानेवाले व्यक्ति से अपने को भिन्न एवं श्रेष्ठ सिद्ध करनेवाला है।"[१]

१. The word Rasika did not simply mean the man in the state of an enjoyer of poetry, or drama, but was applied by Bhoja, to man as man. That is, it is an attribute referring to same excellence in man's personality which goes to make up the grace that distinguishes his behaviour in society from another, who is called 'Nirasa'.

Bhoja's Shringara Prakash, P. 466.

यह रसिक भरतमुनि के सुमनस प्रेक्षक, प्रमाता प्रेक्षक अथवा सामाजिक आदि से भिन्न है। वह 'सहृदय' से कुछ मिलताजुलता परंतु अपने सामन्ती युग की सीमाओं में बँधा व्यक्तित्व है। सामन्ती वातावरण में श्रृंगार रस से प्लावित मुक्तक काव्यपंक्तियों का रसपान रसिकता से करनेवाले आस्वादक का यह व्यक्तित्व था।

एक ओर से रसिकश्रेष्ठ आस्वादक का प्रवेश रसचर्चा के मंच पर हुआ और दूसरी ओर से भक्त साधक के रूप में वह अवतीर्ण हुआ। वैष्णव भक्तों ने संपूर्ण रसचर्चा को ही भक्ति के रंग में सराबोर कर दिया और मधुर रस की स्थापना की। शिवशक्ति और राधा-कृष्ण आदि युगलों के वर्णनों से युक्त काव्यपंक्तियों से टपकनेवाली रस की बूँदों का पान करनेवाले आस्वादक के व्यक्तित्व की अवधारणा भक्ति एवं श्रद्धा से युक्त साधक के रूप में की जाना सर्वथा स्वाभाविक था। साधना और सिद्धि के नितांत सामन्तवादी ऐश्वर्यात्मक रसिकतापूर्ण धारणा के विपरीत आत्मरत श्रद्धावान भक्त का व्यक्तित्व है। इसमें न मुक्ति है, न भोग, न समाधि, न विश्रांति।

भोज के समकालीन रसिक आस्वादक का, विश्वनाथ के रसिक काव्यमर्मज्ञ क रूप का परिष्कार होते हुए दरबारी प्रभाव के साथ ही वेदांत के अतीव प्रभाव ने उसें '**रसिकयोगी**' बनाया। इस नामाविधान में विरोधाभास (paradox) प्रतीत होता है, पर काव्यरस की पूर्ण प्रतिष्ठा होने के पश्चात् शाही दरबारी जीवन के निरंकुश शासन के परिवेश में पले सुंदर, रमणीय एवं अलंकारिक काव्य का आस्वादक रसिक तो था ही, साथ ही पण्डित भी। अतः इस काल का आस्वादन केवल रसिक नहीं रहा, पाण्डित्य से युक्त वेदान्ती पण्डित बना था। योग और शृंगार के मिलन से मांसलता, स्थूलता और देशकालयुक्त नवचैतन्य से समन्वयपूर्ण अजीब व्याक्तित्व की अवधारणा इस काल में हुई। यह विरोधाभासात्मक दो रूपों के सम्मिश्रण की अवधारणा का स्वरूप अर्धनारीश्वर के रूप की स्मृति जगाता है। शाही दरबार के अन्तर्मुखी व्याक्तिवाद एवं अध्यात्म के स्वयंप्रकाशी वेदान्त के कारण इस व्यक्तित्व में एक ओर सौंदर्याकर्षण, कलाभिरुचि, रमणीयता में रमने की वृत्ति, मादकता, ऐन्द्रियकता, स्थूलता, मांसलता आदि बाह्य रूपाकर्षण है और दूसरी ओर वेदान्ती स्वयंप्रकाश, ब्रह्म, आत्मा के रूप में देशकालयुक्त चैतन्य के अखण्डत्व और विलक्षण चमत्कारादि की झलक भी परिलक्षित होती है।

आस्वादक की उपर्युक्त विभिन्न व्याक्तित्वधारणाओं के दिग्दर्शन के उपरान्त निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समकालिक सामाजिक स्थिति, बाह्य परिवेश, युगीन प्रभाव, साहित्य के स्वरूप और दार्शनिक मतवादों के प्रभाव के फलस्वरूप रसचर्चा के सन्दर्भ में विभिन्न प्रतीक एवं रूपक अपनाये गये और रसचर्चा का स्वरूप अधिकाधिक सूक्ष्म बनता गया। साथ ही इस प्रभाव ने रस के आस्वादक के व्यक्तित्व की अवधारणा (personality concept) को परिवर्तित किया है। एक ओर इस प्रभाव ने

आस्वादक के व्यक्तित्व को स्पष्ट, सूक्ष्म एवं प्रौढ बनाने में सहाय्यता दी, दूसरी ओर उसका लौकिक पक्ष छूटता गया और व्यक्तित्व की अवधारणा अधिकाधिक वायवी, सूक्ष्म और उलझनभरी बनती गई और प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण से हटकर व्यवहारवादी यथार्थ से परे आध्यात्मिकता एवं आदर्श में साकार होने लगी। इस व्याख्या के प्रवाह में सामन्तवादी परिवेश के प्रभाव ने उसे सामान्य सामाजिक से ऊपर उठाकर रसिक बनाया और फिर उसका अध्यात्मवादी सहृदय और वेदान्त योगी में परिवर्तन हो गया। नाट्यरस अदृश्य होकर काव्यरस की चर्चा का प्रवाह आगे बढ़ा। उसकी प्रवहमान धारा ने लोकजीवन से संबद्ध सुमनस प्रेक्षक का स्थान दूर हटकर सामन्ती वातावरण में पलनेवाला और अध्यात्मवादी आकर्षण से परिपूर्ण आस्वादक बना।

■ ■

पंचम अध्याय

रस के देवता और वर्ण

रससिद्धान्त में स्थापित रसविषयक चर्चा के अंतर्गत एक विशेष बात दिखाई देती है कि प्रत्येक रस का एक देवता और निश्चित एक वर्ण बताया गया है। इन देवताओं एवं वर्णों के नामाभिधान का उद्देश्य एवं अर्थ क्या हो सकता है और इनका प्रत्यक्ष रस के स्वरूप से कुछ सम्बन्ध हो सकता है या नहीं ये बातें इस सम्बन्ध में विचारणीय हैं। इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिये प्राचीन दैवतशास्त्र का आधार ग्रहण करके तत्कालीन विकसनशील सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में देवताओं के व्यक्तित्व का अध्ययन करना मनोरंजक होगा। तथा इस दृष्टि से देवताओं की योजना तथा सामाजिक मनोविज्ञान के आधार पर वर्ण की स्थापना का अध्ययन करना इस अध्याय का लक्ष्य है।

दैवतशास्त्र (Mythology) मानव के सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित शास्त्र है। मानव के संस्कारशील सामाजिक जीवन से दैवतशास्त्र का संपर्क अन्य शास्त्रों की अपेक्षा निकटतम है। साथ ही साहित्य के साथ उसका सम्बन्ध भी अपरिहार्य है। दैवतशास्त्र के अन्तर्गत कतिपय दैवतों या पुराकथाओं (Myth) का अंतर्भाव होता है। मानवजीवन की आदिकालीन स्थिति से देवकथाएँ उसके जीवन में अहं स्थान पा चुकी हैं। मिथक का जादू सनातन होता है क्योंकि मनुष्य के शैशव के इतिहास और मानव के सामूहिक अनुभव एवं सामूहिक स्वप्न भी मिथ के रूप में साकार होते हैं। आदि मानव की कबीला-संस्कृति में भी देवकथाओं का अस्तित्व था। सम्भवतः उनका पूर्ववर्ती रूप जादू का-सा था। परंतु पुराकथा या देवकथा अपनी लोकप्रियता के कारण युगीन समाज एवं साहित्य को प्रभावित करती हैं। प्राचीन काल से आज तक साहित्य में किसी-न-किसी रूप में दैवतकथा (Myth) का अस्तित्व रहा है। आज तो पश्चिम में समीक्षा-शास्त्र के अंतर्गत भी मिथकीय समीक्षा (Mythic Criticism) का विशेष प्रचलन है।

देवकथाओं के विषय में समाजशास्त्र, मानववंशशास्त्र, दैवतशास्त्र एवं समाज मनोविज्ञान के कतिपय मनीषियों ने पर्याप्त विचार एवं विवेचन किया है। **युंग** ने इसे सामूहिक अवचेतन का अभिधान देते हुए लिखा है, "प्रकृति की काल्पनिक कथाएँ अथवा वर्णन किसी समूहविशेष के जीवन और संस्कृति का परिचय देते हैं जबकि मिथक उस समूह के मूलभूत श्रद्धाओं, विश्वासों, एवं मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं।"[१] अर्थात् पराकथाएँ या वर्णन पूर्णतः काल्पनिक ही होते हैं, अपितु वे किसी समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। परंतु नृतत्वशास्त्री मॅकिनोव्हस्की पराकथाओं को काल्पनिक मानने के लिये तैयार नहीं हैं। **युंग** का कथन है कि, "आदिम लोगों के समान हमें भी मिथक अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण का वास्तविक और प्रत्यक्ष अंग प्रतीत होते हैं।"[२] अवश्य ही प्राचीन लोगों के लिये पराकथा अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का एक अंग और सत्यरूप ही प्रतीत होती हो, जैसे आज हमें भी होती है। हर समाज में और हर काल में पराकथाओं का न केवल अस्तित्व था बल्कि समकालीन समाज पर उनका अत्यधिक प्रभाव रहा होगा और समकालीन स्थिति भी पराकथाओं में कुछ परिवर्तन भी लायी होगी।

फ्राइड ने मिथक और प्रतीक (Myth and Symbol) के सहअध्ययन का प्रवर्तन किया और अवचेतन की अवधारणा स्थिर करके, इच्छाओं की पूर्ति के रूप में स्वप्नव्याख्या के सन्दर्भ में पराकथाओं की चर्चा की है।

मिथक और पराकथा का समाज और संस्कृति से अभिन्न सम्बन्ध है। सामाजिक परिवेश, विभिन्न इच्छाओं, कल्पनाओं, प्रथाओं आदि से निसृत सामाजिक अवचेतन के रूप में पराकथाओं का नित्य ही अस्तित्व है। इससे यह प्रमाणित होता है कि पराकथाओं का मूलोद्गम प्रकृति नहीं, बल्कि मानवसमाज ही है। सांस्कृतिक जीवननिर्माण की प्रक्रिया में मिथकों का महत्त्व अधिक है। मिथक में सभी मनुष्य के सामाजिक जीवन के अमूर्त (abstract) बिम्ब मिलते हैं। **डॉ. रमेशकुन्तल मेघ** मिथकों के सामाजिक महत्त्व का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, "मिथकों का सम्बन्ध कर्मकाण्ड (ritual) में उभरा था। अतः मिथकों का मॉडल प्रकृति न होकर

१. "...as stories and descriptions of an imaginative nature, which provide a group with the meaning of their life and culture, Myths represent the fundamental beliefs, convictions and values of group,"

— A Handbook of Social Psychology, P. 562.

२. With us, as with primitive people, myths are real and actual part of the social and cultural environment.

— Ibid; P. 262.

आदिम समाज रहे हैं। नृतत्वशास्त्र के लिए मिथक जीवन उपजीव्य है। मिथक के सभी बुनियादी प्रयोजनों में मनुष्य के सामाजिक जीवन के अमूर्तीकृत (abstract) बिम्ब झिलमिलाते हैं, इसलिए प्रत्येक युग में और विशिष्ट सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में ऐतिहासिक मनुष्य मिथक के आदिम स्रोत के पास जाते रहे हैं।[1] मिथकों के रूप में आदि मानव की इच्छापूर्ति व्यक्त हुई है। प्राचीन काल में प्रकृति पर विजय की कल्पित कामना का कार्य जादू ने किया। आगे चलकर उसीने मिथक का रूप धारण किया। मिथकों के साथ कभी-कभी नैतिकता का सम्बन्ध भी जोडा जाता है, परंतु वह उचित नहीं लगता क्योंकि पराकथाओं का आरम्भ आस्था (faith) से हुआ है और उनका समसामयिक संदर्भ भी नित्य बदलता रहा है। डॉ. मेघ तो हमारे कई सौंदर्यशास्त्रीय रहस्यों की मूलशक्ति मिथकों को ही मानते हैं, वे मिथक के तर्कपूर्ण विचारों को काव्यशास्त्र में गर्भित भारतीय दर्शन के ब्रह्म और काव्य के रस में भी व्यक्त मानते हैं।[2]

भारतीय दैवतशास्त्रान्तर्गत देवताओं का उदय वैदिक दैवतशास्त्र से ही माना जाता है। वैदिक दैवतशास्त्र ही वस्तुतः भारतीय संस्कृति का आरम्भबिन्दु है। वह मुख्यतः इन्द्रप्रधान है। उसमें कतिपय देवताओं की कल्पनाएँ अन्तर्भूत हैं, जो आगे चलकर संस्कृति का आधार रही हैं। दैवतशास्त्र के अध्ययन की ओर आज अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है और उस अध्ययन की प्रधानता तीन दृष्टियाँ रही हैं। प्रकृतिवादी दृष्टिकोण (Naturalistic Interpretation of Vedic Mythology) वैदिक देवताओं के निर्माण में प्रकृति को विशेष महत्ता देते हुए देवताओं को विभिन्न प्रकृतिशक्तियों के निदर्शक मानता है। ऐतिहासिक दैवतशास्त्र (Historical Mythology) ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर विचार करते हुए देवताओं का स्वरूप एवं स्थान निश्चित करता है। परंतु तीसरा दृष्टिकोण विकासवादी दैवतशास्त्र (Evolutionary Mythology) का है जो अधिक सबल एवं ठोस प्रतीत होता है। विकसनशील दैवतशास्त्र की महत्ता समझाते हुए संस्कृत के एक विद्वान **डॉ. रा. ना. दाण्डेकर** लिखते हैं, "वैदिक दैवतशास्त्र विकसनशील है, अतः जीवंत है, गतिमान है-केवल जड या स्थितिमान नहीं। वेदकालीन सांस्कृतिक इतिहास के स्थित्यंतर के साथ अनिवार्यतः वैदिक दैवतशास्त्र में भी परिवर्तन हुए हों और इसी परिवर्तन के फलस्वरूप किसी देवता के व्यक्तित्व में दिखाई देनेवाले परस्परसंबंध एवं परस्पविरोधी अंश हैं। उन अंशों को पौर्वापर्य संयुक्तिक रीति से निश्चित करना और उसके अनुसार उस देवता के व्यक्तित्व का विकास कैसे घटित हो गया होगा और क्यों हो गया होगा यह

१. वातायन, अप्रैल १९६७, पृ. ५२

२. वातायन, अप्रैल १९६७, पृ. ५४

सम्भवतः वस्तुनिष्ठ पद्धति से विवेचित करना अत्यंत आवश्यक है।[1] इसी दृष्टिकोण से दैवतशास्त्र को परखा जाय जो कई तथ्य सामने आते हैं और स्पष्ट होता है कि मानव के जीवनविकास एवं समाज परिवर्तन तथा संस्कृतिविकास के साथ देवताओं के सन्दर्भ में कल्पनाओं, उनके रूपों में एवं अवधारणाओं में समय-समय पर परिवर्तन आ रहे होंगे। अतः साहित्यशास्त्रान्तर्गत देवताओं का विचार करते हुए विकसनशील दैवतशास्त्र की दृष्टि अपना कर यह देखना होगा कि भारतीय साहित्य परम्परा में स्वीकृत पराकथाओं का और देवताओं की अवतारणा का निर्माण एवं विकास कैसे हुआ है।

भारतीय साहित्य में मिथकों की परम्परा प्राचीन काल से रही है। प्राचीन धार्मिक और अन्य साहित्य में मिथकों की कल्पनाएँ हैं। वेदों, ब्राह्मणों, पुराणों, उपनिषदों और महाकाव्यों में मिथकों का अस्तित्व है। वेदों से लेकर महाकाव्यों तक वह परंपरा आज तक अखण्ड रूप से बनी रही है। प्राचीन साहित्य और मानव जीवन धर्म एवं धर्मशास्त्र से प्लावित एवं अभिन्न होने के कारण मिथकों के निर्माण में अधिक आस्थापूर्ण परिवेश प्राप्त हुआ और प्राचीन जन-जीवन के भावों, संवेदनों और जीवनदृष्टियों से सम्बन्धित घटनाओं और स्थितियों को स्वीकार कर पराकथाओं का निर्माण किया गया। इस आधार के कारण ही दैवतशास्त्रान्तर्गत (Mythology) विभिन्न देवताओं का उदय, विकास और परिवर्तन हुआ होगा। प्रकृति के सान्निध्य में रहनेवाले वैदिक ऋषियों, मुनियों ने तत्कालीन जीवन एवं संस्कृति विशेष के परिवेश में देवताओं की कल्पनाएँ कीं, उनके चरित्रनिर्माण में विभिन्न प्रतिमाओं का निर्माण किया तथा उनसे प्रार्थनाएँ कीं। शब्द और अर्थ में भावप्रतिष्ठा होने के पश्चात् प्रतिमाएँ बनीं। भारतीय देवताओं के उदय, विकास एवं चरित्रनिर्माण की प्रक्रिया आरम्भ वेदकाल से मानना ही उचित होगा।

वैदिक काल में आर्यों ने देवताओं की जो प्रतिमाएँ (Images) बनाईं, उनसे ही कुछ मिथकों का निर्माण हुआ और उनमें निरन्तर विकास एवं परिवर्तन होता रहा तथा सामयिकता के साथ देवताओं के व्यक्तित्व की अवधारणाओं (concepts) में परिवर्तन होता रहा। एक देवता के कई अवतारों की कल्पना सामने आई और समय-समय पर नये-नये अवतारों की कल्पना, समकालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के प्रभाव में बदलती रही। महाकाव्यों और पुराणों के काल में अवतारवाद की कल्पना का विशेष प्रचलन हुआ, त्रिमूर्ति की कल्पना हुई और उसके पश्चात् विभिन्न भक्तिसंप्रदायों के रूप में यह धारा अधिक प्रवाहित होती रही। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रतीक रूप में देवताओं का उदय धर्मशास्त्र में प्रथम हुआ, परंतु भारतीय शास्त्रकारों ने धर्मेतर विषयों में भी अपनी धर्मबुद्धि का परित्याग नहीं किया। शुद्ध साहित्यिक वस्तु में भी उसका ग्रहण किया और आज तक भी किया जा रहा है।

१. वैदिक दैवतांचे अभिनवदर्शन, पृ. ६०

भरत ने रससिद्धान्त की स्थापना करते हुए प्रत्येक रस के लिए भिन्न देवता एवं वर्ण निश्चित किये हैं। रस के देवताओं के संदर्भ में विचार करने पर ज्ञात होता है कि भरत पर पूर्ववर्ती परंपरा या समकालीन संस्कारों का प्रभाव था, जिसमें वेदों का प्रभाव सब से अधिक रहा। नाट्यशास्त्र को उन्होंने पाँचवाँ वेद कहा ही है। अतः रस के देवता एवं वर्ण की व्यवस्था की व्याख्या के मूल में इसको स्वीकार करना पडेगा कि भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं के अतिरिक्त वेदों में आस्था (faith) का प्रभाव उनपर अवश्य रहा है।

आरम्भ में **भरत** ने ब्रह्मा और महेश्वर शिव की वन्दना करते हुए अपनी देवताविषयक श्रद्धा व्यक्त की है। आरम्भ में देवकथा के प्रयोग की कल्पना में भारतीय परम्परा का निर्वाह भी भरत द्वारा किया गया है। नाट्य जैसी विद्या के प्रयोगशील एवं शास्त्रविवेचन के समग्र ग्रंथ को पाँचवाँ वेद नाट्याभिधान, ब्रह्मा द्वारा उसका निर्माण किए जाने की कथा, नाटक के निर्माण में शिव द्वारा नृत्य की योजना करना आदि बातें मिथकीय सृष्टि करती हैं। ब्रह्मा की भरतमुनि को आज्ञा कि, 'इसका अभिनय करो', त्रेतायुग का आरम्भ, देवदानव, यक्ष, नाग आदि के कारण देश का आक्रान्त हो जाना, इन्द्र का देवताओं का प्रमुख होकर भी कमलयोनि ब्रह्मा के सम्मुख हाथ जोडकर प्रणत भाव से कहना, 'श्रेष्ठ भगवन्', देवासुरद्वंद्व कथा का नाट्यप्रयोग, असुरों द्वारा विघ्न उपस्थित करना आदि सारी बातें और कथा एक दैवतकथा या पुराकथा (Myth) के रूप में आई है। तत्कालीन समाज में देवताओं के प्रति होनेवाली आस्था एवं उनके प्रति कल्पनाएँ, उनके व्यक्तित्व स्वरूप की अवधारणाएँ आदि के साथ भरत की प्रज्ञा एवं आस्था ने रस के प्रतीक बनाये हैं। प्रत्यक्ष नाट्यप्रयोग के समय भी ब्रह्मा, वरुण, सूर्य, शिव, वायु, विष्णु, कुबेर, देवी इ० देवताओं का उल्लेख भरत ने किया है। संपूर्ण रससिद्धान्त की उत्पत्ति का सम्बन्ध **प्रा. बेडेकर** ने देवासुर कथा से जोडा है, वह युक्तियुक्त प्रतीत होता है।[1]

रस के देवता एवं वर्णों के निर्धारण के विषय में विचार करने पर कतिपय प्रश्न उपस्थित होते हैं। वे इस प्रकार हैं : रस के देवता और वर्ण मिश्चित करने में भरत का उद्देश्य क्या रहा होगा ? विशिष्ट रस के लिए ही विशेष देवता या वर्ण ही निश्चित क्यों किये गये ? उनमें क्या संगति हो सकती है ? चार ही प्रमुख रसों की स्थापना में भरतमुनि की देवताविषयक कौनसी दृष्टि कार्य कर रही है ? गौण या प्रधान देवताओं की कल्पना हो सकती है या नहीं ? रसों के लिए विभिन्न वर्णों के निर्धारण में देवताओं का कुछ सम्बन्ध है या नहीं ? या अन्य किसी आधार पर वर्णो की योजना हुई हो ? साथ ही भरत की इस योजना से मतभेद प्रकट करते हुए अन्य विद्वानों द्वारा सुझाई गई देवता और वर्णविषयक योजना कहाँ तक उचित है ?

१. साहित्यविचार, पृ. ३२

इन सारे प्रश्नों को सुलझाने के पूर्व भरत द्वारा की गई स्थापना को प्रस्तुत करना आवश्यक है। आठ रसों के लिए आठ देवता नियुक्त करते हुए भरत ने कहा है,

श्रृंगारो विष्णुदैवतो, हास्य प्रथमदैवतः
रौद्रो रुद्राभिदैवत्यः करुणे यमदैवतः
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः
वीरो महेन्द्रदेवः स्वाद् भुतो ब्रह्मदेवाः।[1]

रस के साथ ही रस के वर्णा के विषय में वे बताते हैं—

श्यामो भवति श्रृंगारा सितो हास्य प्रकीर्तितः
कपोतः करुणश्चैव, रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः, कृष्णश्चैव भयानकः
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीताश्चैवाद्भुतः स्मृतः।[2]

भरत की इस स्थापना के अनुसार सुविधा के लिए तालिका बनाई जाय तो अधिक स्पष्ट होगा। जैसे—

रस	देवता	वर्ण
श्रृंगार	विष्णु	श्याम
वीर	इंद्र-महेन्द्र	गौर
रौद्र	रुद्र	लाल
बीभत्स	महाकाल	नील
हास्य	प्रथम	शुभ्र
अद्भुत	ब्रह्मा	पीत
करुण	यम	कपोत – (भूरा)
भयानक	कालदेव	कृष्ण – काला

उपर्युक्त देवताओं के निर्धारण की ओर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि विष्णु को अग्रस्थान दिया गया है। शिव के चार रूपों (रुद्र, कालदेव, महाकाल और प्रथम उसके गण) की योजना की गई है। यह स्पष्ट है कि शुंगकाल में महादेव, महेश्वरादि आर्येतर देवताओं का महत्त्व अधिक हुआ था। शिव अतिप्राचीन अनार्य देवता थे। मोहेन्जोदारो के उत्खनन में जो मुद्राएँ प्राप्त हैं, उनमें शिव का चित्र

१. नाट्यशास्त्र, पृ. ३३४
२. नाट्यशास्त्र, पृ. ३३३

अंकित है। सिन्धु घाटी में प्राप्त मुद्रा पर अंकित पशुपति इसके साक्षी हैं।[१] तब से लेकर आज तक शिवोपासना भारत में निरंतर बनी रही है। शिव के स्वरूप एवं अवतारों की कल्पनाओं में समय-समय पर परिवर्तन आता रहा। भरत पर भी समकालीन शिवोपासना एवं शिव के स्वरूप का प्रभाव रहा हो। ब्रह्मा-विष्णु-महेश त्रिमूर्ति की कल्पना ने अवतारवाद पर प्रभाव डाला था।

देवताओं के निर्धारण के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों द्वारा विचार किया गया है। 'रसकलश' के लेखक **पं. हरिऔधजी** लिखते हैं, "रस के गुणलक्षणों का आदर्श देवता होता है और उसीके अनुसार उस रस की कल्पना होती है।"[२] **डॉ. व्रजवासीलाल श्रीवास्तव** अपने शोधप्रबन्ध में लिखते है, "किसी वस्तु की चित्रात्मक एवं सुग्राह्य अभिव्यक्ति के प्रतीकरूप में रूप एवं धर्मसाम्य के आधार पर समगुणधर्म स्वभाव वस्तुओं के उदाहरण दिये जाते हैं—करुण रस के देवता यम है। इसका आशय यह है कि करूण रस के आश्रय के गुणधर्मस्वभाव यम के सदृश होंगे।"[३] परंतु आश्रय में देवता के प्रतीकत्व की संगति लगाना असंगत लगता है, क्योंकि करूण रस का आश्रय यदि यमसदृश व्यक्ति हो तो रस की स्थिति ही बदल जायेगी। **अभिनव** द्वारा इस सन्दर्भ में किया गया विवेचन अधिक उचित लगता है। उन्होंने अपनी व्याख्या में लिखा है, "उस उस रस की सिद्धि के लिये उस उस देवता की पूजा करनी चाहिये, इसके लिये देवताओं का निरूपण किया गया है। विष्णु का अर्थ यहाँ कामदेव है। प्रथम, शिव के गण, हास्य रस के देवता है। रूद्र तीनों लोकों का संहार करनेवाले हैं (वे ही रौद्र रस के देवता है)। वे त्रैलोक्य के संहारशक्ति है इसलिये वे ही यमराज को (प्राणियों के वध आदि के लिये) प्रेरित करते हैं। (उन रुद्र की प्रेरणा से) यमदेव द्वारा वध आदि के सम्पादित हो जाने पर करूण रस (उत्पन्न) होता है, बीभत्स रस के महाकाल अधिष्ठाता देवता हैं, यह शेष समझाना चाहिये क्योंकि (महाकाल-रूप) शिव ही उस (बीभत्स रस) के विभाव कंकाल, श्मशान आदि का सेवन करता है। भयानक रस के विभाव भी बीभत्स रस के समान होते हैं, इसलिये उसका देवता कालदेव को बतलाया है। वीर रस का देवता महेन्द्र को माना गया है, उस महेन्द्र शब्द से। महेन्द्र अर्थात त्रैलोक्य के राजा का ग्रहण है। (अद्भुत रस के देवता ब्रह्मा को बतलाया है क्योंकि) ब्रह्मा अचिन्त्य (जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता, इस प्रकार के) आश्चर्यजनक पदार्थ का रचयिता होता है।"[४]

१. प्रतिभाविज्ञान
२. रसकलश, पृ. ७४
३. करूण रस, पृ. ३२
४. हिन्दी अभिनवभारती, पृ. ५३०-३१

अभिनव की इस व्याख्या से रस के देवताओं की योजना का उद्देश्य तो प्रमाणित हो जाता है परंतु उसके निर्धारण का आधार स्पष्ट नहीं हो सकता। **डॉ. कृष्णदेव झारी** इस योजना की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक दृष्टि को महत्ता देते हुए कहते हैं, " निश्चय ही आचार्य ने रसों के स्वरूप-बोध को सरल और स्पष्ट बनाने के लिये ही उनके वर्ण और देवता की कल्पना की है। **अभिनवगुप्त** के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है, रसों के वर्ण निश्चित करने की सामाजिक उपादेयता है। साथ ही इनका आधार भी मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक है।"[1] परंतु अपने इस विधान को लेखक पूरी तरह निभा नहीं पाये, उल्टे भरत की प्राचीन योजना को उन्होंने व्यर्थ बताया है।[2] इस विषय में **श्री. बटेकृष्ण का** मत उचित प्रतीत होता है कि भरतमुनि ने वर्ण और देवता का कथन करके अमूर्त भाव के मूर्त रूप और उसके प्रभाव आदि का चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग से करने का प्रयत्न किया है।"[3]

भरत की इस योजना में एक बात स्पष्ट दिखाई देती है कि रस के देवता और वर्ण की स्थापना उन्होंने प्रतीक रूप में की है। प्रतीक रूप में हो, चित्रात्मक या दृश्यात्मक अभिव्यक्ति नित्य ही अधिक सुस्पष्ट, सुग्राह्य, सुलभ एवं प्रभावकारी होती है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि दृश्यात्मकता वस्तु को अधिक स्पष्ट एवं प्रभावी बनाने में सहायक होती है। रसवाद की स्थापना के लिये जो माध्यम चुना है, वह नाटक दृश्यात्मक एवं चित्ररूप ही है। नाटक की इसी दृश्यात्मकता एवं चित्रमयता में भरत की वस्तुवादी (objective) दृष्टि निहित है। अतएव दृश्य एवं चित्रमय माध्यम से प्रभाव करने में भरत की मनोवैज्ञानिक मौलिक दृष्टि ही है। साथ ही समाज और संस्कृतिपरक मार्मिक एवं सूक्ष्म दृष्टि भी उसमें परिलक्षित होती है। भरत ने दैवतशास्त्र से प्रतीक रूप में तत्त्व गृहीत करके देवताओं और वर्णों के रूप और गुणधर्म का साम्य रसविशेष के रूप, गुण और धर्म से जोडा और व्यक्त रूप देने का प्रयास किया है।

भारतीय परम्परा में सभी प्रतिमाएँ (images) भावविशेष की निदर्शक रही हैं। शंकर का क्रोध, विष्णु की रति, लक्ष्मी का वात्सल्य, शक्ति का भय, बुद्ध की करुणा, महावीर की शांति आदि परम्परा से मान्य संकेत हैं। शब्द और अर्थ में भावप्रतिष्ठा हो जाने के बाद ही ये विभिन्न प्रतिमाएँ बनी हैं।"[1] अर्थात् **भरत** की स्थापना के मूल में जितना मनोवैज्ञानिक ठोस आधार है, उतना ही सांस्कृतिक एवं सामाजिक भी। इसमें सभ्यता के चिन्ह, संस्कृति का विकास एवं सामाजिक संस्कार अंकित हैं। वेदों से लेकर **भरत** के समय तक देवताविषयक जो कल्पनाएँ, उनके

---

१. बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य, पृ. २०९
२. वही ,, ,, ,, पृ. २१०
३. वीर रस का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. ३०

व्यक्तित्व के स्वरूप की अवधारणाएँ समाज में संस्कार के रूप में प्रचलित थीं, वह स्थापना उनका निचोड ही है ऐसा कहना अनुचित न होगा। इसलिए इस सामाजिक और सांस्कृतिक आधार को ग्रहण करते हुए देवताओं के बदलते व्यक्तित्व को तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश पर कसकर देखना होगा। विभिन्न देवताओं की कल्पना का उदय, देवकाल से उनका स्थान, रूपचित्रण और चारित्रिक विशेषताएँ, प्राप्त विभिन्न उपाधियाँ, विशेषण तथा उनके जीवनगत विभिन्न घटनाओं और कथाओं (Myth) आदि का उल्लेख.करके ही उसका स्वरूप स्पष्ट होगा और फिर रस के साथ उसकी संगति या विसंगति दिखाकर उपर्युक्त सारे प्रश्नों को सुलझाया जा सकता है।

इसके साथ ही देवताओं के सन्दर्भ में एक विशेष बात सामने आती है कि **भरतमुनि** से आज तक विद्वानों ने इस विषय में चर्चा की है। कुछ ने कुछ परिवर्तन सुझाये और कुछ ने पूर्ववर्ती स्थापना को मान्य किया। नवीन स्थापनाओं के मूल में, सामाजिक बदलते सन्दर्भ के साथ देवता की धारणा बदलने के कारण दृष्टि बदली हुई है। अतः सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उसका भी अध्ययन किया जा सकता है।

सर्वप्रथम रस, शृंगार का देवता विष्णु माना गया है तथा उसका वर्ण श्याम बताया गया है। विष्णु का अस्तित्व वेदकाल से प्राप्त होता है। वह आकाश में व्याप्त है, अतः उसका आकाशसदृश, नील एवं श्याम वर्ण बताया गया है। "शान्ताकारं भुजगशयनं ... गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम्" ... इस वर्णन में उसे श्याम एवं सुन्दर वर्णित किया गया है। जैसे विष्णु को वेदों में गौण स्थान प्राप्त हुआ। वैदिक दैवत-शास्त्र इंद्रप्रधान है, अतः विष्णु की महत्ता कम ही रही है। वेदोत्तरकाल में ब्राह्मणों में उसे प्रधान स्थान प्राप्त हुआ और उपेन्द्र नाम भी मिला। ऋग्वेद में उसका वर्णन बृहच्छरीर, युवा कुमार आदि विशेषणों से किया गया है।[२] त्रिविक्रम–तीन पदों का होना, द्युलोक में निवास करना, तीन पदों से सारे भुवन में निवास करना वर्णित है। उसका सम्बन्ध यज्ञ से जोड़ा जाता है और सूर्य से भी। सम्भवतः वह तेज की स्वीकृति के कारण हो। वेदोत्तरकाल में प्रचलित उसके रूप का उल्लेख करते हुए डॉ. **रा. ना. दाण्डेकर** लिखते हैं, "वेदोत्तर काल में विष्णु का जो स्वरूप सम्मत हुआ उसका सुदर्शनचक्र सूर्यचक्र का प्रतीक हो सकता है। विष्णु के हाथ का पद्म सूर्यके जीवनदायी प्रकाश का प्रतीक और विष्णु के पीताम्बर का सूर्य की तेजवान किरणों के समूह का द्योतक होना असम्भव नहीं।"[३] उसके वाहन गरुड का सम्बन्ध सूर्यपक्षी से जोडा जा सकता है। विष्णु की शारीरिक विशेषताओं के सन्दर्भ में दो कथाएँ (Myths) हैं।

१. चिंतन और कला पृ. ७३.

२. ऋग्वेद १५५.२.

३. वैदिक देवतांचे अभिनवदर्शन, पृ. ११९.

'त्रीणि विक्रमणानि' (तीन कदम) और वृत्रसंहार के अवसर पर इन्द्र की सहायता, अर्थात् सारे लोकों को तीन पदों से व्याप्त कर लेना एवं राक्षसों का संहार करके सुरक्षा कार्य में सहयोग देना। बाद में विष्णु को त्रिमूर्ति में स्थान प्राप्त हुआ। जगत की निर्मिति करना और विश्व के विभागों को संभालकर रखना, पृथिवी, द्युलोक और शेष भुवनों को धारण किए रहने का उल्लेख है।[1] अन्य कई विशेषताएँ जैसे सुकृत्य, हत्यारा न होना, वरिष्ठ दाता, उदार संरक्षक, अदाभ्य, उदार, दानी आदि शब्द हैं। हिरण्यगर्भ विशेषण भी महत्त्वपूर्ण है। गर्भ को स्थिर करने के लिए उसको पुकारा गया हैं।[2] और उससे प्रार्थना की गई है कि वे गर्भाशय में एक रुचिर पुत्र का आधान करें और उनके सर्वोत्तम रूप से संपन्न पुत्र प्राप्त हो। उसे सर्जना का प्रतीक माना गया है। सारी प्रार्थनाओं के आधार पर उसके व्यक्तित्व का एक विशेष पहलू स्पष्ट होता है, वह विष्णु का एक विशेषण 'शिपिविष्ट'। कोई विद्वान 'शिपिविष्ट' का अर्थ खल्वाट लगाते हैं तो किसीने उसे 'hairy dwarf' कहा है। **गोल्डनेर** ने उसे वामनस्वरूप का द्योतक कहा है, परंतु भाषाशास्त्र के आधार पर उस शब्द का अर्थ लगाते हुए **डॉ. दाण्डेकर** ने शिपि का अर्थ पुरुषलिंग–बढनेवाला, क्रियाशील, छोटा–बडा होनेवाला पुरुषलिंग लगाते हुए लिखा है, "शिपिविष्ट शब्द से विष्णु देवता का प्राचीन लिंगसम्बन्ध स्वरूप स्पष्टतः सूचित किया गया है। विष्णु का सुलभ प्रसूत्व (fertility) अवन्ध्यत्व और साधारणतः सृजनकल्पना से पूर्ववर्ती स्थित सम्बन्ध शिपिविष्ट शब्द से सूचित होता है।"[3] 'यज्ञो देवेभ्य निलयत विष्णुरूपं कृत्वा स पृथिवीं प्राविशत्' का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं, "पृथ्वीमाता के गर्भ में विष्णु द्वारा प्रवेश किसी सुलभ-विधि, सस्यप्रदत्तविधि (fertility rite) का प्रतीक रूप से वर्णन किया गया है।"[4] विष्णु का सम्बन्ध गर्भ से बताकर वह उसका संरक्षक, सुप्रजननक्षम रूप ध्वनित है। "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" अर्थात सृजनशीलत्व, प्रभूतप्रसूत्व और अवन्ध्यत्वादि (fertility productivity) गुणविशेष सामने आते हैं।

विष्णु के व्यक्तित्व के अंकन से स्पष्ट होता है कि सुन्दरता, उज्ज्वलता, युवावस्था, सृजनशीलता और उर्वराशक्ति का प्रतीक है। अतः शृंगार रस के देवता के रूप में विष्णु की नियुक्ति अत्यंत उचित एवं सुसंगत प्रतीत होती है। इसकी व्याख्या के सन्दर्भ में **अभिनवगुप्त** ने लिखा है कि "शृंगाररस के देवता विष्णु अर्थात् कामदेव है।" परंतु कामदेव विष्णु अवतार नहीं है, बल्कि ब्रह्मा का मानसपुत्र

१. ऋ० १.१५८–१, २, ४.
२. ऋ० १०.१८४–१.
३. वैदिक देवतांचे अभिनवदर्शन, पृ. १३९.
४. वैदिक देवतांचे अभिनवदर्शन, पृ. १४०.

है। लगभग बारहवीं शती में शृंगार की विशेष महत्ता थी और कामदेव को रति के सन्दर्भ में महत्त्व मिल चुका था, अतः कामदेव को उसका ही रूप मान लिया गया। भारतीय धर्मशास्त्र में वैदिक जीवन में भी तत्त्वचिन्ता और धार्मिक कर्मकाण्ड के साथ ही व्यावहारिक जीवन को महत्ता दी गई है। काम की महत्ता से ही आगे चलकर कामदेव की कल्पना उदित हो गई होगी। विष्णु कामदेवः, कामदेवरूपी विष्णु देवता, ऐसा कहते हुए कामदेव को ही विष्णु माना गया परंतु **भरत** की योजना के अनुसार विष्णु को ही शृंगार के देवता मानना उचित प्रतीत होता है। उसके रूप एवं व्यक्तित्व के प्रकाश में स्पष्ट होता है कि कामदेव उससे भिन्न है।

डॉ. कृष्णदेव झारी रस के देवता की योजना व्यर्थ मानते हुए शोध की आवश्यकता महसूस करके लिखते हैं, "सम्भवतः भगवान् विष्णु इनके प्रतिरूप श्रीकृष्ण रसिकशिरोमणी माने जाते हैं। उनके श्यामवर्ण के कारण ही शृंगार का वर्ण श्याम मान्य हुआ है। अतः शृंगार का देवता रासरसिक श्रीकृष्ण को ही मानना उचित है क्योंकि श्याम वर्ण की संगति भी उसीसे ठीक बैठती है।"[१] परंतु इसमें कुछ नया कहने की इच्छा के अतिरिक्त अन्य कुछ तथ्य नहीं है। श्रीकृष्ण वस्तुतः विष्णु के बारह अवतारों में आठवाँ अवतार है, अर्थात् यह अस्तित्व पश्चात् के काल में लोकप्रिय हुआ। विष्णु के व्यक्तित्व की कल्पना मूलभूत एवं सार्थ है जो भरत को अभिप्रेत थी। विष्णु में रसिकता से भी बढ़कर सृजन एवं सुन्दरता का सुन्दर संयोग है। अतः उसमें परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

संस्कृत के रीतिकालीन कवियों ने भी मधुर रस की स्थापना के साथ कृष्ण को देवता का स्थान दिया। उनकी स्थापना में तत्कालीन सामाजिक स्थिति और राधाकृष्ण की भक्ति में सराबोर जनरुचि का ही प्रतिबिम्ब झलकता है। उन सामयिक बातों के प्रभाव को छोड दें तो विष्णु की महत्ता एवं प्रतीकत्व ध्यान में लेते हुए उनकी शृंगार रस के लिए योजना यथार्थ प्रतीत होती है।

वीर रस के देवता इन्द्र को बताते हुए उसका वर्ण गौर बताया है। वेदकालीन प्रधान देवता इन्द्र होने से पूरा ऋग्वेदीय दैवतशास्त्र इन्द्रप्रधान है। इन्द्र का परिचय देते हुए दैवतशास्त्र के कोश में लिखा है कि, "वैदिक देवकथा में इसे युद्ध और वर्षा का देवता माना गया है। यह एक खुशमस्त, गौर-केशपाशयुक्त, युद्धवीर राजा था, इसने मृत्यु के पश्चात् देवत्व पाया।"[२] इन्द्र भारतीयों के अति परम राष्ट्रीय देवता

१. बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य, पृ. २११.

२. In Vedic myth a God of battle and rain. It appears to have been a real king, a jolly fair haired fighting man of Nordi type, who was deified after death.
(Dictionary, P. 103)

रहे हैं। उनके शरीर की कई विशेषताओं का वर्णन किया गया है। उनके रूपचित्रण में शरीर, सिर, भुजाएँ और उदर का वर्णन है।[१] सोमपान के प्रसंग में उदर का विशेष वर्णन है। जबडे पीसना, मदमत्त होना, मूछों का हिलाना आदि क्रियाओं का वर्णन भी है। इन्द्र का हिरण्य वर्ण कहा गया है।[२] "हिरण्यबाहु" इन्द्र की बाहें आजानु, महान् शक्तिशाली और सुडौल हैं। केश और श्मश्रू हिरण्यवर्ण है।[३] उनके मनमोहक रूप में सूर्य की प्रभा चमकती है। वज्र उनका अपना अस्त्र है पर कभी-कभी वे धनुष्य और बाण लेकर भी आते हैं।[४] इन्द्र सुनहरे रथपर चलते हैं, जो लहलहाती अयालवाले अथवा हिरण्यवर्ण केशवाले हैं।[५] इन्द्र के कई व्यवहारों (mannarisms) का वर्णन है, जिसके कारण उसका नेता-रूप में अत्यंत सजीव चित्र उभरकर आता है।

इन्द्र के सोमपान का अत्यधिक वर्णन वेदों में हैं। सोम इन्द्र को पृथिवी और आकाश को धारण करने अथवा पृथिवी को विस्तृत बनाने के लिए उत्तेजित करता है। वृत्रवध जैसे सामरिक कार्य अथवा शत्रुओं पर विजय पाने के लिये वीरता का वर्णन है।[६] इन्द्र के व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए **डॉ. दाण्डेकर** लिखते हैं, "इन्द्र का व्यक्तित्व विकसनशील था। (Indra's personality was a growing personality) इन्द्रविषयक ऋग्वेद के उल्लेखों का अध्ययन-विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि एक महान वैश्विक शक्ति, युयुत्सु वैदिक आर्यों का विजयी नेता और प्राचीन दैवतशास्त्र से संबद्ध अहि (dragan), संहारक वीर ऐसे त्रिविध स्वरूप में वैदिक कवियों ने इन्द्र को गौरान्वित किया है।"[७] वृत्रहा इन्द्र नामाभिधान के सन्दर्भ में प्राप्त मिथ से प्रमाणित होता है कि वृत्र नामक दैत्य का वज्र से निःपात करने का वीरकार्य इन्द्र ने ही किया। उसका मरुद्गणों से सम्बन्ध दिखाना या पर्जन्यदेवता कहना शक्ति का प्रतीक है। उसके व्यक्तित्व वर्णन से सूचित होता है कि उसने विशिष्ट तरीके से जन्म पाया और अपने पराक्रम से देवत्व प्राप्त किया। उसके जीवनचित्रण में अधिकतर मानवजीवननिष्ठा, मानवीय स्वभावधर्म और स्वरूप का अंकन है। **डॉ. दाण्डेकर** इस विषय में लिखते हैं, "सामान्य मानव में दिखाई देनेवाली स्वभाव-न्यूनताएँ (human weakness) वैदिक कवियों ने इन्द्र में अंकित कीं। इन्द्र के व्यक्तित्व में अतिमानव और मानव का हृदयंगम संगम है। उससे इस देवता का वास्तव

१. भारतीय संस्कृतिकोश, पृ. ५३०
२. ऋ. १ – ७.२
३. ऋ. १० – ९६.५, २३.४
४. ऋ. ८ – ४५.४, १० – १०३.२.३
५. ऋ. ८.३२, ३९.
६. ऋ. ९०. २, १९. २. ६ ४७, १. २
७. वैदिक देवतांचे अभिनवदर्शन, पृ. ७१

स्वरूप समझ में आता है...नितान्त यथार्थपरकता से इन्द्र के मूलभूत व्यक्तित्व का वर्णन करना हो तो इन शब्दों में किया जा सकता है कि वे न देवता थे, न सामान्य मानव भी। वह अतिमानव थे, वीर थे।[1] इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने इन्द्र को आक्रमणकारी, वैदिक भारतीयों का नेता कहा है, यही नेता आगे चलकर राष्ट्रीय वीर बन गया और अनन्तर सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय वीर बना। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के विकासक्रम में इन्द्र का व्यक्तित्व दिव्य वीर के रूप में सामने आता है। उसकी युद्धवीरता और दानवीरता के उल्लेख हैं।[2] **डॉ. सूर्यकान्त** ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है, "शारीरिक पौरुष और भौतिक लोक पर इन्द्र का आधिपत्य ये दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। वह एक दिगन्तव्यापी शासक है, किन्तु उनका यह शासकत्व सनातन नियमों के प्रवर्धन में नहीं खिला है और न ही वह नैतिक शासन की स्थापना में उभरा है, वह तो अबाध युद्धलालसा में प्रस्फुटित हुआ है। जबकि उसकी बलवती भुजाएँ विजयकल्याण संपादन करती हैं, उसकी दानशीलता में चमकी हैं।[3]

इन्द्र का व्यक्तित्व, गौर वर्ण, अस्त्रशस्त्रादि के सन्दर्भ में वीर रस के लिए उसकी नियुक्ति सयुक्तिक प्रतीत होती है। साथ ही यह भी प्रमाणित होता है कि विष्णु के समान ही इन्द्र को भरत ने उच्च स्थान दिया है। सृजन के साथ संहार एवं रक्षा का कार्य करनेवाले वीर नेता का प्रतीक इन्द्र वीर रस के देवता और गौर वर्ण वीर रस के लिए आवश्यक माना गया है। इस योजना को प्राचीन और आधुनिक सभी विद्वानों द्वारा स्वीकृत किया गया है।

रौद्र रस के देवता रुद्र माने गये हैं तथा उनका वर्ण लाल है। रौद्र एवं बीभत्स रस के देवता के रूप में रुद्र और महाकाल की योजना करना तत्कालीन समाज में शिव का महात्म्य व्यक्त करती है।

मूलतः भारतीय संस्कृति में शिव प्राचीनतम आर्येतर देवता हैं, जिसका प्रथमतः परिचय सिन्धु घाटी में प्राप्त मुद्रा (seal) पर अंकित चित्र से होता है।[4] उस मुद्रा पर पशुपति शिव का चित्र अंकित है, सिर पर दो बहुत बडे सींग और आसपास जानवर हैं। यही पशुपति शिव वैदिक काल में रुद्र बना और वैदिक आर्य का एक प्रधान देवता बना। वेदोत्तर काल में रुद्र के कई रूपों की कल्पना का विकास हुआ और शिवोपासना का आधिक्य हुआ। त्रिमूर्ति में महेश को महत्ता मिली। वैसे वेदोंमें

१. वैदिक देवतांचे अभिनवदर्शन, पृ. ८६. ६७
२. ऋ. ९० (१. ३०-१), (४. ३१. ७), (८. १४. ४)
३. वैदिक दैवतशास्त्र, पृ. १७७
४. प्रतिभाविज्ञान

रुद्र को गौण स्थान प्राप्त है। उसका रंग भूरा, होठ सुन्दर, बाल घुँघराले, आँखें चौधियाँ देनेवाली, एक हाथ है। उसके अनेक रूप हैं। द्युतिमान सूर्य की भाँति वे चमकते हैं। स्वर्णिम आभूषणों से प्रसाधित हैं। भाँति-भाँति के रूपोंवाला निष्क पहनते हैं। रथ पर बैठते हैं। सहस्राक्ष हैं। उनका उदर काला और पीठ लाल है।[१] वे नीलकण्ठ और नीलाशिखण्ड हैं। ताम्र और लोहित वर्ण के हैं।[२] उनके हाथ में वज्र और धनुष्यबाण हैं। वे स्थिर एवं तीव्र गतिवाले हैं।

रूद्रों के साथ मरुतों के साहचर्य का वर्णन नित्य ही जाता है। अथर्ववेद और परवर्ती वैदिक काल में भी रुद्र का उल्लेख है। रुद्र युग की भाँति भीमकाय एवं घातक हैं। वे वृषभ, दृढ, बलवान, अजेय, अमर, शक्तिशाली, त्वरित गति एवं त्वेश होनेवाले हैं, अजय और शुष्मन हैं। कहीं तो भूलोक का सबसे बडा महान असुर कहा गया हैं।[३] जगत्पिता या कल्याणकारी और शिव भी कहा गया है। उसकी अनुदारता का संकेत कर कहीं भीषण शस्त्रों से भीति और उनके अमर्ष से भय के भाव सूक्तों में झलकते हैं। उससे प्रार्थना की गई है कि वे क्रोध में आकर अपने उपासकों, उनके माता-पिताओं, उनके अपत्यों एवं परिजनों, पशुओं एवं अश्वों को क्षति न पहुँचायें।[४] क्रोध आने पर भी अपने वज्र को लौटा दें और अपने उपासकों, उनके बच्चों और गौओं को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचायें।[५] यहाँ तक कहा गया है कि देवगण एक बार रुद्र के सज्जितधनुष और शत्रु को देखकर काँप उठे थे और डर रहे थे कि कहीं वे उन्हें धराशायी न कर दें।[६]

प्राकृतिक आधार पर रुद्र को तूफान का देवता माना गया है। इन्द्र के विपरीत इसका वज्र क्रूर है। "प्रारंभिक वैदिक पराकथा में अपने ग्यारह पुत्रों, रुद्रोंसहित होनेवाले तूफान के देवता के रूप में उसका अंकन है।"[७] कहीं-कहीं उसे अग्नि का देवता भी कहा गया है। **ओल्डनबर्ग** ने इसको पर्वतों का शासक माना है। रुद्र शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ बताते हुए उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा सकता है।

१. अथर्ववेद १५. १. ७
२. ब्राह्मणसंहिता १६. ७
३. ऋग्वेद २. १. ९
४. ,, १-११४. ७
५ ,, ६-२८. ७
६. शत. ब्रा. ९-१. १, ९-१. १. ६
७. **In early Vedic myth a storm god, who was accompanied by his eleven sons, the Rudras.**

—Everyman's Dictionary.

रुद् याने चिल्लाना, चिल्लानेवाला, रुद्र का अर्थ चमकना, रुद्र याने लोहित होना। पिशल अर्थात् चमकीला और लोहित आदि भी अर्थ है।

ऋग्वेदकाल और उसके पश्चात् के काल में रुद्र के दो भिन्न व्यक्तित्व (double personality) स्पष्ट होते हैं। एक भयानक विध्वंसक रूप, भयानक जानवर जैसे (ruddy boar of the heaven), स्वर्ग का बडा असुर, मृत्यु का लानेवाला है। **डॉ. दाण्डेकर** वेदपूर्वकालीन दैवत शिव का कुछ प्रभाववश वैदिक काल में रुद्र और उत्तर-वैदिक काल में रुद्र-शिव की अवधारणा में विकास होना बताते हैं। वही आगे चलकर महादेव बना। रुद्र के लाल रंगादि का उल्लेख द्राविडी देवताओं पर चढाई जानेवाली बलि आदि से करते हुए उन्होंने लिखा है कि "प्राचीनतम द्राविडी देवता शिव का, जिसका अर्थ लाल है, सम्बन्ध इससे विशेष रूप से उस काल में प्रचलित उस देवता की पूजाविधि से भली भाँति जोडा जा सकता है। इसी देवता का वैदिक रूप रुद्र नामक है, इसका अर्थ भी लाल है। यद्यपि इसके विषय में मूलभूत रक्तबलि का सम्बन्ध नष्ट करने का प्रयास बाद में किया गया और उसके अन्य सम्बन्धों (साहचर्यों) पर बल दिया गया हो, फिर भी मूलतः वही रूप है।[1]

इस प्रकार वैदिक काल में और वेदोत्तर काल में भी रुद्र का व्यक्तित्व अन्य देवताओं से नितान्त भिन्न रहा है। वेदपूर्व द्रविडों के देवता से मिलाजुला असुर देवता का रूप, लाल रंग-रूप, तूफान, अग्नि या मृत्यु देवता का रूपांकन आदि भरत द्वारा स्वीकृत हैं। उनकी पीठ का लाल रंग, बभ्रु और लाल रंग उसीका द्योतक है। रुद्र शब्द लाल रंग का द्योतक है। अरुश, बभ्रु, बम्लुश, ताम्र, लोह, विलोहित, नीललोहित आदि वर्णन सार्थ प्रतीत होता है।

बीभत्स रस के देवता महाकाल माने गये हैं और उनका वर्ण नील है। भरत की स्थापना में शिव की महत्ता यहाँ स्पष्ट होती है। शिव के कई रूपों की कल्पना

१. The name of ancient Dravidian god, namely, Siva, which means red, can thus be very well linked up with the form of worship which must have been most common in respect of that god. The Vedic version of this ancient god, namely, Rudra, also bears the name, which means red, though, in his case, attempts seem to have been made to suppress the original association of his redness with blood offerings and the emphasis quite a different kind of association.

(Papers on Vedic and allied subjects, P. 35).

वेद और वेदोत्तर काल में की गई है। इनमें प्रलयंकर महादेव की कल्पना है। महाकाल अर्थात् भैरव श्मशान में रहता है, मुण्डों की माला धारण करता है, रक्त की बलि चाहता है। यह विश्वात्मा का ही एक रूप है। ईश्वर एक है, परंतु भेद है। उत्पत्ति-वलय का वह अधिपति है और दीखने में भयानक है।[१] मृत्यु का वह अधिपति है, इसके चार मुख हैं, एक-एक मुख एक युग है। प्राचीन भारतीय कोश के अनुसार यह उज्जैन के शंकर का एक अवतार है। इसने दूषण नामक एक असुर को एक हुंकार से भस्मसात कर दिया। दैवतशास्त्र के कोश में इस विषय में उल्लेख है — "वेदकालीन कथा में शिव का विध्वंसक रूप है। इस शब्द का अर्थ दीर्घतम काल और सब वस्तुओं का नाश करनेवाला होता है। उसका स्त्रीरूप काली है पर शिव और पार्वती काल और काली कैसे बन गये यह स्पष्ट नहीं है। उनमें प्राचीन युद्धदेवी और उसके पति के रूप में संयोग होना दिखायी देता है पर काल के आधार पर केवल यह प्रमाणित नहीं हो सकता।"[२]

महाकाल का नील रंग नीलकण्ठ के रूप से सम्बन्धित है। महाकाल भैरव के इस रूप को लक्षित कर भरत ने बीभत्स रस के लिए योजना की है। वैसे महाकाल के रूप में अधिक वर्णन प्राप्त नहीं होता है पर जो है, उससे बीभत्स का प्रतीकत्व व्यक्त होता है। बीभत्स रस के देवता के संदर्भ ने आपत्ति उठाते हुए कहा गया है कि उसके देवता का निर्णय फिरसे होना चाहिए। महाकाल से एक तो व्यर्थ की आवृत्ति का दोष है और इससे रस का बोध नहीं होता। रुद्र को तो रौद्र रस ने देवता के रूप में पहले प्रतिष्ठित किया जा चुका है। महाकाल शिव उससे भिन्न नहीं है।"[३] परंतु इस विधान में तथ्य कम है, शिव और रुद्र को एक कहना ब्रह्माविष्णु को एक कहने जैसा है। वस्तुतः महाकाल, कालदेव, रुद्र, पशुपति आदि शिव के भिन्न-भिन्न रूप होते हुए भी प्रत्येक की विशेषताएँ अलग-अलग हैं। उनके साथ कुछ विशेष पराकथाएँ

१. वायुपुराण – ३२ – ११.२२

२. In Vedic myth one of the destructive aspects of Siva, the word means great time and as such he is the destructor of all things. The feminine aspect of this is Kali. How Shiva and Parwati became Kala and Kali is not clear. There would appear to have been fusion of same early was goddess and her husband with these too, but even then the time factor does not fit into the picture.

(Dictionary P. 132).

३. बीभत्स रस और आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ. २१२

(myths) सम्मिलित हैं। महाकाल के उपर्युक्त रूपवर्णन से स्पष्ट है कि वह रुद्र से भिन्न है, अतः यह विरोध निराधार है। ये लेखक वाल्मीकि को बीभत्स रस का देवता ठहराने का सुझाव पेश करते हैं और बताते हैं कि देवता की आधुनिक धारणा आदर्श व्यक्ति या महापुरुष होनी चाहिए।[1] इस विषय में उठायी गई आपत्ति और नया सुझाव परिवर्तित दृष्टिकोण का परिचायक है। बीभत्स रस का आधार ही आधुनिक विद्वानों के द्वारा मानसिक घृणा मानने के कारण यह कठिनाई उनके समक्ष उपस्थित हुई। वस्तुतः भारतीय प्रतिभानिर्माण के मूल में यही प्रवृत्ति कार्य करती है। पूर्वविवेचन से स्पष्ट है कि इन स्थापनाओं में मानवीय मूल्यों एवं विशेषताओं के आरोपण से व्यक्तित्वविषयक धारणाएँ बनी हैं और भरत ने प्रतीक रूप में देवताओं के उन्हीं रूपों को अपनाया है। अतः व्यक्ति या प्रतीक भले ही बदल जाय, मूल बल तो वही है। अतः नयी स्थापना का कुछ प्रयोजन प्रतीत नहीं होता।

हास्यरस के देवता प्रमथ है और उसका वर्ण श्वेत है। हास्य रस को शृंगार का उपरस बताते हुए उसकी विकृति से हास्य की उत्पत्ति बताई गयी है। परंतु देवता की योजना में वैसा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। प्रमथ का अर्थ है शिव के गण। शिवदेवता का प्रभाव **भरत** पर यहाँ भी स्पष्ट है। शिव के गण, रुद्र, महाकाल, कालदेव आदि को भरत ने महत्ता दी है। प्र+मथ+अव्–प्रमथतीति शिवपरिषद – नानाशस्त्रधरा शम्भोर्गणास्तु प्रमथाः स्मृतः महाबलाः शूराः संख्याता वस्तुकोष्टमः। अपरे गायनास्ताल मृदंगापणवादिभिः नानारूपधरास्ते वे संख्यया कोज्याधिकाः सततं चानुच्छिति विचरणं महेश्वरम्।[2] पुराण के अनुसार इनकी संख्या छत्तीस हज़ार बताई गई है। (षट्त्रिंशतु सहस्राणि प्रमथः द्विजसत्तमाः।) मत्स्यपुराण में इनका वर्णन है। यह एक भूत गण है, जो शिव का गण है। ये बुरी नज़र के भूत हैं। ये रुद्र तथा दक्षित अग्नि के अनुयायी हैं। इनका मुख पशुवत् और अन्य आकृति क्रूर मुखों जैसी होती है।[3] प्रमथ के मिथक (Myth) का आधार स्पष्ट करने का यत्न अन्य कुछ विद्वानों द्वारा किया गया है। **डॉ. बरसानेवाले चतुर्वेदी** ने नारदमोहप्रसंग का वर्णन करते हुए प्रमथों द्वारा दिल्लगी करने का सम्बन्ध हास्य से जोडा है।[4] प्राचीन काल के शिल्प में भी हास्य की लोकप्रियता, एवं महत्ता के संकेत मिलते हैं। कई मुद्राओं पर अंकित विभिन्न चित्र विभिन्न पराकथा-ओं और पौराणिक कथाओंका संकेत करते हैं। उनमें शिव के गणों, नागों, प्रमथों

---

१. बीभत्स रस और आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ. २१२

२. शब्दकल्पद्रुम, पृ. ४४७६.

३. मत्स्यपुराण, १३३–३५.

४. हिन्दी साहित्य में हास्यरस, पृ. २४

और किन्नरों के चित्र प्राप्त हैं। कइयों पर मिश्रित प्रतिमाएँ हैं, उनमें शिव के प्रमथों एवं और गणों का अंकन है। उनमें नरानन, छाग, नरानन मेष, अर्धगजनर, अर्धछाग, अर्धनर, अर्धवेष, अर्धवृषभ, मुख मात्र नराकृति आदि कई वैचित्र्यपूर्ण चित्र अंकित हैं।[1] इस विचित्रता, विलक्षणता एवं विकृतिपूर्णता के कारण प्रमथों को हास्य के देवता के रूप में स्वीकृत करना स्वाभाविक है।

अद्भुत रस के देवता ब्रह्मा माना है और उसका वर्ण पीत है। वस्तुतः आज ब्रह्मा को देवताओं में सर्वप्रथम आदिदेवता का स्थान प्राप्त है और त्रिमूर्ति में विश्व-निर्माता ब्रह्मा अग्रस्थ है फिर भी भरत ने इसकी गौण रस के लिए नियुक्ति की है और रससंख्या में पीछे का क्रम प्राप्त है। परंतु इस संदर्भ में गहराई से विचार करने पर लगता है कि वेदों के अत्यधिक प्रभाव से विष्णु और इन्द्र को प्रधान स्थान देकर ब्रह्मा को गौण स्थान दिया है। त्रिमूर्ति की महत्ता पश्चात् के काल में विशेष रही। फिर भी प्रजापति के रूप में ब्रह्मा का स्थान जगत् का निर्माता का एवं उच्च ही रहा। अथर्ववेद में ब्रह्मा को ईश्वर का रूप माना गया है।[2]

ब्रह्म ज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठ माततान
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुनः।

अर्थात् ब्रह्म ने बल धारण किया, सृष्टि के आरम्भ में द्युलोक का विस्तार कर प्रथम प्रकट हुआ, उसका प्रतिस्पर्धी भला कौन हो सकता है?" मुण्डकोपनिषद में भी– ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता, माना गया है। पुराणों में वह दुय्यम बना और शिव शक्ति और विष्णु को महत्ता प्राप्त हुई। शेषशाई विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल में वास करनेवाला अजयोनि होने से उसे गौण स्थान प्राप्त हुआ।[3] आगे चलकर ब्रह्मा के न विभिन्न अवतार बने और न शिव और विष्णु के समान उसका कोई संप्रदाय विशेष (cult) चलाया गया। कुछ पराकथाओं के सहारे पता चलता है कि सरस्वती के अभिशाप के कारण ब्रह्मा का महत्त्व कम हुआ और देवताओं में गौण स्थान प्राप्त हुआ।

रूपमण्डन में ब्रह्मा का वर्णन लाल वर्ण, चार सिर, चार मुख, धर्म, अर्थ, काम, मोक्षदायी चार वेदोमय किया है। शुभ्र वस्त्र परिधान कर ताम्र वर्णवाले इस देवता का वाहन सुनहरा राजहंस है। ब्रह्मा के अद्भुत रूप का परिचय देते हुए कहा गया है कि "उत्तर वैदिक काल में, ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के सहित त्रिमूर्ति रूप में जगत् के कल्याण के लिए अवतीर्ण हुए। उनकी जन्मकथा के अनुसार वे नारायण नामक

१. प्रतिमाविज्ञान मुद्रासंख्या ३७८, ८० और ३८१.
२. अथर्ववेद ११।२२।२१
३. भारतीय कला

सुवर्णपुष्प में पानी पर तरते आये। उन्होंने स्वयं अर्धनारीश्वर का रूप धारण किया अर्थात अर्धशरीर पुरुष रूप में और आधा स्त्री रूप ग्रहण किया।"[1] ब्रह्मा विश्व-निर्माता अर्थात् अचिन्त्य, आश्चर्यजनक पदार्थों का रचयिता है, अतः उसको अद्भुत रस का देवता मानना उचित ही है। ब्रह्मा के रूप-रंग का विशेष वर्णन नहीं है और जो है उससे पीत रंग की संगति नहीं बैठती। परंतु राजहंस के सुवर्ण वर्ण से पीत रंग का सम्बन्ध जोडा जा सकता है अथवा विश्वक्षितिज पर फैलनेवाली स्वर्णिम आभा विश्वनियन्ता ब्रह्मा का चिन्ह हो सकता है।

अद्भुत रस के देवता के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए **विश्वनाथ** ने गंधर्वों को स्थान देना उचित माना है।[2] इसमें सन्देह नहीं है कि गन्धर्वों की सृष्टि एवं जगत् अद्भुतरम्य है, परंतु सारे विश्व का निर्माता एवं नियन्ता ब्रह्मा माना जाने के कारण उससे अधिक आश्चर्यकारक क्या हो सकता है? अतः **विश्वनाथ** की इस स्थापना में नवीनता के सिवा अन्य कुछ नहीं।

करुण रस के देवता यम माने गये हैं तथा उसका वर्ण कपोत बताया गया है। वेदों में अन्य देवताओं की तुलना में यम को गौण माना गया है। इसके नाम से कभी पुकारा नहीं गया है, परंतु अन्य देवताओं के साथ इनका नाम मिलता है। उसने छिपी हुई अग्नि को ढूँढ निकाला। यम पूर्णतः मानव भी नहीं, उसे पितरों का राजा और अधिपति कहा गया है, पर अन्यों से भिन्न माना गया है। मृतकों का राजा भी कहा गया है।[3] वह पितृगणों का राजा है और वही पहला मर्त्य है, मृतात्माओं के मार्ग से जानेवाला, उन्हें मार्ग दिखानेवाला, मानवों को एकत्रित लानेवाला एवं मार्ग-दर्शक रहा है।[4] वह मानवों को विश्राम का स्थान देता है।[5]

वेदोत्तर काल में उसका रूप परिवर्तित हो गया। वह मृतात्माओं का भयंकर न्यायाधीश बना और उसका मृत्यु से निकट सम्बन्ध आया है और अन्त तक वह यम

१. Brahma, in later Vedic myth, a senior god of the great Traid with Vishnu and Siva. He was said to be born from a golden cage of Narayan which floated on the water. He devided himself into two halves, a male half called Purush and a female half called Satarupa.

—Dictionary, P. 40

२. साहित्यदर्पण, पृ. १२०

३. ऋ० ९-११३·८; १०·१६-९

४. ऋ० १०-१४-१

५. अथर्ववेद १८·२·२७

का दूत बना।[1] उल्लूक, कपोत, श्वान आदि उसके दूत बने और वह मृत्यु का राजा माना गया है। उसके सम्बन्ध में पराकथाओं में यम-यमी के संवाद का निषेध कर नैतिकता के पालन का आदर्श बताया जाता है, पर यम-यमी ही मानववंश के आद्य-जनक रहे हैं। प्रथम यज्ञकर्ता, संतति हित के लिए प्राणार्पण करनेवाला आद्यमानव यम अमर बना, जिसने यज्ञ में स्वदेह की आहुति दी। (He was first to die) इस महान् कार्य के लिए उसे देवता उपाधि प्राप्त हुई। उसके इस यज्ञसमर्पण की त्यागमय घटना का सम्बन्ध श्री. बेडेकर ने करूण रस की आस्वाद्यता से लगाया है। इसकी मूलभूमि यम का त्यागमय बलिदान ही है।[2]

यम के स्वरूप के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। प्रकृतिवादी उसका सम्बन्ध सूर्यदेवता और चन्द्रदेवता से जोड़कर मृत्यु को डूबते सूरज का प्रतीक मानते हैं। देवत्ववादी विद्वान उसे देवता ही मानते हैं। वह मर्त्य है, इसलिए वैवस्वत सूर्य और यम का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। विकासवादी परम्परा यम-यमी को मानव जाति के आद्य जनक मानकर कहती है कि सुवर्णयुग की पृथ्वी का आद्य राज्यकर्ता, पृथ्वी पर वास करनेवाला, मृत्यु के उपरान्त परलोक जानेवाला मृतात्माओं का राजा है। यम के स्वरूप की उत्क्रांति होकर वही यज्ञ का पुरोहित और यजमान बना। बौद्धिक काल के पश्चात् मनु आदि स्रष्टा बना और यम का अस्तित्व कम होने लगा, यमकथा नष्ट होने लगी। फिर यम मृतात्माओं का राजा बना। उनके पापपुण्यों का फैसला कर पापियों को भयंकर सज़ा देनेवाला आतंकपूर्ण भयानक रूप उत्तरकालीन पौराणिक साहित्य में स्थिर हुआ। इस प्रकार उसके स्वरूप की धारणा में आमूलाग्र परिवर्तन हुआ। इसी बात को लक्षित कर डॉ. दाण्डेकर ने भी लिखा है, "पश्चात् के काल में भी यम का जो रूप अंकित है, उसके अनुसार वह पुण्यशील आत्माओं का उदार राज्यकर्ता, पितरों का सहायकारी पिता है। उसका सम्बन्ध मृत्यु से कुछ भी नहीं था और उसका वास्तविक कार्य मृत्यु के पश्चात् ही आरम्भ होता था। परंतु अब तो यम का सम्बन्ध साक्षात् मृत्यु से निश्चित किया गया है।[3] डॉ. व्रजवासीलाल श्रीवास्तव ने 'करुण रस' नामक

---

१. अथर्ववेद ५.१०.१२

२. साहित्यविचार

३. The benevolent rules of the blessed souls, the helpful father of fathers, who had originally nothing to do with death, as such and whose proper function even as represented in the later stage, commenced after death now come to be identified with death.

(Yama in Veda, P. 16)

अपने शोधप्रबन्ध में अपना मत व्यक्त किया है कि यम के दो भिन्न रूप थे। वेदकालीन उपनिषद के यम और पुराणों के यम की भिन्नता दर्शाते हुए वे लिखते हैं, "जहाँ वैदिक काल के यम ब्रह्मज्ञानी हैं, तथा पुण्यात्मा व्यक्तियों के लिए मंगलदाता तथा श्रव्य एवं भक्ति के आधार हैं, वहाँ परवर्ती काल के यम भयावह राक्षस है। वह नरयान में आरूढ है, तथा खड्ग–खेटक धारण किये हुए राक्षसों से आवृत्त है। उपनिषद् काल के यम ब्रह्मज्ञानी है। ब्रह्मज्ञान के अन्तर्ज्ञान मुख्य विषय है।[1]

करुण रस के देवता की यथार्थता बताते हुए **अभिनवगुप्त** ने लिखा है, "करुण रस के देवता यम है। रौद्रात् करुण की निर्मिति होती है। रुद्र तीनों लोकों के संहार करनेवाले हैं। वे त्रैलोक्य के संहारकर्ता हैं इसलिए वे ही यमराज को प्राणियों के वध के लिए प्रेरित करते हैं। **अभिनव** की इस बात से असम्मति प्रकट करते हुए **डॉ॰ कृष्णदेव झारी** ने सुझाव प्रस्तुत किया है कि, "किन्तु क्यों न भूतदया और करूणा के अवतार बुद्ध को करूणा के देवता बनाया जाय? " अन्य कुछ विद्वानों ने बुद्ध को शान्त के देवता मानना उचित समझा है। पर हम समझते हैं कि बुद्ध को करूणा का देवता ही बनाना उचित है।[2] इस सुझाव में भी नवीनता के सिवा अन्य कुछ तथ्य नहीं है। भरत की योजना में यम मृतात्माओं का देवता और यज्ञ में प्रथम बलि आदि विशेषताओं के सहित करुण रस के प्रतीक हैं। उसके लिए बुद्ध की नियुक्ति भरत द्वारा जानबूझकर नहीं की गई, क्योंकि भरत की दृष्टि हिंदूधर्म को बौद्धधर्मप्रवाह से बचाने की थी और साथ ही यज्ञादि कर्म में उनकी प्रगाढ आस्था थी।

भयानक रस के देवता कालदेव है और वर्ण काला माना गया है। कालदेव भी शिव का ही एक रूप है। शिव के प्रलयंकर रूप का अंकन इसमें है। "कालः कालरूपः सर्वसंहारको रुद्रः।" इसके अन्य नाम काल, कालरूप, सर्वसंहारक रुद्र, कालाग्नि रुद्र, कालभैरव आदि हैं। उज्जैन में कालभैरव के बारे में कथा प्रचलित है कि शंकर ने ब्रह्मदेव का सिर तोडा जिससे वह काशी में निवास करने लगा। उससे कालदेव का निर्माण हुआ है। यम का भी एक नाम कालभैरव है। परंतु वह इस रूप से भिन्न है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में उल्लेख है,

अनादि निधनः कालः रुद्रः संघर्षणः स्मृतः
कलनात्सर्वभूतानां स काल परिकीर्तिकः।

इस सन्दर्भ में एक प्राचीन चित्र प्राप्त है। सृष्टि की प्रलय के निरन्तर विवर्त का एक प्रतीकात्मक विवरण महाप्रलय के रूप में है। विकरालता लम्बी जिह्वा में रूप व्यक्त ह।[3] कालदेव के विषय में एक पराकथा प्राप्त है। विष्णु और ब्रह्मा शिव के

१. करुण रस, पृ. ३३.
२. बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य. पृ. २१२.
३. भारतीय प्रतीकविद्या. पृ. ७० चित्रसंख्या ११.

साथ घमंड से व्यवहार करने लगे। तब शंकर के क्रोध से भैरव का निर्माण हुआ। कालभैरव, आमर्दक या पापभक्षक कालराज का जन्म होते ही, उसने बायें पैर के नाखून का पाँचवाँ सिर तोड डाला। काल को ग्यारह रुद्रों में से एक माना जाता है।[1] कालदेव की भयंकरता और उग्रता भयानक रस के लिए प्रतीकात्मकता सिद्ध करती है और अंधकारमय रात्रि-सा उसका काला वर्ण भी भयसूचक ही है।

भरत ने आठ ही रसों की स्थापना की है। अतः आठ देवता और आठ ही वर्ण हैं। पर इनके अतिरिक्त विद्वानों ने अन्य देवताओं की स्थापना भी की है जो एक विशेष सांस्कृतिक दृष्टि व्यक्त करती है। शान्त रस का स्वीकार भरत में नहीं है, पर **अभिनव** ने "बुद्धः शान्तेऽजजोद्‌भुतो" कहा है। **विश्वनाथ** ने वात्सल्य रस के लिए देवी आदिशक्ति कालीमाता ब्राह्मी आदि माताएँ एवं अधिष्ठात्री देवियाँ मानीं और वर्ण कमलवर्ण के समान शुभ्र माना है।[2] साथ ही शान्त रस का वर्ण कुन्दपुष्प या चन्द्रमासमान मानकर लक्ष्मी-नारायण उसके देवता माने हैं।[3] इन स्थापनाओं में उनके समकालीन देवताविषयक कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब झलक पडता है। विभिन्न भक्तिसंप्रदायों के विकास में शैवों, वैष्णवों और शाक्तों की महत्ता थी। शाक्तों में देवी की उपासना को विशेष प्रधानता प्राप्त हो चुकी थी।

उपर्युक्त सारे विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भरत के मन पर तत्कालीन समाज में मान्य एवं परम्परागत विकसित देवताओं के व्यक्तित्व की अवधारणाओं का स्पष्ट प्रभाव है। वेद, उपनिषद और पुराणों से चलती आई हुई पराकथाओं (Myths) के आधार पर रस के देवताओं की योजना भरत द्वारा की गई है। यहाँ पर एक विशेष बात दिखाई देती है कि भरत ने चार मुख्य रसों के देवताओं के रूप में विष्णु, इन्द्र और शिव को प्रधानता दी है। उपरसों में ब्रह्मा यम और शिव के कालभैरव रूप एवं प्रमथों को महत्ता है। शिव के विभिन्न रूपों एवं गणादि को विशेष महत्ता देना तत्कालीन समाज में प्रचलित एवं लोकप्रिय शिवोपासना का प्रभाव है। आर्येतर देवता शिव की उपासना का विशेष सूत्रपात भरत के काल में हो चुका था; अतः यह योजना भी स्वाभाविक थी। विशिष्ट देवता, उसका रूप-रंग, आकृति, व्यक्तित्व, चरित्र-वृत्तियाँ, विशिष्टताएँ इन सारी बातों का सम्बन्ध प्रतीकरूप में रस के साथ जुड़ा हुआ है और प्रत्येक देवता का पूरा व्यक्तित्व सांस्कृतिक एवं सामाजिक अंशों का परिपाक है।

१. प्राचीन चरित्रकोश
२. साहित्यदर्पण, पृ. १२३
३. साहित्यदर्पण, पृ. १२०

किसी भी रस के लिए प्रतीकरूप में देवी की योजना नहीं है। शायद रस शब्द पुरुषवाचक होने के कारण देवता की योजना करना भरत ने उचित समझा होगा। साथ ही देवी या शक्ति की उपासना का विशेष प्रचलन भरत के काल में नहीं था। वेदों में सरस्वती के अतिरिक्त अन्य देवियों को अधिक महत्ता नहीं है। पुराणकाल में देवी के रूपों एवं नामों को प्रधानता प्राप्त हुई।

भरत के सम्मुख सरल, स्थूल एवं अखण्ड सुसूत्र जीवन था, अधिक सूक्ष्म, उलझनभरा, समस्यापूर्ण अथवा जटिल जीवन नहीं था। अतः जीवन की मुख्य बातों को लेकर भावविशेषों को स्वीकार कर सिद्धान्त स्थापना के साथ ही पूर्वपरम्परा से प्राप्त रससंख्या को ग्रहण कर किया गया। अतः चार मुख्य और चार उपरसों की स्थापना की। परंतु इन रसों की उत्पाद्य-उत्पादनादि व्यवस्था में देवताओं की योजना की संगति बिठाना कठिन हो जाता है। इसमें छानबीन करने की कोशिश करने पर भी शृंगार के देवता विष्णु और उसके उपरस हास्य के प्रमथ इनमें संगति कैसे स्थापित की जाय? और उनमें वैसा परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना उचित भी नहीं प्रतीत होता। कुछ देवताओं के संदर्भ में खींचातानी से सम्बन्ध जोडा भी जा सकता है, परंतु उसकी आवश्यकता भी नहीं है। सम्भवतः रस के देवताओं की योजना रस का मानवीकरण (personification) करने में सफल हो सकती है, अतः वहाँ तक ही उसकी सीमा मानी जाय।

आधुनिक काल में देवताविषयक वह आस्तिकता एवं श्रद्धा नहीं बची है, जो प्राचीन काल में थी। अतः आज देवताओं के निर्णय की बात ही नहीं उठती। आज विद्वान इस विषय को अधिक महत्त्व भी नहीं देते, परंतु ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक धरातल पर प्रतीकत्व के रूप में उसकी महत्ता को स्वीकार किया जा सकता है।

इस निष्कर्ष के आधार पर यह भी देखना आवश्यक हो जाता है कि रसों के विभिन्न वर्णों के निर्धारण से देवताओं का कुछ सम्बन्ध है या नहीं? या अन्य किसी आधार पर वर्णों की योजना हुई है?

आचार्य अभिनवगुप्त ने रंगों की कल्पना का आधार तो स्पष्ट नहीं किया, परंतु उसके उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है, "यह रंगों का कथन रसों की पूजा आदि के अवसर पर उनके ध्यान लगाने में उपयोगी होता है। दूसरे व्याख्याकारों के मत में उस-उस रस के अभिनय के समय तदनुरूप मुख के राग (रंगने) में भी उपयोगी होता है।[1] अभिनव की व्याख्या से उद्देश्य तो कुछ व्यक्त होता है, परंतु वर्णों के निर्धारण का आधार स्पष्ट नहीं हो सकता। **डॉ. श्रीवास्तव** आश्रय की बाह्यव्यंजना (अनुभाव) उस वर्ण के समान मानते हैं।[2] परंतु आश्रय के अनुभाव से वर्ण की संगति लगाना

१. अभिनवभारती पृ. ५३१.

२. करुण रस पृ. ३२.

उचित नहीं लगता क्योंकि करुण रस का आश्रय ही यमसदृश हो तो रस की स्थिति बदल जायेगी। पूर्ववर्ती विद्वानों के विभिन्न मतों के बावजूद भी वह बात स्पष्ट नहीं हो पायी है कि रसों की वर्ण–योजना का वास्तविक आधार क्या है।

भरत की देवता और वर्णयोजना में एक बात तो स्पष्टतः सामने आती है कि भरत ने यह स्थापना प्रतीक रूप में की है। रस को चित्रात्मक, दृश्यात्मक रूप में व्यक्त करने के लिए उन्होंने सामाजिक एवं सांस्कृतिक धारणा के आधार पर प्रतीक की योजना की। अतः रसों की भावमयता स्पष्ट करने के लिए विभिन्न रंगों की योजना की। चित्रों के रंग, अभिनेता की वेषभूषा, वातावरण का रंग आदि का उल्लेख भी भरत ने किया है। दूसरे अध्याय में भाव से रस का सम्बन्ध जोडा है।

पूर्वविवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है कि देवताओं के विभिन्न वर्ण प्राचीन साहित्य में वर्णित हैं। विष्णु का श्याम वर्ण, इन्द्र का हिमवर्ण, रुद्र की लाल पीठ, महाकाल का नीलवर्ण, कालदेव का काला रंग आदि से वर्णों की कुछ संगति बिठाई जा सकती है परंतु सब रसों के संदर्भ में यह आधार प्रमाणित नहीं हो सकता। अतः इस विषय में अधिक अध्ययन की आवश्यकता है।

मनुष्य के जीवन में रंगसंवेदना का विशेष महत्त्व है। रंगों की संवेदना और उनके प्रभाव से मानव ने कुछ संकेत भी निश्चित किये हैं। देश, वहाँ की जलवायु, वातावरण और स्थिति रंगों के आस्वाद एवं अनुभव को नित्य ही प्रभावित करती हैं और उस प्रभाव के अनुरूप संस्कार वहाँ के मानव पर होते हैं। अर्थात् रंगों की संवेदनशीलता एवं संकेतात्मकता का सम्बन्ध किसी संस्कृति और समाजविशेष से जुड़ जाता है। किसी विशिष्ट समाज में एक रंग कुछ महत्ता रखता है, विशेष भाव या लक्षण का निदर्शक होता है तो अन्य समाज के लिये वही वर्ण अन्य बात का सूचक होता है, जैसे पाश्चात्यों में नीली आँखें सुंदरता की प्रतीक है, भारत में काली आँखें। वहाँ सुनहरे बाल और यहाँ काले घुँघराले बाल सुंदरता व्यक्त करते हैं। अतः सौंदर्यात्मक दृष्टि एवं वर्णों के संकेतों में देश, समाज, संस्कृति एवं व्यक्ति के अनुसार विभिन्नता हो सकती है।

मनोविज्ञान से भी यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि वर्णों का एक विशेष भावात्मक मूल्य (emotive value) होता है, जिसका मनुष्य के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। **वुंड** ने कहा है कि "रंग का सम्बन्ध भावना से है और उनसे भावनाओं को बल मिलता है।"[१] वर्ण के भावात्मक मूल्य से कोई रंगविशेष सूचित होता है। एक अंग्रेज़ आलोचक **मिस डाउने** ने इस विषय में पर्याप्त विचार किया है और काव्य में व्यंजित रंगविशेषों से भावात्मक संगति बिठाई है।"[२]

१. काव्यदर्पण से उद्धृत – The colours are not simple sensations, they have an affective tone proper to themselves. (पृ. २९)
२. Creative imagination – The Poetry of Colour. (पृ. ३६)

पाश्चात्यों में वर्ण के भावात्मक मूल्य की दृष्टि से मनोविज्ञान के आधार पर विचार किया गया है पर साथ ही भारत में भी प्राचीन काल से रंगों के भावात्मक मूल्य के संकेत अप्रत्यक्षतः प्राप्त होते हैं । भारतीय परंपरा में विभिन्न रागों के वर्ण निश्चित किये गये हैं। प्रातिशाख्यसूत्र में छन्दों के वर्ण होने का उल्लेख है। 'रूपमण्डन' में चित्रों के रंगों की विशेष भावात्मक व्याख्या है।[१] इनमें भावात्मक मूल्य के साथ सांस्कृतिक सन्दर्भ भी जुडा हुआ है। डॉ. झारी ने इस विषय में कहा है, "वास्तव में रंगों का आधार स्पष्ट रूप से सांस्कृतिक है । मानवसंस्कृति के इतिहास में भिन्न जातियों के अपने-अपने व्यवहार और सभ्यता के चिन्ह तथा सामाजिक संस्कार बन जाते हैं।" डॉ. कीथ ने "संस्कृत ड्रामा" नामक ग्रंथ में भरत की वर्णयोजना की व्याख्या करने का प्रयास किया है ।[२] परंतु इसमें भी त्रुटि मालूम होती है। संस्कार के अनुसार देखा जाय तो प्रेम का रंग लाल माना गया है । फिर शृंगार के लिए लाल के स्थान पर श्याम वर्ण की योजना क्यों ? श्याम वर्ण के साथ संगति बैठने के लिए डॉ. झारी शृंगार के देवता ही बदलना चाहते हैं, परंतु विष्णु से श्याम वर्ण की संगति होती है। भारत में काले रंग को अशुभ मानते हैं, नील को नहीं। नीला रंग तो गंभीरता, भव्यता और विशालता का प्रतीक है।[२] यह महाकाल के नीले कण्ठ का रंग हो सकता है। कालदेव का काला वर्ण भयसूचक है, महाकाल का नील वर्ण बीभत्स का नहीं, बल्कि गंभीरता का सूचक है। यम के कपोतों का भूरा वर्ण उदासी, शोक, कारुण्य व्यक्त करता है । रुद्र की पीठ तो लाल है पर साथ ही

---

१. सम्मेलनपत्रिका, पृ. ४२०-४२४.

२. In each case the theosists give full determinents and the consequent of each emotion which becomes a sentiment and a special colour is ascribed to each, it is not surprising to find that red is associated with the fury, black with fear, whiteness may, in association with the comic sentiment, be explained by the flashing teeth of a laughing maiden, and the dark (yama) colour of the erotic sentiment is a reflex of the favoured hue of the beloved, grey accords with pathos but the connection of yellow with wonder, dark blue with horror and orange with heroism is not obvious.

—Sanskrit Drama, P. 391

३. Creative Imagiantion, P. 87

लाल रंग क्रोधसूचक ही है। हास्य के सफेद रंग की संगति धवल दंतपंक्तियों से बैठाई जाती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भरतकालीन समाज में प्रचलित दैवतशास्त्र के अनुसार अवधारणाओं को स्वीकार करके रसों के लिए देवताओं की नियुक्ति की गई है। रसों के वर्णों की योजना का आधार सांस्कृतिक एवं भावात्मक है।

■ ■

षष्ठ अध्याय

रससंख्या

रसचर्चा के प्रवाह में रससंख्या का प्रश्न बहुचर्चित एवं विवादग्रस्त है। भरत की स्थापना को लेकर उसके पश्चात् आज तक इस चर्चा की सुदीर्घ परम्परा बनी रही। अधिकतर आचार्य परम्परा का पालन करते रहे और आप्तवचन पर विश्वास कर परम्परा के प्रति उनका आग्रह रहा। परंतु कहीं–कहीं मुनिवचन से विद्रोह करके रससंख्या, गौणत्व–प्रधानता में शोधन, परिवर्धन एवं परिवर्तन किया गया। रस की संख्या में विस्तार, संकोच, उसका वर्गीकरण और गौणत्व–प्रधानत्व आदि कतिपय विषयोंपर चर्चाएँ होती रहीं और उस प्रवाह में एक रस से लेकर कितने ही रस गिनाये गये, कभी किसीने एक रस को रसराज माना तो दूसरे किसी विद्वान ने अन्य (किसी) रस में सब रसों का समाहार माना। कभी–कभी केवल नवीनता के मोह में नवनवीन रसों की उद्‌भावनाएँ की गईं पर पानी में क्षणिक उठनेवाले बुदबुदों की भाँति वे नष्ट हो गईं। नवीन उद्‌भावनाओं में व्यक्तिगत प्रतिमा एवं सूझ का योगदान था, परंतु इनके अतिरिक्त अन्य कुछ प्रभावी कारण भी हो सकते हैं।

रससंख्या के सन्दर्भ में परम्परा से मान्य रसों की रसमयता का पुनराख्यान करना, कुछ रसों का अन्य रसों में अन्तर्भाव उचित मानना और नवीन रसों की उद्‌भावना करना इन तीनों प्रकार से चर्चा की जाती है। रससंख्या में परिवर्तन और विकास की अखण्ड परम्परा के मूल में होनेवाले प्रधान कारणों की चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है।

किसी कालविशेष में जिस काव्य की सर्जना होती है, उस समग्र काव्य का एक विशेष ' टोन ' होता है। कालविशेष में विशेष प्रकार की प्रवृत्तियाँ समकालीन साहित्य में व्यक्त होती हैं। साहित्य समसामयिक परिस्थिति से प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप में प्रेरणा ग्रहण करता है और उस साहित्य के स्वरूप, अनुभूति और अभिव्यक्ति पर समकालीन चेतना का प्रभाव होता है। कालभेद से साहित्य की रूपात्मक विविधता

ही उत्पन्न नहीं होती, साथ ही विषय-चयन और जीवन के साहित्यिक चित्रण में भी अंतर आता है। इससे साहित्य में चित्रित आलम्बनादि में भी परिवर्तन होता है जिसके कारण रसों की संख्या एवं भेदों में कुछ घटाई-बढ़ाई अवश्य होती है। समाजगत वातावरण के प्रभाव में मानव-जीवन विशेष प्रभावित होता है, जिसके फलस्वरूप कई भाव विशेष जाग्रत होते हैं इस दृष्टि से विशिष्ट युग में समाज की वातावरणगत स्थिति की सापेक्षता में पूरे समाजजीवन में कोई भावविशेष का प्रभावकारी प्राधान्य रहता है। उसके अनुरूप उसी विशेष भाव की अभिव्यक्ति मानवजीवन तथा समाज-जीवन में प्रमुखता रखती है। प्रगतिवादी समीक्षा के समर्थक श्री. **क्रिस्टोफर कॉडवेल** ने इस भाव को सामूहिक भावना (Collective Emotion) कहा है। इनके मत में काव्य मनुष्यों की व्यक्त होनेवाली आत्मचेतना होती है, परन्तु व्यक्तिरूप में नहीं, अपितु अन्यान्य व्यक्तियों के साधारण भावों के साझेदार के रूप में है।[1] समाज की परिवर्तनशीलता के साथ साहित्य सामूहिक भाव प्रगट करता है। परिस्थितियों और संस्कारों के कारण देश या समाज में कोई भावविशेष अपनी स्थिति बना लेता है। सच्चे कलाकार को सामूहिक भाव की पहचान होनी चाहिये। प्रगतिवादी लेखक **अमृतराय** ने कॉडवेल के सामूहिक भाव को लोकहृदय से संबद्ध करते हुए उसकी विशेषताओं को स्पष्ट किया है।[२] सामूहिक भाव युग तथा समाजजीवन-सापेक्ष होनेसे परिवर्तनशील होते हैं। वे किसी युग या समाजविशेष की परिस्थितियों पर आधारित होते हैं।

कॉडवेल के सामूहिक भावना के मूल में स्थित आर्थिक सम्बन्धों को हटाकर साधारण रूप से इस कल्पना को स्वीकार किया जा सकता है। विशेष युग में समकालीन स्थिति की सापेक्षता में उदित होनेवाला सामूहिक भाव साहित्य को प्रभावित अवश्य करता है। सामाजिक परिवेशगत स्थिति, संस्कृति, धर्म, समाज, संस्था, व्यक्ति और राजनीति आदि का समग्र रूप पर्यावरण तथा युगविशेष को प्रभावित करता है और उसका एक सामूहिक भाव प्रधान बनाता है। इस प्रकार सामूहिक भाव को समान शास्त्रीय दृष्टि ही नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक आधार भी है, अतः इस पृष्ठभूमि को लेकर समकालीन साहित्यिक उपलब्धि, परिवेशगत स्थितिविशेष और सामूहिक भाव के आधार पर रससंख्या की समस्या को सामाजिक दृष्टिकोण से परखना इस अध्याय में अभीष्ट है।

सबसे प्रथम रससंख्या का विकासक्रम प्रस्तुत करना उचित होगा। भरत की रस-सिद्धान्त की स्थापना में आठ ही रस हैं। शृंगार, वीर, रौद्र, बीभत्स, हास्य, अद्भुत,

१. **Illusion and Reality, P. 31.**

२. नयी समीक्षा, पृ. २४

करुण और भयानक इन आठ रसों में प्रथम चार को प्रधान और चार को गौण बताया गया है।

दण्डी भामह ने आठ रसों को ही स्वीकृत किया। उसके पश्चात् उद्भट ने शान्त रस की स्थापना करके नौ रस मान्य किये। कुछ लोग इस पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि सम्भवतः नाट्य और श्रव्य काव्य की दो भिन्न धाराएँ रही हों और उनमें से श्रव्य की धारा ने शान्त को पहले ही स्वीकार किया हो। पर इतना निश्चित है कि **उद्भट** में शान्त रस की स्वीकृति पहली बार प्राप्त होती है। **रुद्रट** ने प्रेयान् को मिलाकर दस रस गिनाये। **रुद्रभट्ट** ने भी नौ ही माने। **धनंजय** ने प्रेयान् या भक्ति का खण्डन करते हुए मृगया, अक्ष आदि को उसमें मिलाया। इससे लगता है कि भक्ति रस की स्थापना उसके पूर्व हो चुकी होगी। रसों की संख्या में वृद्धि की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ती गई कि आचार्यों में यह एक समस्या ही उत्पन्न हो गई। इसका उल्लेख लोल्लट के कथन में है। "**श्री. लोल्लट** ने रससंख्या की बढ़ती हुई अराजकता को ध्यान में रखकर विद्वत्परिषद बुलाने का आग्रह प्रकट किया था।"[1] और **अभिनव** ने भी स्पष्टतः उल्लेख किया है कि, "तेन रसान्तर संभवेपि पार्षद प्रसिद्धया संख्यानियमः।"

रससंख्याविकास के प्रवाह में रुद्रट ने तो यहाँ तक कहा कि आस्वाद्यता की कसौटी को सारे भावों का रसरूप मान लिया जा सकता है। इस अतिविस्तारवादी वृत्ति पर अभिनवगुप्त ने अंकुश लगाया और नौ रसों की प्रतिष्ठापना नाट्य और काव्य के लिये की, जिनमें शान्त को भी स्वीकार किया था। इसके अतिरिक्त लौल्य, भक्ति, स्नेह आदि रस गिनाये गये। उसके पश्चात् फिर विस्तार की प्रवृत्ति बढ़ती ही गई और भोज ने प्रेयान, उदात्त, उद्धत आदि की स्थापना कर बारह रस गिने। शृंगार को अहंकार के रूप में भिन्न रसराजत्व प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त स्वातंत्र्य, हर्ष, आनन्द, प्रशम, परिवश्य, साध्वस, विलास, अनुराग तथा संयम आदि कतिपय रस गिनाये गये। नाट्यदर्पणकार **रामचन्द्र गुणचन्द्र** के समय व्यसन (तृष्णा), दुःख, अरति, और सुख ये रस माने जाते थे। चौदहवीं शताब्दी के आचार्य **विश्वनाथ** ने वत्सल रस की स्थापना के साथ ही अद्भुत को रसराजत्व दिया। **भानुदत्त** ने रस का लौकिक अलौकिक रूप में वर्गीकरण करते हुए नौ पूर्वमान्य रसों के अतिरिक्त भक्ति, वत्सल, और लौल्य को स्वीकार करते हुए कार्पण्य (स्पृहा) तथा माया इन दो नये रसों की प्रतिष्ठापना की। संगीतसुधाकर ने ब्रम्ह, संभोग, विप्रलंभ की स्थापना की। वैष्णव आचार्य **रूपगोस्वामी** ने विरोधों के बावजूद भक्ति रस और मधुर रस की प्रधानता प्रतिष्ठापित की। बाद में क्रीडनक नामक रस माना गया। पुनः **पण्डितराज जगन्नाथ**

१. आधुनिक हिन्दी और मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ. १२७.

जैसे संस्कृत के अन्तिम आचार्य काव्यशास्त्री ने विस्तारवादी वृत्ति का खण्डन करते हुए नौ रसों को मान्यता दी। परंतु तत्पश्चात् यह विस्तारवादी प्रवृत्ति नष्ट नहीं हुई।

रससंख्या में वृद्धि एवं परिवर्तन का क्रम बना रहा। हिन्दी, मराठी और अन्य भाषा के काव्यशास्त्र में यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रही। **आचार्य शुक्ल** जी ने प्रकृति रस की उद्‌भावना की। वही मराठी में उदात्त रस के रूप में प्रस्फुटित हुई। **श्री. शि. म. परांजपे** ने देशभक्ति रस की स्थापना की। प्रेम रस की स्थापना **आचार्य कालेलकर** ने की, **प्रो. जावडेकर** ने क्रान्ति रस माना तो **श्री. देशपांडे** 'अनिल' ने प्रक्षोभ की उपलब्धि की। **श्री. वाटवे** ने उद्वेग की प्रतिष्ठापना और विनोद रस का व्याख्यान किया। **श्री. इलाचन्द्र जोशी ने** विषाद को रस माना तो **डॉ. पु. ग. सहस्रबुद्धे** ने सौंदर्यरस की नवीन उद्‌भावना प्रस्तुत की। **डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त** ने बौद्धिक रस की स्थापना की है। यहाँ तक कि आज ऐतिहासिक रस और वैज्ञानिक रस की माँग हो रही है।

इस विषय में सर्वप्रथम एवं प्रधान प्रश्न यह है कि **भरतमुनि** द्वारा आठ ही रसों की स्वीकृति एवं स्थापना क्यों की गयी? भरत द्वारा आठ रसों की स्वीकृति के कारणों में विद्वानों में पर्याप्त मतभिन्नता रही है। सम्भवतः भरत के पूर्व रस की दो धाराएँ प्रचलित रही हों। एक वासुकी और दूसरी द्रुहिण की। भरत ने द्रुहिणवादी अष्टरसों को स्वीकार किया है। इस बात को स्वयं उन्होंने स्पष्ट भी किया है। आठ रसों के ग्रहण के मूल में अथर्ववेद से प्रेरणा ग्रहण करने की बात कही जाती है। अथर्ववेद में आयुर्वेद की प्रधानता है। अतः बहुत सम्भव है कि भरत ने आयुर्वेद से रससंख्या को स्वीकार किया हो परंतु आयुर्वेद में षड्रस माने गये हैं, अतः रसों की संख्या का प्रश्न उस आधार पर सुलझाया नहीं जा सकता।

इस विषय में एक अन्य कारण बताया जा सकता है कि भरत के सम्मुख नाट्य-प्रयोग, अभिनय तथा रंगमंच था। रंगमंचीय दृष्टि से शांत का प्रभाव नहीं हो सकता। अतः नौ रसों की पूर्वपरम्परा के होते हुए भी आठ रसों को स्वीकार किया होगा और नाट्य के लिए शांत को उचित नहीं समझा होगा। परंतु यह कारण भी पर्याप्त समाधान नहीं दे सकता। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से उत्पन्न निवृत्ति-परकता को स्वीकार न करके वस्तुवादी दृष्टि इसके मूल में हो सकती है।

आठ रसों में चार को प्रधान और चार को गौण क्यों माना गया? अतः रसचतुष्ट की स्थापना के मूल में स्थित कारणों का विचार करना आवश्यक है। **अभिनवगुप्त** द्वारा कथित कारण है कि, "शृंगारादि चार रसों से हास्यादि चार रसों की उत्पत्ति में पुरुषार्थचतुष्टय अर्थात धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का आधार है।" परंतु अभिनवगुप्त के इस मत का खण्डन करते हुए **डॉ. झारी** कहते हैं कि अभिनव क

इस मत से सहमत होना कठिन है, क्योंकि करुणादि 'उत्पाद्य' चार रसों में भी पुरुषार्थ और सौन्दर्यातिशयता पायी जाती है।[१]

भावप्रकाशकार चार वेदों से चार रसों के स्वीकार किये जाने की बात करते हैं। उनके मतानुसार **भरत** ने चार वेदों से प्रेरणा ग्रहण की है। ब्रह्मा से प्रभावित होकर सामवेद से शृंगार, ऋग्वेद से वीर रस, अथर्ववेद से रौद्र रस और यजुर्वेद से बीभत्स रस फिर प्रत्येक से क्रमशः हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक पैदा हुए।[२] परंतु यह बात भी ठीक नहीं लगती। क्योंकि चार रसों में से किसी एक-एक की प्रधानता किसी वेद में नहीं हैं। **श्री. ग. त्र्यं. देशपांडे** ने भी पुरुषार्थनिष्ठता को महत्ता दी है।[३] स्वयं **भरत** ने नाट्य के सन्दर्भ में उल्लेख किया है। क्वचिद्धर्मः, क्वचित्क्रीडा, क्वचिदर्थः, क्वचिच्छमः, क्वचिद्धास्यं, क्वचिद्युद्धं, क्वचित्काम,ः क्वचिद्वधः। धर्मो धर्मप्रवृत्तानां, कामः कामोपसेविनाम् कहा है। अर्थात् स्पष्टतः यद्यपि चार पुरुषार्थों की सिद्धि नहीं लिखी है, फिर भी तत्कालीन मानवजीवन के अंतिम आदर्श का संकेत इसमें है। फिर भी भरतप्रणीत चार रसों की धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से संगति नहीं बैठती। पुरुषार्थ पुरुष का स्वयं प्रार्थित अर्थ। अतः उपर्युक्त कथन भी पूर्णतः लागू नहीं होता। फिर शान्त का क्या होगा? क्या मोक्ष की पूर्ति के लिए उसका स्वीकार करना पडेगा? **प्रा. बेडेकर** ने रसव्यूह बनाकर देवासुर, द्वंद्व कथा के द्वारा असत् और सत् के प्रतीक एवं प्रतिनिधित्व करनेवाले चार रस माने हैं।[४] **डॉ. वाटवे** मुख्य प्रवृत्तियों (primary emotions) को प्रधानता देते हुए मनोवैज्ञानिक भित्ति पर भावों की अप्रधानता-प्रधानता को स्वीकार कर आठ रसों का प्रधानत्व मान्य करते हैं। उनसे भी सहमत होना कठिन है, क्योंकि मनोविज्ञान के भावों को रससिद्धान्त के भाव मान लेने से सब समस्याएँ सुलझ नहीं सकती। अतः वह आधार अधूरा है।

प्रो. तालवार ने कहा है, "ब्रह्मा प्रभावित हुए तो उनके चार मुखों से चार रसों का संचरण हुआ-शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। भरतमुनि ने इन्हीं चार रसों को आदि रस माना है।"[५]

प्राचीन भारतीय चिंतन की प्रधान भित्ति धर्म ही रही है। भरतकालीन समाज में कलाओं का अंतिम लक्ष्य धर्म था। चार पुरुषार्थ तत्कालीन सामाजिक जीवन की आधारशिलाएँ थीं। भरतमुनि पर वैदिक धर्म का विशेष प्रभाव रहा है। प्राचीन

१. बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य, पृ. ५४.

२. भारती पत्रिका, मई १९६६, पृ. ११२.

३. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ. ३४६.

४. साहित्यविचार, पृ. ४०.

५. जनभारती, पृ. ५१

भारतीय धर्मप्रधान समाज एवं संस्कृति में कर्मवाद, वर्णाश्रमव्यवस्था, पुरुषार्थनिष्ठा आदि के साथ समाजजीवन के तत्त्वों का धर्म के अंतर्गत समावेश था। धर्म के सूत्र में गुँथा हुआ प्राचीन भारतीय जीवन एक प्रकार की सामूहिक एकता एवं एकसंघता से युक्त था। कलाओं का स्थान भी जीवन में घुलामिला तथा धर्म से सम्बद्ध था। साहित्य और जीवन की धर्म से अभिन्नता को **प्रा. दि. के. बेडेकर** ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "लौकिक और पारलौकिक, नैतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत, रुखा व्यावहारिक एवं उत्साहपूर्ण कलात्मक सब व्यवहारों में आज समाज में जो द्वैत उत्पन्न हुआ है, वह प्राचीन काल में नहीं था। आज व्यक्ति के लिए धर्म स्वयं तक सीमित, पारलैकिक निष्ठा एवं व्यवहार के रूप में मात्र बचा है।"[1]

दैवतशास्त्र तथा विभिन्न कलाओं के विकास में भी समाज की यही धर्मसापेक्ष दृष्टि स्पष्टतः दिखाई देती है। विभिन्न देवताओं को प्रतीक रूप में मानते हुए मानवीय चरित्रों के आरोपण से उन्हें कुछ विशेषताओं के द्योतक बनाये हैं। आरम्भ में नित्य त्रिमूर्ति की स्तुति की जाती है। भारतीय चिंतन में जैसे त्रिमूर्ति, त्रिशूल आदि कई परम्परागत आदर्श कल्पनाओं एवं संकेतों में त्रिक् की महत्ता या तीन संख्या का महत्त्व है, वैसे ही चार संख्या का भी रहा है। ब्रह्मा के चार मुख, चार आश्रम, चार वर्ण, चार वेद, चार संहिता, चार काया (बौद्धों में), चार आनंद (वज्रयान के), चार यज्ञ (चतुर्मेध), चार धातु (पृथ्वी, आप, तेज, वायु), चतुर्व्यूह, चार युग आदि के द्वारा भारतीय संस्कृति में चार संख्या की लोकप्रियता स्पष्ट हो सकती है। अतः रसों की चार संख्या की स्वीकृति से इसकी संगति बिठायी जा सकती है।

ब्रह्मा ने 'नाट्यवेद' की निर्मिति की, अतः ब्रह्मा के चार मुखों से प्राप्त इस पाँचवें वेद के रसों की चार संख्या की संगति लगती है। परंतु रसों के देवताओं की स्थापना में ब्रह्मा गौण रस (उपरस) के देवता बनाये गये हैं। अतः देवताओं की महत्ता के आधार पर संख्या का प्रश्न सुलझाया नहीं जा सकता। **श्री. बेडेकर** का देव और असुर के द्वंद्व को भारतीय नाट्य के रसचतुष्टय का अधिष्ठान मानना[2] स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि भरत ने आरम्भ में ही अपनी वेदश्रद्धा व्यक्त की है तथा नाट्यप्रयोग एवं शास्त्रीय सिद्धान्त स्थापना के आधाररूप में देवासुरद्वंद्व को ग्रहण किया है। उसके लिए दो कथाएँ स्वीकृत की गई हैं, असुरविजय और अमृतमंथन। ये दोनों ही पौराणिक कथाएँ सुर और असुरों के जीवन से सम्बन्धित हैं और उसके प्रेक्षक भी देव और असुर हैं।

१. साहित्यविचार, पृ. २७.
२. साहित्यविचार, पृ. ४१.

भरत के सम्मुख तत्कालीन लोकजीवन था। चरित्रविषयक दृष्टिकोण, जीवनप्रसंग, विभिन्न घटनाएँ आदि को ध्यान में लेकर भरत ने अपने सम्मुख उपस्थित जीवन से, जो आभिजात्य, उच्च कुलीन संस्कृति से युक्त एवं आदर्शसंपन्न, वर्णाश्रम व्यवस्था से बद्ध था, प्रेरणा ग्रहण कर अच्छा–बुरा, सत्-असत् के विरोधात्मक बिंदुओं को सुरों और असुरों के रूप में उपस्थित किया है। प्रत्यक्षतः यह देव–दानवों के संग्राम का नाट्य ही नहीं बल्कि मानवसमाज में निरन्तर घटित होनेवाले कतिपय प्रसंगों का प्रतिनिधित्व करता है। तत्कालीन एकसन्ध, इकाईपूर्ण उच्च संस्कारशील जीवन को आदर्शवत् मानकर उसको इस प्रतीक के द्वारा भरत ने उपस्थित किया है, जिसके कारण इन चार रसों को स्वीकार किया गया। इनमें मुख्यतः ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व की प्रतिष्ठा है, धर्म और युद्ध की महत्ता है, यथार्थवादिता से आदर्श की रक्षा है।

भरतपूर्व काल से व्यवहार में मान्य, पूर्ववर्ती आचार्यों से स्वीकृत रसों के नामों की ओर देखने से पता चलता है कि महाकाव्यों का प्रभाव रसों के स्वीकारने में अवश्य रहा होगा। प्रत्यक्षतः समाज में जो घटनाएँ घटित होती थीं, महाकाव्यों के काल में जिस युद्धप्रधान संस्कृति की जो महत्ता या विशेषता रही, उससे युद्धवीरता भारतीय सांस्कृतिक जनजीवन का आदर्श रही थी। मानव के जीवनादर्श एवं अनुभवों की विशेषताओं को देखने पर पता चलता है कि समाज के सांस्कृतिक परिवेश से ही रस की धारा फूटी है। आदिकवि की पंक्ति "मा निषाद ..." में करूण की उत्कट व्यंजना की रसधारा फूट पडी है। **डॉ. कृष्णदेव झारी** उसे बीभत्स का उद्‌गम स्थल मानते हैं। एक बात निश्चित है कि महाकाव्य ही भारतीय रसधारा का आद्य प्रणयन स्थान रहा जिससे धाराएँ उन्मुक्त रूप से बहीं और तत्पश्चात् फिर शास्त्ररूप में उसकी चर्चाएँ चलती रहीं। तब से प्रवाहित रस की परम्परा को देखने पर ज्ञात होता है कि रामायण और महाभारत अष्टरस ही क्यों, बल्कि नवरसों से ओतप्रोत हैं।

अतः आठ रसों के स्वीकार की कल्पना प्राचीन भारतीय जीवन के परिवेश में संगत है। अभिजात, उन्मुक्त परंतु स्थूल, रति एवं वीरता से परिपूर्ण प्राचीन भारतीय जीवन उन्नत एवं सम्पन्न होते हुए विभिन्न भावनाओं की उत्कट अभिव्यक्तियों से परिपूर्ण था। परम्परा ने वीरता और रति के कतिपय आदर्श विरासत के रूप में प्रत्यक्ष रखे हैं। अतः समग्र भारतीय सांस्कृतिक जीवन का साररूप अष्टरस में व्याप्त हैं।

शृंगार को अग्रस्थान देने के कतिपय कारण विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये जा चुके हैं, परंतु जैसे पहले स्पष्ट किया गया है कि सामाजिक संदर्भ में प्रसूतत्व एवं निर्माण के सूचक संकेत के रू में विष्णु का ग्रहण और मानव की उत्पत्ति का कारण यह भाव होने से उसे अग्रस्थान स्वाभाविकतया प्राप्त होता है। वीरत्व की प्रतिष्ठा

भरतकालीन समाज में अवश्य ही थी, जिसके फलस्वरुप रौद्र और बीभत्स आये। शृंगार के मूल में रतिभाव का स्वीकार है। स्पष्ट है कि मानव का मूल जीवनाधार यही प्रवृत्ति है। सर्जनात्मकता एवं निर्माणक्षमता के प्रतीक के रूप में रतिभाव ने ही तो मानव में सर्वप्रथम सौंदर्यवृत्ति को जगाया और सारे जगत से आकर्षण उत्पन्न किया। अर्थात् साहित्य के प्राण सौंदर्यवृत्ति को जगानेवाली यह मूलभूत उर्वराशक्ति है। शृंगार के विभिन्न अर्थों एवं सम्बन्धों को स्पष्ट कर विद्वानों ने उसके अग्रस्थान की चर्चा की है। **प्रा. बेडेकर ने** मिथुनभाव की महत्ता को भारतीय परम्परा-प्रवाह के सन्दर्भ में समझाते हुए शृंगार का अर्थ शुभ लगाना उचित माना है। किसी ने युवावस्था की ओर संकेत किया है। अर्थात् लगभग सारे काव्यशास्त्रियों ने शृंगार रस को रससंख्या में अग्रस्थान देना मान्य किया है। सूक्ष्म अवलोकन करें तो इसमें सन्देह नहीं है कि आदिकवि की प्रतिभा से एक मिथुन में भग्न क्रौंच पंछी के जोडे के क्रंदन से रसधारा फूट पडी है। अतएव शृंगार की प्रधानता को स्वीकार करना पडता है।

परन्तु **श्री. न. चिं. केळकर** शृंगार के अग्रस्थान को मान्य करते हुए कहते हैं, "लोग कहेंगे कि मानवसृष्टि की परम्परा बनाये रखने के लिये रतिभाव आवश्यक है और रतिभाव जिसका स्थायीभाव है वह शृंगार रस। इससे शृंगार को प्रथम स्थान देना चाहिये। परंतु यह प्रमाण व्यर्थ है। मानवसृष्टि की परम्परा बनाये रखने के लिये अर्थात जैसे संतति-उत्पत्ति के लिए रतिभाव आवश्यक है, वैसे संततिसंरक्षार्थ "वात्सल्य" भाव की आवश्यकता होती है।"[1] आधुनिक आलोचकों का वैयक्तिक दृष्टिकोण मात्र कहा जा सकता है, अन्यथा आज भी शृंगारपूर्ण साहित्य की माँग एवं खपत अधिक है।

वीर रस के स्वीकार में किसी ने भी कभी आपत्ति नहीं उठायी। सम्भवतः वीर रस युद्धप्रधान संस्कृति में स्वीकृत किया गया होगा। भरतकालीन समाज में युद्ध की विशेष प्रधानता होने के कारण युद्धवीर को स्वीकार कर प्रधान रूप देना स्वाभाविक ही था। पर साथ ही धर्मवीरता और दानवीरता के आदर्श उसके समक्ष थे। अर्थात् भेदों की दृष्टि से आचार्यों ने नित्य परिवर्तन अपनाये। वीर रस के कई भेद-उपभेद गिनाये गये और आधुनिक काल में वीरत्व की व्याख्या नये सन्दर्भ में करते हुए "पंचमविशिख" की स्थापना का प्रयास भी रहा अर्थात् अहिंसा वीर। रौद्र के सम्बन्ध में भरत की स्थापना पर आचार्यों में मतभिन्नता रही है। कुछ विद्वान क्रोध के तामसिक स्वरूप के कारण रौद्र का स्थान अस्वीकार करते हैं। कुछ रौद्र रस का अंतर्भाव वीर रस में करना चाहते हैं। **डॉ. वाटवे ने**[2] अमर्ष को वीर रस का स्थायीभाव मानकर रौद्र रस की पृथक् सत्ता को ही अस्वीकार किया है। बीभत्स रस के स्वीकार

१. हास्यरसविचार, पृ. ३१३-१४.

२. रसविमर्श, पृ. २९९; अभिनव काव्यप्रकाश, १०३।१०७

में आधुनिक कतिपय विद्वानों में विरोध की भावना दिखाई देती है। **प्रा. बेडेकर** को लगता है भरतकालीन रणभूमि से संलग्न जीवन से प्रेरित और देवासुरसंग्राम कथा से निकटवर्ती जीवन की कल्पना में रौद्र और बीभत्स को निकाल डालना, किसी गाडी के एक पहिये को ही निकाल डालना है।[1] कोई बीभत्स रस की आस्वाद्यता पर प्रश्नचिन्ह लगाकर तो कोई मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कसकर उसकी अनावश्यकता को प्रकट करते हैं। **डॉ. वाटवे** तथा **श्री. द. के. केळकर**[2] अनास्वाद्य और साहित्य में अप्रधान होने के कारण बीभत्स रस का बहिष्कार करना चाहते हैं। बीभत्स रस के पारम्पारिक रूप को पूर्णतया त्याग कर, नये युग में मानसिक जुगुप्सा पर आधारित बीभत्स रस का व्यापक व्याख्यान **डॉ. कृष्णदेव झारी** ने अपने प्रबन्ध में किया है। भरत की हास्य रस की स्थापना में संस्कृत साहित्यान्तर्गत हास्यविनोद, राजाश्रयी विदूषक आदि अभिजात जीवन में पनपनेवाला हास्य था और उसे शृंगार की विकृति मात्र मानकर उपरस का स्थान प्राप्त हुआ। प्राचीन काल में हास्य रसप्रधान साहित्य भी अधिक उपलब्ध नहीं था। अतः रसमालिका में यद्यपि हास्य को स्थान प्राप्त है, परंतु उसके विकसित रूप को नहीं। युगपरिवर्तन में हास्यप्रधान साहित्य की उपलब्धि, मुक्त समाजजीवन आदि के साथ हास्य का विकास होकर आधुनिक विद्वान **श्री. न. चिं. केळकर** ने उसे रसराज की उपाधि प्रदान की है और स्पष्ट आधारों के साथ रसराजत्व सिद्ध करने का प्रयास किया है।[3] बीसवीं सदी की यह स्थापना साहित्याभिरुचि एवं हास्यप्रधान विपुल साहित्यसर्जना का फल है।

अद्भुत रस को वीर का उत्पाद्य मानकर भरतकालीन वीर नायक के अद्भुतरम्य कृतित्व की व्यंजना को महत्ता थी। भरत के पश्चात् उसकी विशेष चर्चा न होकर आप्तवचनप्रमाण माना गया और नारायण ने चमत्कार रूप में उसे रसराज की उपाधि दी। सम्भवतः तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के आसपास साहित्यसर्जना पर दरबारी चमत्कारपूर्ण प्रवृत्ति का विशेष प्रभाव रहा होगा। आधुनिक विद्वान परिवर्तित युग के परिवेश में अद्भुत के अस्तित्व पर भी आपत्ति उठाते हैं।[4]

करुण रस की उत्पत्ति में "रौद्रात् भवति करुणः" पर विद्वानों में पर्याप्त विचार रहा। परंतु **प्रा. बेडेकर** ने रसव्यूह के आधार पर राक्षसवत् आश्रय के क्रोधाभिव्यक्ति के कार्य के फलस्वरूप नायक का आत्मत्याग और उससे करुण रस की उत्पत्ति दिखाकर इस समीकरण को अच्छी तरह से समझाया है। " एको रसः करुणः इव " कहनेवाले भवभूति के कविहृदय पर रामायण के कारुण्य का अधिक प्रभाव रहा, जिसके कारण

१. साहित्यविचार, पृ. ४५
२. रसविमर्श, पृ. २५९; काव्यालोचन, पृ. १३४।१३५
३. हास्यरसविचार, पृ. ३१७
४. अभिनव काव्यप्रकाश, पृ. १०९

"उत्तररामचरित" की रचना हुई। इस प्रभाव के फलस्वरूप उसने उसे रसराज का स्थान दिया। भयानक रस को आचार्यों ने गौणत्व देकर आज के युग में "मानसिक भय" आदि के आवरण में भयानक रस का प्रश्न गौण ही माना है।

भरत द्वारा स्वीकृत रसों की मालिका में शान्त और भक्ति का अन्तर्भाव नहीं है। उसके कारण भी सामाजिक परिवेश में ढूँढे जा सकते हैं। रसमालिका में शान्त रस का अस्तित्व पहले से विवाद्य रहा है। कुछ विद्वान शान्त का अन्तर्भाव भरत की स्थापना में करते हैं और कुछ श्लोकों के आधार पर नाट्य शास्त्र में शान्त रस का अस्तित्व प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं।[1] परंतु अन्य कुछ विद्वान उसे प्रक्षिप्त मानते हैं। **डॉ. राघवन** के मत में भरत के रससिद्धान्त में रस रूप में शान्त रस को मान्यता न मिली हो, परंतु शान्त के उल्लेख मिलते हैं। वे कहते हैं, "हम भरत की स्थापना में शान्त रस के कुछ अंश ढूँढ सकते हैं। भरत स्वयं एक ऋषी होने से उन्होंने ऋषियों के समूह को नाट्यशास्त्र दिया। अतः कहीं भी ऋषी, तप, बन आदि का ध्यान क्वचित ही हटा सके हैं। वस्तुतः शान्त रस के कुछ अंशों एवं स्थितियों का उल्लेख **भरत** द्वारा अवश्य ही किया गया है"[2] अभिनव ने उल्लेख किया है कि "प्रतीयत एवेति मुनिनाप्यंगीक्रियत एवं क्वचिच्छमः इत्यादि वदतः।"

इनसे दो बातें प्रमाणित हो जाती हैं कि तत्कालीन समाज में काव्यशास्त्रीय चर्चाओं और आचार्यों में शान्त रस प्रचलित था। साथ ही मौर्यकाल से अशोक के काल तक राजाश्रय के कारण समाज पर जैन और बाद्ध धर्म का विशेष प्रभाव था। उस पृष्ठ-भूमि पर भरत द्वारा शान्त का अस्वीकार सूचित हो जाता है। साथ ही अन्य एक बात भी स्पष्ट हो जाती है कि भरत शान्त रस की परम्परा से भली-भाँति परिचित थे, काव्य में शान्त का महत्त्व भी उस समय था; इतना होते हुए भी उन्होंने रसमालिका में शान्त रस को स्वीकार नहीं किया। शान्त रस के अस्वीकार का कारण राघवन यों बताते हैं कि, "भरत के सम्मुख के मोक्षप्राप्ति के लिये और विरागपूर्ण नाटक नहीं थे।"[3] इस

१. भरत का नाट्यशास्त्र, अ. ६, १०३-४-१०८-१०.

२. We ean explore the possibilities of finding some aspects of S'anta in Bharat's accepted text...Bharat, himself was a sage, gave a Natyashastra to an assemblange of sages. Bharat therefore, could hardly have lost sight of Rsis, the forests, Tapas, etc. As a matter of fact, Bharat does mention aspects of Santa rasa and its attendant conditions. —Number of Rasas; P. 17

३. Bharat did not have before him a specimen of drama written only for Moksha and Viragins.
—Number of Rasas; P. 20.

से सहमत होना कठिन है क्योंकि भरत के काल में अश्वघोष के नाटक लोकप्रियता पा चुके थे। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को काव्यमय अभिव्यक्ति देने के हेतु से लिखे गये उसके नाटकों में शान्त रस की ही प्रधानता थी। अतः उनका यह तर्क निरर्थक प्रतीत होता है।

नाट्यशास्त्र एवं रससिद्धान्त की स्थापना के मूल में भरत की दृष्टि विशुद्ध मनोरंजनपरक और बोधवादी प्रयोगात्मकता से परिपूर्ण थी, इसका उल्लेख स्वयं उन्होंने ही किया है, अतः अभिनय तथा प्रवृत्तिकारक आस्वाद की दृष्टि से शान्त की अस्वीकृति करना सम्भव था। **डॉ. दीक्षित** ने शान्त रस के अस्वीकार के संन्दर्भ में भरत द्वारा अस्वीकृति, उसमें विक्रीयाजनकता होना, एवं वीर और बीभत्स में अन्तर्भाव होने की ओर संकेत किया है।[1]

रसचर्चा के ऐतिहासिक विकासक्रम में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भरत की तत्कालीन समाज में उदित होनेवाले ब्राह्मणत्व-प्रधान धर्म में, विशेष श्रद्धा थी। वे बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव से बचना चाहते थे। पूर्ववर्ती समाज में इन धर्मों के प्रभावस्वरूप उत्पन्न निवृत्तिपरकता, विरक्ति और जीवन-भोग से वितृष्णा के स्थान पर प्रवृत्तिपरक यथार्थ दृष्टि साहित्य को देना भरत को अभीष्ट था। अतः उन्होंने शान्त रस को जानबूझकर अस्वीकार किया। भरत ने बौद्ध और जैन धर्म की निवृत्तिपरकता से आंतकित जनता को मोक्ष, निर्वाण, निवृत्ति आदि के बदले मनोरंजन-प्रधान प्रयोगशील रंगमंचीय, दृश्य एवं प्रवृत्तिपरक दृष्टिकोण दिया। तत्कालीन समाजस्थिति में भरत द्वारा साहित्यशास्त्र को यह बडा योगदान प्राप्त हुआ। उन्होंने प्रवृत्तिपरकता, वैदिक आस्था एवं प्रयोगशील दृष्टि के सहारे तत्कालीन जीवन को आदर्श की चौखट में बाँधकर रस की स्थापना की अतः शान्त रस से वे दूर रहे।

शान्त रस के साथ भक्ति को भी भरत द्वारा स्वीकृत रसमालिका में स्थान नहीं है। परंतु यह प्रश्न उतना विवादग्रस्त नहीं है, जितना शान्त रस का विवाद्य है। भक्ति का विकास पुराणकाल में विशेष रूप से हुआ है। वेदकालीन समाज में प्राकृतिक देवताओं का आवाहन, यज्ञादि क्रियाओं की महत्ता थी और यज्ञ के चारों ओर ही जनजीवन गुँथा हुआ था। भरत पर वेदकालीन संस्कारों की विशेष छाप थी, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। उपनिषद् काल में ब्रह्म आर आत्मा की खोज हुई तथा उनके परस्पर सम्बधों की चर्चा के साथ चिंतनपरक दृष्टिकोण उपस्थित हुआ। फिर प्राकृतिक देवताओं के आवाहन के स्थान पर ब्रह्ममायादि की चर्चा विशुद्ध ज्ञानपरक दृष्टिकोण से होती रही। गौतम बुद्ध के उपदेश में ज्ञानपरकता, विचार, विवेक, कर्मकाण्ड का विरोध, जातपात का नाश, ईश्वर के अस्तित्व की अस्वीकृति आदि तत्त्वों

१. रससिद्धान्त : स्वरुपविश्लेषण, पृ. २५८.

के कारण भक्ति को स्थान नहीं था। यह बात अलग है कि आगे चलकर वे स्वयं भक्ति के उच्चतम आदर्श बन गये। मौर्यों के कालतक बौद्ध धर्म के उपदेश की छाप समाज पर पूर्णतः पडी हुई थी। भरत के काल में ब्राह्मणत्वप्रधान नये धर्म का उदय हो रहा था। उसे भरत ने विशेष रूप में स्वीकृत किया था। अतः भक्ति की विशेष प्रधानता भरत के समाज में नहीं थी। यद्यपि महाकाव्यों में भक्ति का स्रोत मिलता है' फिर भी भक्ति का वास्तविक उदय एवं विकास तथा विभिन्न संप्रदायों का विकास गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् हुआ है। उसके प्रभावस्वरूप उस काल के साहित्य में भी भक्ति यह "सामूहिक भाव" ही बन गया था। परंतु भरत के काल में यह स्थिति नहीं थी।

भरत द्वारा आठ रससंख्या की स्थापना के पश्चात् विकासक्रम में लगभग पाँच-सात सौ वर्षों में उसमें कुछ परिवर्तन नहीं दिखायी देता। परंतु उसके पश्चात् रससंख्या के विस्तार की और भेद-उपभेदादि चर्चा की बाढ़-सी आयी। समय-समय पर स्वीकृत रसों के नाम एवं महत्ता का गहराई से अध्ययन करने के पश्चात् प्रतीत होता है कि इस परिवर्तन के मूल में सामाजिक परिवर्तन एवं विकासक्रम ही हैं। कालपरिवर्तन के साथ समाज की परिस्थिति विशेष के अनुसार साहित्य का "सामूहिक भाव" रहा है। साहित्य में होनेवाले "सामूहिक भाव" ने काव्यशास्त्रीय चर्चा को अवश्य ही प्रभावित किया है। अतः रससंख्या के सन्दर्भ में उसी आधार को ग्रहण कर परीक्षण करना उचित होगा। युगीन प्रभाव में प्रधानतया राजनीति, धर्मक्रांति, विभिन्न धार्मिक संप्रदायों का विकास, सामाजिक परिवर्तन, दार्शनिक मतवाद और विशिष्ट साहित्यचेतना का महत्त्व रहा है। इस युगीन सामाजिक परिवेश के अतिरिक्त कहीं-कहीं व्यक्तिगत सूझ एवं नवीनता के मोह से रससंख्या में वृद्धि हुई है परंतु उसका महत्त्व कम रहा है। अतः समय-समय पर स्वीकृत रसों का समूह-विशेष बनाकर सामाजिक परिवेशगत प्रभाव को परखना यहाँ उद्देश्य है।

शान्त-ब्राह्म-प्रशान्त-माया आदि रसों के मूल में यह दार्शनिक प्रभाव महत्त्वपूर्ण है। भरत के पश्चात् पाँच-सात शताब्दियों के अनन्तर रसमालिका में शान्त को प्रतिष्ठा देने का कार्य **उद्भट** द्वारा सम्पन्न हुआ। **वेबर, विन्टरनिट्स्, डे** आदि सब के मत में पाँचवीं शती में शान्त का स्वीकार हुआ है। जिस कारणवश **भरत** ने शान्त को स्वीकार नहीं किया, उसी कारण से बाद में उसका स्वीकार हुआ है।

चौथी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का काल भारतीय दर्शनों के विकास का काल रहा है। गुप्त-वर्धन शासनकाल में हिंदु धर्म के विकास एवं राजाश्रय प्राप्ति के साथ बौद्ध धर्म का प्रचार एवं महत्त्व भी बढ़ा था। साथ ही भारतीय षड्दर्शनों का विकास निरंतर होता रहा। आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट द्वारा दार्शनिक क्रांति सम्पन्न हुई। इस स्थिति के फलस्वरूप भारतीय जीवन एवं साहित्य को

दार्शनिक प्रभाव, सूक्ष्म चिन्तनपरकता, प्रगल्भ प्रज्ञा का विलास एवं ब्रह्मवाद ने प्रभावित किया। अद्वैतवाद के साथ ब्रह्मवाद, मायावाद, आत्मा–ब्रह्म की अमरता, विशुद्ध चैतन्य आदि के सहारे आध्यात्मिक आदर्शवाद की स्थापना हो गई।

मेरे मत में उपर्युक्त सारे रसों के स्वीकार में यही दार्शनिक पृष्ठभूमि महत्त्व-पूर्ण है। वही इन रसों का मूल उत्स है। इसी काल में दार्शनिकता के धागों से रससूत्र गुँथा जाने लगा, आध्यात्मिक रूपकों एवं प्रतीकों को ग्रहण किया गया और उस आवरण को पुष्ट बनाने के लिए आध्यात्मिक भाव एवं दार्शनिक मतवाद के पोषक रसों को स्वीकार किया गया। इस काल के सारे काव्यशास्त्रियों, **शंकुक, रुद्रट, भट्टतौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, क्षेमेन्द्र** आदि ने, शान्त को स्वीकृति दी है। समकालीन चिंतन के कारण जीवन के सुखदुःखादि एवं मिथ्या जगत के परे, सत्य में अधिक विश्वास होनेसे "निर्वेद" की महत्ता बढ़ी। **अभिनवगुप्त** ने तो शान्त रस को महत्ता देते हुए उसी में अन्य सभी रसों का परिहार माना। **शंकराचार्य** के अद्वैत की "माया" मिथ्या के प्रभाव से **भानुदत्त** के माया रस (मिथ्याज्ञान – स्थायीभाव) की स्थापना करने में ब्रह्मवाद की छाया है। वस्तुतः माया रस और शान्त रस परस्पर विपरीत हैं। माया का स्थायीभाव है मिथ्याज्ञान और शान्त रस का निर्वेद। अतः माया रस प्रवृत्तिमूलक है और शान्त रस निवृत्तिपरक। यहाँ इस भेद में पड़नेकी आवश्यकता नहीं है। यह निश्चित कहा जा सकता है कि दोनों की स्वीकृति के मूल में दार्शनिक प्रवाह ही है।

संगीतसुधाकर के रचयिता का ब्राह्म रस संत ज्ञानेश्वर के "ब्रह्म रस" के वर्णन से मिलता है। जैन अनुयोग सूत्र में नौ रसों में नवम रस प्रशान्त है। इसे जैन दर्शन की फलश्रुति कहा जायेगा। परंतु इन रसों के स्वीकार की स्थापनाएँ लगभग समकालीन हैं। इस समय उत्तर भारत में अभिनवगुप्त ने शान्त रस को महत्तम पद पर स्थित किया, उसी काल में दक्षिण के महान सन्त ज्ञानेश्वर ने नवरसों को मान्यता देते हुए कहा, "नाना नवरस सुदब्धि परिपूर्ण"...परंतु उन्होंने आठ रसों की अपेक्षा शान्त को विशेष महत्ता दी और उसमें शृंगार के सिर पर पाँव रखने की सामर्थ्य का होना बताया है।[१]

शान्तादि अन्य रसों के स्वीकार में अन्य एक कारण हो सकता है कि रस की चर्चा विशेषतः जब केवल काव्यरस के रूप में होने लगी तब शान्त आदि रसों का परिपोष सफल रूप से हो सकता था। अतएव उसके ग्रहण में कुछ प्रतिरोध नहीं रहा। इसीलिये सम्भवतः नितान्त नाट्यपरक दृष्टि रखनेवाले **धनंजय** शान्त रस के स्वीकार का विरोध करते हैं।[२]

---

१. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३, श्लोक ११५५

२. दशरुपक, पृ. १४८

सामाजिक परिवेश, परिवर्तन एवं स्थिति की सापेक्षता में साहित्यिक अभिव्यक्ति, आलम्बनादि में भी पर्याप्त अन्तर आया है। युगीन सामाजिक परिवेश की सापेक्षता में साहित्य का विशेष "टोन" बनता है और "सामूहिक भाव" भी भिन्न बन जाता हैं। शृंगार, प्रेयान, सख्य, प्रेम, वात्सल्य, स्नेह, उद्वेग, विषाद, आदि विभिन्न रसों की स्वीकृति में समकालीन सामाजिक स्थिति का प्रभाव ही विशेष रूप में परिलक्षित होता हैं। "रति" ने सामाजिक सम्बन्धों में भिन्न रूप धारण किया और सम्बधों के अनुसार उसका रूप एवं नाम बदलता आया है। इन सभी रूपों का चित्रण तो काव्य में प्राचीन काल से होता आया है पर नवयुग में भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में उन भावों की उत्कटता प्रतीत होने के कारण काव्यशास्त्रियों को "रस का स्थान" देने का मोह होता है।

आधुनिक युग में जो एक प्रकार का मानसिक तनाव, जटिलता, घुटन, और पीड़ा का अनुभव हो रहा है, उसने साहित्य में अभिव्यक्ति पायी है। अतः साहित्य में उद्वेग, विषाद, अवसाद, निराशा आदि भावों की विशेष अभिव्यक्ति है। काव्यशास्त्रियों को इन भावविशेषों में "रस" के नाम से अभिहित करने का आकर्षण उत्पन्न होकर रस की प्रतिष्ठा दी जाती है। परंतु वस्तुतः आज मानव के जटिलतम जीवन में कई ऐसे सम्मिश्र भावों का उदय होता है, उन सभी भावों को रस का स्थान देना उचित नहीं हो सकता। रस के लिये आस्वाद्यता आदि कई कसौटियों के साथ ही भाव की सघनता से काव्य में रसविभोरावस्था प्राप्त कराने की सामर्थ्य आवश्यक होती है। क्षणिक होनेवाले भावसंस्पर्शों में वह सम्भव नहीं होती। अतः इन सारे रसों की स्वीकृति काव्यशास्त्र में विवाद्य बनी रही है।

स्वातंत्र्यपूर्व काल में भारत में देशभक्ति की जैसी लहर उत्कटता एवं तीव्रतर रूप में उठी, वैसी पहले कभी नहीं उठी थी। राजनीतिक क्रान्ति ने पूरे साहित्य को झकझोर डाला। कवि क्रान्ति के नारे लगाने लगे, मातृभूमि का प्रेम और अंग्रेजों के प्रति प्रक्षोभ व्यक्त किया जाने लगा। सारा भारत राजनीतिक आन्दोलन के वातावरण से रंग गया था। कवियों ने समकालीन स्थिति से प्रेरणा ग्रहण कर अनुभूति को वाणी दी और उससे जो काव्यस्रोत फूट पडा, वह क्रान्ति की भावना, देशप्रेम, राष्ट्रभक्ति, प्रक्षोभ आदि विभिन्न भावों से ओतप्रोत था। अतएव रससंख्या में उन्हीं समकालीन उत्कट भावों, सामूहिक भावविशेषों के ग्रहण की वृत्ति बढ़ी और इन्हीं विभिन्न भावों को "रस" की प्रतिष्ठा देने का प्रयास किया गया।

पुराणकाल में भक्ति को प्रधानता मिली। रामकृष्णादि देवताओं के विभिन्न अवतारों की कल्पना एवं तद्सम्बन्ध में कथाएँ प्रचलित हुई और विभिन्न देवताओं की आराधना से उनको प्रसन्न करने की कल्पनाएँ उदित हुई, परिणामस्वरूप विभिन्न भक्तिसंप्रदायों क भी उदय हुआ। साहित्य में भक्ति रस की विशेष रूप से अभिव्यक्ति होने लगी और काव्यशास्त्र में उसके अन्तर्भाव की चर्चाएँ भी सम्भवतः काव्यगोष्ठियों में होने लगी

भक्ति रस की प्रारंभिक उपस्थिति का श्रेय डॉ. दीक्षित आचार्य दण्डी को देते हैं।[1] जो सामयिक प्रभाव के फलस्वरुप उचित प्रतीत होता है।

विदेशी आक्रमणकारियों से आक्रान्त एवं उनके अत्याचारों से पीडित जनता को भक्तिरस से प्लावित काव्यधारा से शान्ति देने का तथा अपने धर्म की रक्षा करने का प्रयास भक्त कवियों ने किया आर समाज में धार्मिक क्रान्ति ही उपस्थित हुई। वैसे भक्ति के बीज तो भागवत में मिलते हैं। परंतु उसका लहलहाता वृक्ष विभिन्न सम्प्रदायों की शाखा-उपशाखाओं में इस काल में फला-फूला। भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप भक्ति की भावना इतनी उत्कटता तक पहुँची कि काव्यत्व के स्तर पर आस्वाद्यता से परिपूर्ण बनी। सारा काव्य भक्तिरस से सराबोर हुआ और भक्ति "सामूहिक भाव" बना।

इस पूरी स्थिति के फलस्वरूप वैष्णव भक्तों ने भक्ति रस तथा मधुर रस की स्थापना कर उसे रसराज का पद घोषित किया। मुसलमानी–मुगल शासन में शृंगार की धारा भक्ति में मिल गई। देवी-देवताओं के अवतारों में कृष्ण–राधा आराध्य बने और उनकी आराधना में मन्दिरों में साज-शृंगार और अन्य सारी विधियाँ सम्पन्न की जाने लगीं। समकालीन स्थिति, जनरुचि एवं व्यक्तिगत सूझ से इस काल के वैष्णव भक्तों ने मधुर रस की स्थापना से रसचर्चा को मण्डित कर दिया। वातावरण से इनके प्रेरणाग्रहण को कल्पना श्री. जयशंकर प्रसाद के इस वक्तव्य से आती है कि "यद्यपि भक्ति को भी इन्हीं लोगों ने मुख्य रस बना लिया था, किन्तु उसमें व्याज से वासना की बात कहने के कारण वह दृढ प्रभाव जमाने में असमर्थ थी। क्षणिक भावावेग हो सकता था।"[2] भक्ति रस की स्थापना के पश्चात् प्रश्न उपस्थित हुआ कि उसे शृंगार के अन्तर्गत रखे या भक्ति के मधुर रस शृंगार का स्थान कदापि नहीं ले सकता, न ही विशुद्ध भक्ति का। मध्यकालीन राजनीतिक संत्रास, सामाजिक पतन एवं धार्मिक विवृत्ति के कारण मानव की चेतना देवता के चरणों में अर्पित हुई और समकालीन शृंगार की उन्मुक्त धारा को देवता की भक्ति में समर्पित कर दिया गया। मधुर रस इसी का निचोड है।

आधुनिक काल में भारतीय जीवन एवं साहित्य पर पाश्चात्य संस्कृति, सभ्यता एवं साहित्य और संपर्क के कारण भारतीय साहित्य में नवीन आलम्बनों, भावों और अनुभूतियों की उद्‌भावना हुई है। इससे प्रभावित होने के कारण केवल साहित्य के रूपों में ही परिवर्तन नहीं आया, बल्कि उसकी चेतना एवं संवेदना भी पर्याप्त परिवर्तित हुई। पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्तियों के प्रभाव ने साहित्य में स्वच्छन्दता, प्रकृतिप्रेम, व्यक्तिगत प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति को प्रधानता मिली। प्रकृति

१. रससिद्धान्त : स्वरुप-विश्लेषण, पृ. २६८
२. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध

का उदात्त, भव्य, सुंदर, कमनीय, रौद्र, शृंगारिक विभिन्न रूपों में चित्रण किया जाने लगा। मानव के सभ्य, प्रगतिशील एवं कृत्रिम जीवन में उत्तरोत्तर प्रकृति के अधिकाधिक पास पहुँचने का प्रयास, उत्कटता एवं तीव्र इच्छा बढ़ती रही और केवल उद्दीपक रूप में प्रकृति को स्वीकार करने की अपेक्षा उसको मानवीकरण द्वारा आलम्बन आश्रय का भी स्थान मिला। एक काल विशेष में प्रकृति ही काव्य की प्रधान चेतना बनी। उस काल के काव्य में यही 'सामूहिक भाव' बन गया था। स्वाभाविकतः विद्वानों द्वारा प्रकृति रस और उदात्त रस की माँग की जाने लगी। मराठी के विद्वान **श्री. विष्णुशास्त्री चिपळूणकर** ने लगभग उसी समय उदात्त रस की स्थापना की, जिस समय **आचाय शुक्ल** ने प्रकृति रस का महत्त्व स्थापित किया। स्पष्ट है कि **विष्णुशास्त्री** का उदात्त रस, **भोज** प्रणीत उदात्त रस से नितान्त भिन्न है। समकालीन अत्याधुनिक साहित्यदृष्टि एवं समीक्षाशास्त्र में सौंदर्यचिंतन एवं सौंदर्यशास्त्र (aesthetics) की विशेष महत्ता है। साहित्य में सुन्दरम् की स्थापना स्वच्छन्दतावादियों द्वारा ही की गई है और आधुनिकता का एक लक्षण सौंदर्यतत्त्व माना जाता है। सम्भवतः इस प्रेरणा से ही **डॉ. पु. ग. सहस्रबुद्धे** ने सौंदर्य रस की प्रतिष्ठा की है।[1]

उपर्युक्त रससंख्या के विकासक्रम के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रससंख्या के विकास के मूल में समकालीन सामाजिक परिवेशगत परिस्थितियों का प्रभाव, प्रधान साहित्यिक चेतना एवं 'सामूहिक भाव' ही प्रधान कारण हैं। रससंख्या की वृद्धि के साथ कुछ रसों की अनुपयुक्तता, अनास्वाद्यता, समयानुसार क्षीणता या अप्रभावकारिता व्यक्त करके संकोच की प्रवृत्ति रही है। उसके मूल में भी उपर्युक्त कारणों के बावजूद व्यक्तिगत सूझ एवं मतभिन्नता महत्त्वपूर्ण रही है।

रससंख्या की वृद्धि एवं संकोच की यह प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं हो सकती। परंतु इसके विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि यदि एक-एक भाव को रस का स्थान देने का प्रयास बढ़ता जाये तो उसका कहीं अन्त ही नहीं हो सकता। रस के परिपोष के लिए भावविभोरता एवं मग्नता का अनुभव होना आवश्यक होता है। भाव में उतनी क्षमता एवं सघनता होनेसे ही वह रस की कोटि तक पहुँचने में समर्थ हो सकता है। अतः भावव्यंजना को रस मानकर उसके स्वतंत्र रूप की स्थापना कर संख्या में वृद्धि या परिवर्तन का जो प्रयास किया जाता है, वह सिद्धान्ततः भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है।

आज रससंख्या का प्रश्न उतना चर्चित नहीं है। क्योंकि आज रस को ही अस्वीकार करने की दृष्टि प्रबल हो रही है। अतः नवीन काव्य में बौद्धिकता के अतिरिक्त भावात्मकता को यदि स्थान भी है, तो भावों की सघनता के रूप में नहीं, खण्डित भावराशि बौद्धिक अंश से जुड़ी हुई है; भाव का संस्पर्श मात्र है। फिर भी

१. हंसपत्रिका, १९६८.

"बुद्धि-रस" की माँग की जाती है। इस पर **डॉ. इन्द्रनाथ मदन** के शब्दों में इतना ही कहना पर्याप्त है कि "तथाकथित बुद्धिरस की कल्पना रसवादियों की तुष्टि के लिये की जाती है, भक्ति रस की अवधारणा हो सकती है तो बौद्धिक युग में बुद्धि रस कि, फिर निन्दा रस की भी हो।"[1]

■ ■

१. आलोचना और साहित्य, पृ. ४१

सप्तम अध्याय

समूह, व्यक्ति और रसात्मक बोध की स्थिति

मानवमन की विभिन्न संवेदनाओं एवं अनुभूतियों की भाषिक अभिव्यक्ति साहित्य का रूप धारण करती है। साहित्यिक रूप में अभिव्यक्त कवि की यह अनुभूति केवल स्वतंत्र इकाई नहीं होती। कवि और आस्वादक समाज के अंगरूप हैं। उन का व्यक्तित्व भी समाजसम्बन्ध से नितान्त मुक्त नहीं हो सकता, बल्कि वह समाज-जीवन से एक विशेष प्रकार का सापेक्ष सम्बन्ध रखता है।

सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समाज में मनुष्य के कुछ समूहों का अस्तित्व मान्य है, जिनका वह स्वयं सदस्य होता है। इन समूहों की विशेषताओं एवं उनके अन्तर्गत होनेवाली आंतरक्रियाओं (Interaction) का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है। कुछ विशेष प्रकार की आंतरक्रियाएँ इन समूहों में घटित होती रहती हैं। साहित्य के आस्वादक का व्यक्तित्व समाज की सापेक्षता में बनने के कारण उस समाजविशेष की विशेषताओं से युक्त होता है। भिन्न-भिन्न समूहों की कुछ विशेषताएँ होती हैं, जिनसे मनुष्य का व्यक्तित्व विकसित होता रहता है। अतः समाज-मनोविज्ञान की सहायता से विभिन्न समूह, उनकी विशेषताएँ, उनके सदस्यों पर समूह का प्रभाव और आंतरक्रियाएँ आदि के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक दृष्टिकोण से रसात्मक स्थिति की परीक्षा की जा सकती है।

साथ ही जो कलाकृति या साहित्यिक कृति पाठकों एवं दर्शकों के सम्मुख उपस्थित होती है, उसके रूप पर आस्वाद की स्थिति एवं सफलता अवलम्बित होती है। यदि साहित्य दृश्य रूप में दर्शकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है तो वहाँ प्रेक्षकों के समुदाय का अस्तित्व रहता है, परंतु जब वही साहित्य मौनपाठ की वस्तु बन जाता है तो एकांत में उसका रसास्वाद किया जाता है। इन दोनों स्थितियों में समूह और व्यक्ति के सम्बन्धों में अन्तर आता है और उसके समाजसापेक्ष व्यक्तित्व, व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों और रसात्मक बोध की स्थिति में भी अन्तर आता है। उदाहरण के लिए नाटक,

मंचीय काव्यपाठ और काव्य के मौन-पाठ के भिन्न प्रकार के प्रस्तुतीकरण के उनका प्रभाव पाठकों पर भिन्न स्तर एवं कोटि का हो सकता है। नाटक दृश्य काव्य है, मंचीय काव्य-पाठ उससे भिन्न अस्तित्व रखते हुए भी, प्रवृत्तिगत सदृशता रखता है, कविता शब्दार्थ में व्यक्त होने के कारण अमूर्त एवं गहनतम अर्थसहित और प्रतीकों से युक्त होती है। स्पष्ट है कि ये तीनों स्थितियाँ कलाकृतियों के विभिन्नत्व के बावजूद आस्वादक के लिए भी भिन्न पृष्ठभूमि बनाती हैं।

अतः इस अध्याय में समाज मनोविज्ञान के आधार पर इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि काव्य का रसास्वाद करते समय कौन-कौनसी आंतरक्रियाएँ घटित होती हैं और उनका प्रभाव रसास्वाद में कहाँ तक होता है। समाज में होनेवाले विभिन्न प्रकार के समूहों की विशेषताओं और काव्यास्वाद से उनके सम्बन्ध को परखना यहाँ अभीष्ट है।

मनुष्य की वृत्ति का उसके सामाजिक और सामूहिक व्यवहार के साथ निकटतम सम्बन्ध रहता है। समाज में रहना उसका मूलगत स्वभाव है, इसलिए वह अन्य व्यक्तियों के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित करता रहता है। समाज में रहने से वह कई प्रकार के सामूहिक व्यवहार स्वेच्छापूर्वक करता है। कुछ व्यवहार ऐसे भी होते हैं, जो वह इच्छा न होते हुए भी विवश होकर करता है। समूह के प्रभाववश उसके व्यवहार में अन्तर आता है। देखा यह जाता है कि समूह का व्यवहार, उन मनुष्यों के वैयक्तिक व्यवहार से बहुत भिन्न होता है, जिनसे मिलकर उस समूह का निर्माण हुआ है। समान उद्दिष्ट, स्थान, भूमिका, सदस्यों की आंतरक्रिया इन चार बातों के आधार पर समूह निर्माण होता है। सामाजिक जीवन में समूह का अधिक महत्त्व है। जब शिक्षक पढ़ाते हैं और विद्यार्थी श्रवणभक्ति करते हैं, कभी-कभी बीच में शोरगुल भी करते हैं, तब वहाँ प्रत्यक्ष आदान-प्रदान की प्रक्रिया कम होती है। परंतु आंतरक्रिया घटित तो होती ही है। अंधेरे में बैठकर प्रेक्षकगण चित्रपट देखते हैं, फूटबॉल का मॅच खेला जाता है तब अनगिनत प्रेक्षक आस्वाद करते हैं और तालियाँ बजाते हैं। ये सारे उदाहरण समूहों के ही हैं। कुछ समूह तात्कालिक होते हैं और कुछ दीर्घकाल टिकनेवाले होते हैं।

मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों ने समूह को साधारणतः दो स्थूल विभागों में रखा है। संगठित समूह और असंगठित समूह। रेलगाडी की प्रतीक्षा में स्थानक पर एकत्रित सैंकडों यात्री, बाजार में कई लोगों की लगी भीड़ आदि असंगठित समूह हैं। उनमें सम्मिलित रूप में किसी का ध्यान किसी एक केंद्र या स्थान में केंद्रित नहीं रहता। साम्प्रदायिक दंगों, उपद्रवों, लूट, हत्या आदि संहारक कार्यों में रत अथवा कभी किसी समारोह के अवसर पर निकलनेवाले जुलूस आदि की भीड़ भी असंगठित

समूह के उदाहरण हैं। परंतु किसी चर्चा–सभा के लिए एकत्रित श्रोतागण, नाटक, नौटंकी या भाषण के स्थान पर लोग असंगठित रूप से एकत्र आते हैं, परन्तु उनमें पर्याप्त संगठन और व्यवस्था बनी रहती है।

समाजशास्त्रियों ने इन्हींके बीच अन्तर मानकर संगठित और असंगठित समूहों का विभाजन करते हुए झुण्ड (Herd), भीड़ (Crowd), श्रोतृवृंद (Audience) और जनता (Public) आदि विभिन्न भेदों की चर्चा की है। संगठित समूहों में ही श्रोतृवृंद (Audience), सभा (Assembly), समिति, विभिन्न सभाएँ आदि आते हैं।

झुण्ड (Herd) :

झुण्ड तो प्रायः पशुओं के होते हैं, जो सामूहिक जीवन की सहजप्रवृत्ति (Gregarious Instinct) के कारण बनते हैं। परंतु साम्प्रदायिक दंगों और राजनीतिक स्थलांतरों के अवसर पर बननेवाले झुण्ड अत्यंत अस्थिर एवं सामयिक होते हैं। चुनाव के समय नेताओं के पीछे जानेवाला, किसी मॅच के समय एकत्रित होनेवाला और उत्कट बननेवाला जनसमुदाय झुण्ड का ही रूप ग्रहण करता है। झुण्ड में अंधानुकरण की प्रवृत्ति तथा भेडचाल से अनुसरण करने की वृत्ति दिखाई देती है। अतः मानव के सामाजिक जीवन की दृष्टि से उसको अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

भीड़ (Crowd) :

बहुत से व्यक्तियों के किसी एक स्थानपर एकत्रित होने पर भीड़ का निर्माण होता है। रेल का स्थानक, मेला, बाज़ार, समारोह आदि स्थानों पर लोग भीड़ करते हैं। **युंग** के अनुसार, " किसी एक केन्द्र या आकर्षणबिंदु के चारों ओर एकत्रित होनेवाला लोगों का समुदाय भीड़ कहलाता है।"[१] **मॅक्लेवर** की परिभाषा में भीड़ का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है। वे लिखते हैं, " भीड़ मानव का एक ऐसा समुदाय होता हैं, जिसमें शारीरिक सामीप्य के साथ ही प्रत्यक्ष अल्पकालीन और अवस्थारहित पारस्परिक सम्बन्ध रहता है।"[२] **थाऊलेस** ने भीड़ के अस्तित्व में प्रयोजन को महत्ता देते हुए लिखा है, " किसी भी सर्वसामान्य प्रयोजन या हित के कारण जब बहुत से

१. A crowd is a gathering of a considerable number of persons around a centre or point of common attraction.
—Handbook of Social Psychology, P. 387.

२. Crowd is a physically compact organization of human beings brought into direct, temporary and unorganised contact with one another.

समूह के उदाहरण हैं। परंतु किसी चर्चा-सभा के लिए एकत्रित श्रोतागण, नाटक, नौटंकी या भाषण के स्थान पर लोग असंगठित रूप से एकत्र आते हैं, परन्तु उनमें पर्याप्त संगठन और व्यवस्था बनी रहती है।

समाजशास्त्रियों ने इन्हींके बीच अन्तर मानकर संगठित और असंगठित समूहों का विभाजन करते हुए झुण्ड (Herd), भीड़ (Crowd), श्रोतृवृंद (Audience) और जनता (Public) आदि विभिन्न भेदों की चर्चा की है। संगठित समूहों में ही श्रोतृवृंद (Audience), सभा (Assembly), समिति, विभिन्न सभाएँ आदि आते हैं।

झुण्ड (Herd) :

झुण्ड तो प्रायः पशुओं के होते हैं, जो सामूहिक जीवन की सहजप्रवृत्ति (Gregarious Instinct) के कारण बनते हैं। परंतु साम्प्रदायिक दंगों और राजनीतिक स्थलांतरों के अवसर पर बननेवाले झुण्ड अत्यंत अस्थिर एवं सामयिक होते हैं। चुनाव के समय नेताओं के पीछे जानेवाला, किसी मॅच के समय एकत्रित होनेवाला और उत्कट बननेवाला जनसमुदाय झुण्ड का ही रूप ग्रहण करता है। झुण्ड में अंधानुकरण की प्रवृत्ति तथा भेडचाल से अनुसरण करने की वृत्ति दिखाई देती है। अतः मानव के सामाजिक जीवन की दृष्टि से उसको अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

भीड़ (Crowd) :

बहुत से व्यक्तियों के किसी एक स्थानपर एकत्रित होने पर भीड़ का निर्माण होता है। रेल का स्थानक, मेला, बाज़ार, समारोह आदि स्थानों पर लोग भीड़ करते हैं। **युंग** के अनुसार, " किसी एक केन्द्र या आकर्षणबिंदु के चारों ओर एकत्रित होनेवाला लोगों का समुदाय भीड़ कहलाता है।"[१] **मॅक्लेवर** की परिभाषा में भीड़ का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है। वे लिखते हैं, " भीड़ मानव का एक ऐसा समुदाय होता हैं, जिसमें शारीरिक सामीप्य के साथ ही प्रत्यक्ष अल्पकालीन और अवस्थारहित पारस्परिक सम्बन्ध रहता है।"[२] **थाऊलेस** ने भीड़ के अस्तित्व में प्रयोजन को महत्ता देते हुए लिखा है, " किसी भी सर्वसामान्य प्रयोजन या हित के कारण जब बहुत से

१. A crowd is a gathering of a considerable number of persons around a centre or point of common attraction.
—Handbook of Social Psychology, P. 387.

२. Crowd is a physically compact organization of human beings brought into direct, temporary and unorganised contact with one another.

व्यक्ति स्वयंस्फूर्ति से एकत्र हो जाते हैं, तो भीड़ का निर्माण हो जाता है। मनुष्यों का वह समूह केवल सामयिक ही होता है।"[१]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर भीड़ का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है। भीड़ में विवेक की कमी और भावनाविवशता की अधिकता रहती है। उसमें सम्मिलित लोगों में अनुकरण करने की प्रबल प्रवृत्ति होती है। भीड़ में शामिल होकर मनुष्य स्वयं विचार-विमर्श नहीं करता, अपितु अन्य जन जो करते हैं, वही काम वह भी करने लगता है। विचार के स्थान पर भावनातिरेक की प्रबलता रहती है। वहाँ मनुष्यों का पारस्परिक सामीप्य होते हुए भी उसके सदस्य परस्पर को अच्छी तरह से नहीं जानते। भीड़ का व्यापार, व्यवहार अपेक्षाकृत उच्छृंखल एवं स्वच्छन्द बना रहता है। कभी-कभी साम्प्रदायिक उत्पात के कारण आक्रोश, लूटमार आदि का भी स्वरूप धारण कर लिया जाता है। तब भीड़ की परिणति झुण्ड में हो जाती है। भीड़ का प्रत्येक सदस्य किसी एक प्रयोजन से एकत्रित होने के कारण उनमें भावनाओं एवं विचारों की उत्कट सत्ता स्थापित होती है और उसका प्रत्येक सदस्य भीड़ की शक्ति का अनुभव करने लगता है। उनमें एक विशेष मानसिक एकसूत्रता (Mental Homogeneity) उत्पन्न होती है। सब सदस्यों के अवधान का केंद्र एक होकर उसके अनुसार प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं। भावनिक प्रक्षुब्धता, भयाकुलता, क्रोधातिरेक अथवा हर्षातिरेक की भावना से (Emotionality) और अतार्किकता (Irrationality) तथा विवेकशून्यता से भीड़ की शक्ति का अनुभव सदस्य करते हैं। परन्तु स्वअस्तित्व (Individuality) की भावना का लोप हो जाता है। कोई भी अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करता। उद्वेगों, विचारों और कार्यों की अस्थिरता के कारण जो व्यक्ति उसका नेता होता है, क्षणभर में पूरी भीड़ उसीके विरोध में बन जाती है। भीड़ के सारे कार्य और व्यवहार आवेगमय रहते हैं। परस्पर सामीप्य होने के कारण कार्य की शक्ति और गति बढ़ती रहती है।

भीड़ का अंग बनकर मानव का व्यवहार नित्य उसके साधारण व्यवहार की अपेक्षा भिन्न बनना समूहमन है। साधारण स्थिति में व्यक्तिगत रूप से जो कार्य या कल्पना वह नहीं करता, वह भीड़ में शामिल होकर करता है। इस व्यवहार की व्याख्या करते हुए मानसशास्त्रियों ने समूहमानस (Group mind) की कल्पना सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। भीड़ का एक पृथक् मन होता है, जो

१. A crowd is transitory continuous group organised with completely permeable boundaries, spontaneously formed as a result of some common interest.

—General and Social Psychology, P. 258.

उन व्यक्तियों में से प्रत्येक के मन से भिन्न होता है, जिनसे भीड़ बन गई हो। अपने व्यक्तित्व की सत्ता भीड़ का सदस्य भीड़ में खो देता है। समूहमन को लेकर विद्वानों ने विभिन्न सिद्धान्त (Theories) प्रस्तुत किये हैं। भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति के मन में अन्य व्यक्तियों के मनों में घुलमिल जाने पर एक नये सामूहिक मन का निर्माण होता है। इसमें सम्मिलित सारे व्यक्तियों के भाव और विचार एक ही दिशा में प्रवाहित होते हैं, व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व बिलकुल दबा जाता है, नष्टप्राय-सा होता है। पृथक् मनों की सत्ता नष्ट होने तथा भीड़ का अंग बन जाने के कारण समूहमन में ही मनुष्य की व्यक्तिगतता विलीन हो जाती है और वह उसी प्रकार के कार्य के लिये प्रवृत्त होता है, जैसे सामूहिक मन उसे प्रवृत्त करता है। सामूहिक मन का प्रभाव ही भीड़ में रहता है। सामूहिक मानस की सत्ता व्यक्तियों के पृथक् मनों से भिन्न होती है। बहुत से व्यक्तियों के बहुत से मनों की इकाई के रूप में वह बनता है, अतः उसकी शक्ति भी अधिक रहती है।

श्रोतृवृन्द (Audience) :

श्रोतृवृन्द या प्रेक्षकवृन्द (Audience) भीड़ से कुछ भिन्न होता है। रास्ते पर जब मदारी कुछ खेल दिखाता है और वहाँ उसे देखने के लिए कुछ दर्शक एकत्रित हो जाते हैं; तब दर्शक या प्रेक्षक का अस्तित्व उत्पन्न हो जाता है। किसी मुशाहिरे, जलसे में या सभा में श्रोताओं के रूप में लोग उपस्थित होते हैं, उनमें जो एक प्रकार की व्यवस्था रहती है, वह भंग नहीं की जाती। भीड़ के समान ही इन श्रोताओं एवं दर्शकों में शारीरिक सामीप्य तो रहता है, पर उनका ध्यान भाषण, खेल या सभा के किसी कार्य, नाटक आदि में केन्द्रित रहता है। किसी एक अवधानबिन्दु के चारों ओर केन्द्रित होनेवाले सदस्य भीड़ के श्रोतृवृन्द है। प्रेक्षकगण या श्रोतृवृन्द की परिभाषा करते हुए युंग ने लिखा है, "श्रोतृवृन्द भीड़ का एक संस्थागत व्यवस्थित रूप है।"[1] उन्होंने प्रेक्षकगण के तीन प्रधान लक्षण बताये हैं। (१) निश्चित हेतु का अस्तित्व, (२) पूर्वनियोजित स्थान और काल की आवश्यकता. (३) वक्ता और श्रोता में एक प्रकार का तादात्म्य और आंतरक्रिया (interaction) का घटित होना।[2] श्रोतृवृन्द या प्रेक्षकवृन्द का स्वरूप पूर्वनियोजित होता है और अनियंत्रित भी। नाटक,

१. Audience is a form of Institutionalised crowd.

—Handbook of Social Psychology, P. 399.

२. ...specific purpose, predetermined time and place, standard form of polarization and interaction between the performer and the audience.

—Handbook of Social Psychology, P. 399.

चित्रपट देखनेवाले, वक्ता का भाषण सुननेवाले, कुश्ती या क्रिकेट देखने, संगीत-सभादि में सम्मिलित होनेवाले सदस्य श्रोतृवृन्द के अन्तर्गत ही आते हैं। खेल के मैदान पर जनसमुदाय, रेडिओ के श्रोता, टेलिव्हिजन या दिलचस्पी से रेस देखने-वाले इन सभी का सामान्यतः श्रोतृवृन्द में अन्तर्भाव होता है। श्रोतृवृन्द का व्यवहार कभी-कभी उत्स्फूर्त होता है। सारे श्रोता, दर्शक वहाँ उपस्थित होकर आस्वाद करते हुए प्रशंसा करते हैं। किसी संगीत-सभा में एकाध कठिन तान से समपर आते हुए 'वाह वा' 'क्या खूब' आदि वचनों या तालियों द्वारा अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। **स्प्राउट** ने श्रोतागण की परिभाषा देते हुए उसकी विशेषता पर प्रकाश डाला है। "हमने श्रोतृवृन्द या दर्शनवृन्द को भीड़ का स्वरूप कहा है। क्योंकि जिसे हमें श्रोतागण कहना चाहिये, उसमें बहुतांश परिस्थितियों में व्यवहार का एक विशेष स्वरूप स्वीकृत होता है,और जिसमें आरम्भ और अन्त निश्चित होता है।"[१]

युंग ने अपने सामाजिक मनोविज्ञान के ग्रंथ में श्रोतृवृन्द की अधिक विस्तार से व्याख्या की है। श्रोतृवृन्द का व्यवहार भीड़ के विपरीत होता है, जैसे उसमें कुछ अलिखित नियम, शिष्टाचार, परम्पराएँ होती हैं। उसका निश्चित समय और स्थान तो रहता ही है, साथ ही विभिन्न साधनों से व्यक्तियों को आकर्षित किया जाता है। सब लोग जब नाटक या चित्रपट देखने या किसी वक्ता का भाषण सुनने आते हैं तो श्रोतासमूह बनता है। प्रथमतः उसके सदस्य व्यक्तियों में परस्पर बातें चलती रहती हैं, परंतु किसी एक केन्द्र पर उनका अवधान केन्द्रित किया जाता हैं। **युंग** के मत से श्रोतृवृन्द में दुहरी आंतरक्रिया घटित होती है, जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायेगा।

शास्त्रज्ञों ने श्रोतृवृन्द के कतिपय भेद-उपभेद माने हैं। **युंग** प्रेक्षकवृन्द के तीन उपभेद मानते हैं। एक जिज्ञासु श्रोतृवृन्द (Information Seeking Audience) जो स्वयं क्रियाशील नहीं रहता, परन्तु नेता या वक्ता के भाषण से तादात्म्य पाता है। यह श्रोतृवृन्द ज्ञानप्राप्ति का इच्छुक होता है। दूसरा मनरंजनप्रिय (Recreation seeking Audience) है, जो केवल मनरंजन के हेतु से नाटक, नौटंकी, चित्रपट, संगीत, जादू आदि देखने आता है। अपना अस्तित्व तत्काल भूलकर तल्लीन हो जाता है। तीसरे प्रकार का श्रोतृवृन्द संभाषणात्मक श्रोतृवृन्द (Conversational Audience) वह है, जो भावों और विचारों का आदानप्रदान करता है तथा

१. We have called the 'audience' an 'institutionalised crowd' because in the vast mejority of situations, which we should call 'audiences', there is an accepted pattern of contact, a formal begging of a formal end.

—Social Psychology, P. 67.

परस्पर परिवहन एवं शुद्धिकरण करता है। इसके सदस्यों का बौद्धिक स्तर अधिक उच्च रहता है। अन्य विद्वानों द्वारा भी श्रोतृवृन्द के विभिन्न भेद माने गये हैं। आर. टी. लेपियर (R. T. Lapiere) ने नाट्य के दर्शक (Dramatic Audience), भाषण के श्रोता (Lecture Audience), तो एस. एच. ब्रीट ने खेल, तमाशा, जादूगर के चारों ओर होनेवाले प्रेक्षक (Pedestrian Audience), आक्रियात्मक श्रोतृवृन्द (Passive Audience), विशेष चुना हुआ श्रोतृवृन्द (Selected Audience), सुव्यवस्थित श्रोतृवृन्द (Organised Audience) और संगीतादि मनोरंजनात्मक श्रोतृवृन्द (Concerted Audience) ऐसे भेद माने हैं।

श्रोतृवृन्द या प्रेक्षकगण की इन विशेषताओं के बावजूद भीड़ से उसकी भिन्नता को स्पष्ट करना होगा। उद्देश्य, स्थिति, व्यवहार, प्रतिक्रियाएँ, एकाग्रता, प्रभावकारिता, आकर्षणबिन्दु, अवधान, संख्या का प्रभाव आदि की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। भीड़ में पूर्वनियोजित उद्देश्य नहीं रहता और श्रोतृवृन्द का कोई एक निश्चित उद्देश्य रहता है। भीड़ अपने आप इकट्ठा होती है, श्रोतृवृन्द को निमंत्रित किया जाता है। भीड़ के लिए निश्चित समय या स्थान का बन्धन नहीं होता परंतु श्रोतृवृन्द के लिए समय और स्थान तो पूर्वनियोजित ही होता है। जहाँ भीड़ का व्यवहार या उसकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ अनिश्चित होती हैं, वहाँ श्रोताओं में निश्चित व्यवहार का संकेत रहता है। भीड़ में लोग पास-पास बैठते हैं, शारीरिक सामीप्य रहता है और परस्पर सम्बन्ध भी आता है। वे परस्पर के प्रेक्षक बनते हैं। (They stimulate each other) साथ ही उस अन्तर्गत प्रेरक (Stimulus) के प्रभाववश प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की जाती हैं। वहाँ विवेकशीलता या बुद्धि कार्यशील नहीं रहती (Interaction is almost inactive) परंतु श्रोतृवृन्द भीड़ के समान अनियंत्रित (uncontrolled), अव्यवस्थित (unorganised) एवं नियमहीन (disordered) नहीं होता, अपितु उसमें एकाग्रता और आंतरक्रिया की एक निश्चित प्रक्रिया रहती है। उसका आकर्षणबिन्दु दृश्य ही नहीं, बल्कि अदृश्य, वस्तुरूप या सूक्ष्म भी रहता है।

लोकमत या जनता (Public) :

व्यवहार में जिसे पब्लिक कहा जाता है, उससे मनोविज्ञान की दृष्टि से लोकमत का स्वरूप भिन्न होता है। यह भीड़ और श्रोतृवृन्द से भिन्न होता है। मनुष्यों का ऐसा असंगठित समूह कि जिसमें विचार, सम्मति, इच्छा और रुचि का ऐक्य हो पर सम्मिलित रूप में व्यक्तियों का सामीप्य न हो, जनता कहलाता है। भीड़ या श्रोतृवृन्द की तरह जनता में कन्धे से कन्धा मिला हुआ नहीं रहता अर्थात् शारीरिक सामीप्य नहीं होता। इसके सभी सदस्य एक स्थान पर एकत्रित नहीं होते।

परस्पर से दूर होते हुए और शारीरिक सामीप्य न होने पर भी उनमें मतों, इच्छाओं और विचारों की दृष्टि से समानता बनी रहती है, जिसे मानसिक सामीप्य

कहा जा सकता है। गाने का शौक रखनेवाला, नाटक में रुचि रखनेवाला, वर्गहीन समाज में विश्वास करनेवाला, खेल का ही शौक रखनेवाला, मात्र राजनीति में दिलचस्पी लेनेवाला ऐसे जनता या लोकमत के कितने ही उपभेद बन सकते हैं। प्रत्येक समाज में भिन्न रुचियों, इच्छाओं, विचारों और भावों के आधार पर भिन्न-भिन्न पब्लिक निर्माण होता रहता है, परंतु आश्चर्य की बात यह है कि इस भिन्नत्व में भी एकता की स्थिति इनमें पायी जाती है। किसी एक प्रकार की जनता में (Public) सादृश्य दिखायी देता है। प्रत्यक्ष संगठन के अभाव में भी एकात्मता (polarization) और सादृश्य (similarity) के कारण ही जनता में सामान्यतः किसी विशेष स्थिति में एक प्रेरक से (stimulus) एक प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है।

भीड़ और जनता में महदन्तर है। भीड़ का सदस्य जैसे अपनी व्यक्तिगत विवेकक्षमता को खोकर उसका अविभाज्य अंग बनता है, वैसा पब्लिक में नहीं होता। जनता का सदस्य उसका अंग तभी बनता है जब वह विशेष प्रकार की रुचि, इच्छा या विचार रखता हो। उसकी विवेकशक्ति, व्यक्तिगतता कुछ सीमा तक बनी रहती है और साथ ही बाह्य सामाजिक बातों का प्रभाव उसकी रुचियों पर होता रहता है, पर वह व्यक्तित्व को एकदम खो नहीं देता। इसीलिए तो समाज में विभिन्न प्रकार की जनता (public) देखी जाती है।

आंतरक्रिया (Interaction) :

समूह के विभिन्न रूपों – भीड़, श्रोतृगण और जनता में अनेक सदस्यों का एकत्रित आना तो निहित है। ये सदस्य किसी प्रयोजन में एकत्रित आते हैं तो सामाजिक सम्बन्धों में उनमें एक विशेष प्रकार की आंतरक्रिया घटित होती है जिसका पर्याप्त विवेचन मनोवैज्ञानिकों ने किया है।

समूह में परस्पर सदस्यों में अथवा बाह्य किसी प्रेरक और समूह के सदस्योंमें जो आंतरक्रिया होती रहती है, उसके विवेचन के लिए आंतरक्रिया के स्वरूप को संक्षेप में स्पष्ट करना उचित होगा। आंतरक्रिया (Interaction) शब्द से स्पष्ट है कि वह परस्पर सम्बन्धों में होनेवाली अन्तर्गत प्रक्रिया है। वह मनुष्य और मनुष्य, मनुष्य और समूह, समूह और समूह, इस प्रकार के विभिन्न स्तरों पर घटित होती है। परंतु प्रक्रिया की दृष्टि से आंतरक्रिया को दो भेदों में विभाजित किया जाता है। पहली लिनियर इन्टरॲक्शन (Linear Interaction) वह है, जो क्रमशः किसी एक प्रेरक (stimulus) से दूसरे की ओर उससे तीसरे की ओर एक रेखा में घटित होती है। इसे ही (non-reciprocal) कहा जाता है। दूसरे प्रकार की आंतरक्रिया को वर्तुलांतर्गत (circular-reciprocal) कहा जाता है जिसमें एक प्रेरक दूसरे का, दूसरा तीसरे का या तीसरा पहले का प्रेरक बन सकता है। अर्थात् यहाँ पर

आंतरक्रिया की प्रक्रिया आदानप्रदान के रूप में होती रहती है। अध्यापक का पढ़ाना और विद्यार्थी का ग्रहण करना, किसी विवादचर्चा या सभा के अवसर पर, मॅच के मैदान या नाट्यगृह में भी इसी प्रकार की आंतरक्रिया का अस्तित्व रहता है।

एफ्. एच. आलपोर्ट ने आंतरक्रिया के कतिपय प्रकार (forms) मानकर उसके विभिन्न आधारों का विवेचन किया है, जिनमें मानवी विभिन्न मुद्रा, प्रतीक, उत्स्फूर्त अभिव्यक्ति, चेहरे के हावभाव, संकेत, भाषा आदि का अंतर्भाव है।[1] सामाजिक जीवन में आंतरक्रिया की महत्ता इसलिए है कि इसी के आधार पर मानवी जीवन में विभिन्न स्तरों पर आदानप्रदान (give and take) होता रहता है। जीवन के हर क्षेत्र में और विशेष रूप से साहित्य में विचारों, भावों आदि के संप्रेषण की विशेष महत्ता होती है। वाणी का संचार संप्रेषण का एक ऐसा साधन है, जो लोगों में मानसिक सामीप्य की स्थापना कर सकता है। इस संप्रेषण के द्वारा ही मनुष्य को परस्पर के मनोभावों को जानकर सुखदुःख के प्रति सहभावना व्यक्त करना, तथा परस्पर के पास आना सम्भव हो सका है। अर्थात् समूह के इन विभिन्न रूपों के आधार पर उन में घटित होनेवाली आंतरक्रियाएँ भिन्न होती हैं।

नाटक देखनेवाले प्रेक्षक या भाषण सुननेवाले श्रोता, किसी सभा या नौटंकी के श्रोतृवृंद किसी एक स्थान पर एकत्रित आते हैं। उनमें शारीरिक सामीप्य होने से नाटक, व्याख्यान, नौटंकी, सर्कस आदि देखते या सुनते समय अपनी कुछ प्रति-क्रियाओं का अनुभव उस समूह के सदस्य करते हैं और उनमें से कुछ अपनी प्रति-क्रिया को व्यक्त भी करते हैं। परंतु रेडिओ से व्याख्यान सुननेवालों, घर में बैठे टेलिव्हिजन में मॅच देखनेवाले प्रेक्षकों या श्रोताओं का अपना एक भिन्न समूह बन जाता है, जो नाटकादि के श्रोतागण से कुछ भिन्न एवं व्यापक है। उसके लिए संप्रेषण के साधनों और विषयों में अंतर आ जाता है। भीड़, श्रोतागण और जनता आदि में होनेवाली आंतरक्रिया, सदस्यों की स्थिति और संप्रेषण के माध्यम की विभिन्नता के आधार पर साहित्य के आस्वाद (ग्रहण) का विचार करना होगा। नाटक, भाषण और काव्य इन तीन विधाओं का प्रधानरूप से विचार करते हुए उनसे सम्बन्धित समूहों की स्थितियों और विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में संप्रेषण की स्थिति एवं आंतरक्रिया की प्रक्रिया को परखना आवश्यक है।

काव्यशास्त्रीय चर्चा में दृश्य काव्य की ही चर्चा विशेष हुई है, अर्थात् नाटक के संदर्भ में रस की उत्पत्ति और आस्वादादि की चर्चा उपस्थित हुई। **भरतमुनि** के सम्मुख तत्कालीन नाटक एवं उसके प्रयोग और श्रोतागण का अस्तित्व था। उस आधार पर कुछ तत्त्वों का दिग्दर्शन उसने किया है जो समूह मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित सिद्ध होता है। नाटक जब रंगमंच पर अभिनीत किया जाता है, तब नट रंगमंच

१. **F. H. Alport – Social Psychology.**

पर विभिन्न अभिनय के द्वारा नाट्यार्थ या काव्यार्थ को उपस्थित करता है और उसका आस्वाद प्रेक्षक नाट्यगृह में बैठे-बैठे करते हैं। उसके हावभाव, वाणी, आहार्य पोशाक आदि के द्वारा नाट्यार्थ सुगम तथा सरल बनता जाता है। प्रेक्षकगण एकत्रित बैठे शारीरिक सामीप्य रखे हुए विवेकशील एवं पूर्वनियोजित स्थल पर उपस्थित होते हैं। यहाँ श्रोताओं एवं प्रेक्षकों में नाट्य के विषय में पहले से आकर्षण बना हुआ है। युंग ने दृश्यविधान का प्रभाव बताते हुए जिन पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया है, उनमें पूर्व-योजना महत्त्वपूर्ण है। प्रेक्षकों को किसी आकर्षक बात के कारण पहले से उस नाटक या व्याख्यान के प्रति उत्सुकता रहती है। **अभिनव गुप्त** ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि प्रेक्षकों को कल्पना होती है कि वे किसी मनोरंजक, आनंदप्रद, सरस एवं आकर्षक को देखने जा रहे हैं,

सर्वपरिषत्साधारणप्रमोदसारापर्यन्तसरसत्वेन आदरणीय
लोकोत्तर दर्शनश्रवणयोगी भविष्यानि इत्यभिसंधिसंस्कारात्।[1]

यह पूर्वपीठिका भरतमुनि ने सम्भवतः अच्छी तरह से समझी थी। साथ ही सभागृह का आकार और प्रेक्षकों की संख्या (Size of the hall and number of audience) का जो निर्देश मानसशास्त्री करते हैं, उसका उल्लेख भी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। युंग के मन में श्रोतृवृन्द की संख्या पर भी आस्वाद का स्वरूप अवलंबित रहता है। नाटक या चित्रपट देखते समय श्रोतागण परस्पर पास-पास बैठे हुए होते हैं, पारस्परिक शारीरिक सामीप्य के बावजूद एक अज्ञात सहृदयता के सूत्र में सारे बँधे हुए होते हैं। फिर भी उनमें विभिन्न लोकमतों (public) का अंतर्भाव होता है। विभिन्न रुचियों, बौद्धिक स्तरों, विचारों एवं भावों के होने पर भी कहीं-न-कहीं सहृदयता विद्यमान रहती है। वहाँ श्रोतृवृन्द, कवि या नाटककार के बीच सम्पर्क स्थापित करनेवाला माध्यम नट का अभिनय या नाटक का प्रस्तुतीकरण होता है। श्रोतृवृन्द में इस समय दुहरी आंतरक्रिया का आरम्भ होता है। एक आन्तरक्रिया की प्रक्रिया श्रोताओं में परस्पर घटित होती है, दूसरी नट, व्याख्याता और प्रेक्षक गण में भी घटित होती रहती है। इस दूसरी आंतरक्रिया की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए युंग ने लिखा है, "ये प्रक्रियाएँ केवल प्रस्तुतकर्ता (performer) और प्रेक्षकवृन्द में आंतरक्रिया की नहीं होती बल्कि प्रेक्षकवृन्द के सदस्यों में परस्पर आंतरक्रिया घटित होती है।"[2]

१. अभिनवभारती, भाग १, पृ. ३६

२. These processes involve not only the interaction between the performer and the audience but also the interaction among the members of the audience.

—Handbook of Social Psychology; P. 402.

श्रोतृवृन्द, सभागृह या चित्रपटगृह में बैठे आपस में बातें करते हैं, यद्यपि वे पूर्वयोजना से उपस्थित रहते हैं। उनका अवधान परस्पर बातों आदि से हटाकर नाटक की ओर खींचने के लिये नांदी आदि रखी जाती है। आरंभ का महत्त्व इसी कारण से होता है, जिसमें दीपव्यवस्था, सजावट, ध्वनिक्षेपकादि का भी अंतर्भाव होता है। इसके पश्चात् प्रेक्षकों की परस्पर आंतरक्रिया रुक जाती है और उनका अवधान नाटक के प्रस्तुतीकरण में लगता है। उनके संपर्क का माध्यम वाचिक, आंगिक, आहार्यादि से संपन्न अभिनय होता है। अभिनय के कारण प्रेक्षक के सम्मुख दृश्य-विधान कर इंद्रिय संवेदनाएँ जागृत होती हैं और प्रेक्षक उसमें आस्वाद लेने लगता है। नेत्रेन्द्रिय एवं कर्णेन्द्रिय के आधार पर प्रत्यक्ष दृश्यविधान के सहारे उस काव्य या नाटकगत रस का अनुभव सहृदय, सहजता और सफलता से कर सकता है। नट और प्रेक्षकों में आंतरक्रिया की जो प्रक्रिया इस स्तर पर आरम्भ होती है, वह वस्तुतः नाटककार और प्रेक्षकों में है। नाट्यार्थ का कर्ता नाटककार और आस्वादक प्रेक्षकगण इनके बीच में नट माध्यम बनता है, जिसका साधन अभिनय होता है, वहाँ वर्तुलबद्ध आंतरक्रिया (circular interaction) घटित होकर श्रोतागण नाट्यार्थ का आस्वाद करते हैं, अर्थात् कर्ता ←→ नट (अभिनय) ←→ प्रेक्षक इनके परस्पर प्रेरकत्व से (stimulus) घटित होने से तथा प्रत्यक्ष दृश्यविधान के होने से वह प्रक्रिया अधिक सरल, स्पष्ट एवं प्रभावकारी भी होती है। इस प्रक्रिया में माध्यम का महत्त्व भी अपेक्षाकृत अधिक रहता है, जिसका उल्लेख नाटक के प्रेक्षक (theatre audience) के सन्दर्भ में करते हुए मनोवैज्ञानिक **लेपियर** लिखते हैं कि, "उत्तम अभिनेतागण कोई सामान्य नाटक भी अपने बढ़िया अभिनय के द्वारा प्रस्तुत कर प्रेक्षक को खुश करता है, वहाँ निम्न श्रेणी का अभिनय किसी अच्छे नाटक की हानि कराता है।"[१] सफल प्रयोग के कारण सभी स्तर के प्रेक्षक विभिन्नता के बावजूद भी नाटक का आस्वाद करते हैं। इसका एकमात्र कारण उसकी दृश्यात्मकता है। कदाचित् इसी कारण से **भरतमुनि** ने सब वर्णों और प्रकार के लोगों के लिये मनोरंजक एवं बोधपरक साहित्यविधा का चयन किया होगा। **युंग** ने दृश्यविधान की आस्वादमयता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि, "दृश्यात्मक साधन नित्य ही विषय से अपरिचित एवं कम बुद्धिमानों तथा कम उम्र के प्रेक्षकों के लिये अधिक प्रभावकारी होता है।"[२]

१. A good cast satisfy an audience with a bad play, whereas a poor cast may ruin what might otherwise be a good play. —Social Psychology-by Lapiere and Farnsworth, P. 424.

२. Visual aids are always effective with audience that an unfamiliar with the material and less intelligent and younger also. —Handbook of Social Psy. P. 460.

नाटक के प्रयोग को ही प्रत्यक्ष रूप में न देखते हुए एकान्त में पढ़ा जाय तो प्रभाव कुछ अवश्य कम होगा। वहाँ कवि और पाठक में आंतरक्रिया तो होती है, परंतु उसका स्वरूप अमूर्त एवं सूक्ष्म होता है। अतएव पाठक की अनुभवक्षमता तथा संवेदनशीलता अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। उसके अभाव में प्रभाव फीका पड़ जायेगा। नाटक देखनेवाले प्रेक्षकों के समूह में अधिक सघनता, स्पष्टता एवं सरलता होती है। पर श्रोतृवृन्द वैयक्तिक बोधरहित होने के कारण निर्वैयक्तिकता से युक्त बनकर साधारणीकरण की क्रिया एवं तादात्म्य होने के लिये अधिक अवसर मिलता है। नाटक के समान ही महाकाव्य का प्रत्यक्ष प्रयोग या पाठ किया जाय तो दृश्यमयता के कारण आस्वादन में अंतर आता है।

नाट्यप्रयोग के अतिरिक्त किसी वक्ता के भाषण के अवसर पर अथवा किसी काव्यपाठ करनेवाले कवि की सभा में जो श्रोतागण सम्मिलित होते हैं, उनकी स्थिति का विश्लेषण करने से कुछ भिन्नता दिखाई देती है। वक्ता के भाषण, कवि के काव्यपाठ या अन्य किसी सभा में किसी एक प्रस्तुत कर्ता (performer) की उपस्थिति होती है जो किसी शब्दबद्ध काव्य, विचारों आदि को व्यक्त करने का प्रयासपूर्ण कार्य करता है। वक्ता या काव्यपाठ करनेवाला कवि अपने काव्यपाठ या भाषणादि को आवाज़ में उतारचढाव करके एवं हावभावादि बलादि के द्वारा स्पष्ट, आकर्षक, सुलभ बनाकर श्रोताओं का ध्यान (attention) अपनी ओर खींच लेता है। यहाँ पर श्रोता और वक्ता में परस्पर आंतरक्रिया का आरंभ होकर श्रोता कर्णेंद्रियों के सहारे रसग्रहण, आस्वाद करता है। 'वक्ता–वक्तव्य–श्रोता' इस प्रक्रिया में दोनों का परस्पर पर प्रभाव होता रहता है, कारण दोनों परस्पर प्रेरक (stimulus) बनते रहते हैं। वक्ता के लिये श्रोता के अवधान की महत्ता अधिक होती है जिसे **संत ज्ञानेश्वर** ने भी 'वक्तृत्वा अवधानाचि चारा' कहकर व्यक्त किया है। अवधान के आधार पर ही वह अपना कार्य सफल बना सकता है। इसमें वक्ता या काव्यपाठक विशेष रूप से सक्रिय रहता है और वह श्रोताओं के सम्मुख अमूर्त भावों का मूर्तीकरण, प्रत्यक्ष दृश्यविधान कराता है और प्रेक्षकगण कहीं-कहीं अपनी प्रतिक्रियाएँ उत्स्फूर्त रूप से (spontaneously) व्यक्त करते हैं जैसे कि उर्दू के शेरोशायरी का काव्यपाठक कवि और उसकी महफिल, मुशाहिरे में किसी संगीतज्ञ की सभा में या कविसम्मेलन में प्रत्यक्ष रूप से यह देखा जा सकता है।

भारतीय इतिहास में प्राचीन काल से काव्यपाठ की परम्परा रही है। विशेष रूप से गुप्तसाम्राज्य का काल और उसके पश्चात् भी काव्यपाठ का एक विशेष कला में अंतर्भाव किया जाने लगा। कविगण दरबारों में, राजा या अन्य दरबारियों के सम्मुख काव्यपाठ करते हुए वाहवा प्राप्त कर यश और कीर्ति प्राप्त करते थे। विदग्ध काव्यगोष्ठियों में कवि अपने काव्य का पाठ सुनाते थे और भावक उसका ग्रहण कर अभिप्राय भी व्यक्त करते थे।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में काव्यपाठ के चार भेद बताये हैं। उसने लिखा है कि, "कवि लोग उसी काव्यपाठ की प्रशंसा करते हैं, जो ललित हो, काकु से युक्त हो, स्पष्ट हो, अर्थ के विचार से जिसमें शब्दों का परिच्छेद किया गया हो और जिसमें कान को सुख देनेवाले अलग अलग वर्णों का विन्यास हो।"[1] काव्यपाठ के कुछ गुणों एवं नियमों का भी निर्देश उसने किया है कि जिनके पालन या अवलम्ब से कवि प्रतिष्ठा और यश पाता है। काव्यपाठ की कुछ विशेषताएँ उसके इन शब्दों में व्यक्त होती हैं, "गंभीरतापूर्ण काव्य पढते समय स्वरों में सान्द्रता हो, अनिष्ठुरता अर्थात् स्वरों की कोमलता एवं सुखदता हो, तार और मंद्र स्वर का निर्वाह ठीक तरह से किया जाय और संयुक्त वर्णलावण्य अर्थात् संयुक्त वर्णों का उच्चारण करे, जिसमें सुंदरता व्यक्त हो।"[2] उपर्युक्त वक्तव्य में कंठ, ताल, लय, ध्वनि आदिविषयक तत्त्वों का जैसे अंतर्भाव है, वैसे ही स्पष्टता और सारल्य की महत्ता भी है। इससे काव्यपाठ उत्कृष्ट होगा और फलस्वरूप आस्वादन भी सुलभ अवश्य हो सकेगा। कोई वक्ता अपना मंतव्य या कोई कवि अपना काव्य-भाषण या पाठ के रूप में प्रेक्षकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है तो उसकी क्रियाएँ (actions), मुद्राएँ (gestures), हावभाव (expressions), निश्चित स्थान पर बल (stress), विराम (pauses) आदि का महत्त्व अधिक होता है। काव्यपाठ की महत्ता पाठौचित्य में मानते हुए **श्री. बलदेव उपाध्याय** लिखते हैं, "कविता को रसानुकूल होना चाहिए। विप्रलम्भ शृंगार की कविता सदा भेद स्वर में पढ़ी जानी चाहिए। रस के विपरीत उत्साहमयी वीर कविता के पाठ के लिये ऊँचे स्तर का प्रयोग करना उचित होता है। औचित्य के भेदों में एक प्रकार पाठौचित्य भी होता है जिसमें सन्दर्भ और रस के अनुकूल कविता का पाठ उचित ढँग से किया जाता है।[3]

काव्यगत भावों की मूर्तिमत्ता में छन्दों का भी विशेष महत्त्व रहा है। साहित्य का छन्द अर्थपूर्ण शब्दों से निर्मित होता है, अतः काव्य में उसकी विशेष महत्ता होती है। छन्द, संगीत और समायोजन मानवीय मनोरागों के अर्थपरक प्रतीकों को वहन कर समस्त इन्द्रियों के संवेदना-संस्कारों को जागृत करने में सफल होते हैं। छन्द उस शब्दावली को अपनी स्वरधारा में बहाकर भाव को परिपुष्ट बनाते हैं। अर्थसहित छन्दपाठ में उच्चारण, माधुर्य शब्दों का उचित स्वराघात और स्वर और लय के संयोग से भावलीनता उत्पन्न हो सकती है। कहीं-कहीं स्वरलालित्य से सीधा पाठ भी करते हैं। उत्तम पाठशैली अभिव्यंजना में सहायता, विविधता और नवीनता होती है। कवि का सहजग्राही संस्कार होता है। पाठक को यदि छन्द का ज्ञान होता है

१. काव्यमीमांसा, अ. ७, पृ. ३३
२. काव्यमीमांसा, अ. ७
३. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ. २७७

तो पहली पंक्ति को सुनते ही लय से परिचित होकर स्वर के आगामी उतार-चढ़ाव से उसे आनंद आता है।

अतः उत्तम काव्यपाठ और प्रभावी भाषण श्रोतृगण की आँखों के सामने कल्पित दृश्यविधान करके नेत्र एवं कर्ण की सहायता से अर्थग्रहण एवं आस्वादन सरल और सहज बना सकता है। वहाँ श्रोता का स्तर भी यदि ऐसा होगा जो कवि या वक्ता के वक्तव्य को समझ पाये, तो तादात्म्य सहज होगा, क्योंकि सहृदय को आकर्षित करने और रुचि उत्पन्न करने के तरीके उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, हेतु और स्थानादि से सम्बन्ध रखते हैं। "श्रोताओं को आकर्षित करने और दिलचस्पी बनाये रखने की पद्धतियों में, उस श्रोतृबृन्द के सदस्यों के सांस्कृतिक स्तर, सभा के उद्देश्य, स्थान एवं समय के अनुसार भिन्नता आयेगी।"[1]

काव्य का मौन-पाठ समूहविज्ञान की दृष्टि से अपनी भिन्न महत्ता रखता है। जब कोई घर पर बैठे-बैठे एकान्त में शब्दों का उच्चारण मुँह से न करते हुए काव्य को केवल पढ़ता है तब उस स्थिति में जिस आंतरक्रिया का प्रारम्भ होता है, वह उपर्युक्त दोनों स्थितियों से भिन्न है। कवि, काव्यार्थ और पाठक तीनों में वह क्रिया घटित होती है, जो लिनियर होते हुए भी अमूर्त, अदृश्य, सूक्ष्म और कुछ हदतक उलझनभरी (complicated) रहती है। यहाँ काव्यार्थ के द्वारा कवि उपस्थित है और आस्वादक पाठक के रूप में। मौनपठन में अभिनयादि साधन नहीं होता, काव्यपाठ या भाषण-सा बाह्य उच्चारण का अभाव होने से प्रत्यक्ष दृश्यविधान नहीं हो सकता। नेत्र और कर्ण की संवेदना प्रत्यक्ष रूप से कार्य नहीं करती है। नेत्रेन्द्रिय तो केवल पढ़ने का कार्य करके रह जाता है। शब्दों को पढ़ते समय नाद्यसंवेदनाएँ पाठक के मन में जाग्रत होती हैं। अर्थात् प्रत्यक्षतः बाह्य किसी दृश्यविधान, व्यक्ति या वातावरण से युक्त आंतरक्रिया न होकर कवि की अभिव्यक्त अनुभूति (काव्यार्थ) और पाठक का मन इनमें सूक्ष्म आंतरक्रिया आरम्भ होती है। पाठक शब्द-अर्थ-रचनान्तर्गत व्यक्त कवि की अनुभूति से एकाग्र होने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया में पाठक को विशेष रूप से सक्रिय बनना पडता है, कवि को कम। पाठक की संवेदनशक्ति, बौद्धिक क्षमता और कल्पना शक्ति की इसमें विशेष आवश्यकता प्रतीत होती है। पाठक का अवधान खींचने के लिये अर्थमय शब्दों के अलावा अन्य कोई माध्यम नहीं रहता। पाठक सीमित क्षेत्र में व्याप्त किसी श्रोतृवृन्द (audience) का सदस्य नहीं होता, वरन् एक विशाल,

१. The method of attracting an audience will vary with the kind of audience, the cultural background of its members, the purpose of meeting and the time and the place.

—Handbook of Social Psychology, Page 304.

व्यापक जनता का एक अंग होता है। ऐसी किसी जनता (public) का सदस्य होता है, जिसमें काव्याभिरुचि, बौद्धिक संस्कार हो और साथ ही स्वकल्पनाक्षमता भी। प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य के आस्वादक की कुछ कसौटियाँ बतायी हैं। प्रतिभाशाली...विमलनवनवोन्मेषशाली...आदि। अतः स्पष्ट है कि मौनपाठ का पाठक पब्लिक का सदस्य रहता है, किसी भीड़ या श्रोतृवृन्द का नहीं। यह जनता या पब्लिक समाजमनोविज्ञान के सन्दर्भ की है जिसका परिचय उपर्युक्त विवेचन में दिया गया है। मौनपाठ का सदस्य एवं उसकी आस्वादक्रिया का सम्बन्ध पब्लिक या जनता से इसलिए है कि कवि भी उसका एक सदस्य ही होता है। कवि काव्य के माध्यम से अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को कला के स्तर पर अभिव्यक्त करता है और पाठक भी, जो उसी पब्लिक का एक सदस्य है, कवि द्वारा अभिव्यक्त अनुभूति का ग्रहण करता है। वहाँ (पाठकगण में) पारस्परिक शारीरिक सामीप्य के अभाव में भी रुचि, विचार, भावादि का सादृश्य बना रहता है।

मौनपाठ के समय शब्दों वा वर्णों की रचना से पाठक पर भाषिक संस्कार होता है, परन्तु साथ ही अर्थ की लय से, विभिन्न संवेदनाओं के जागृत होनेसे कवि–अभिप्रेत, अव्यक्त और प्रच्छन्न भावों, विचारों, संवेदनाओं की प्रतीति सहृदय पाठक को होने लगती है। **डॉ. दीक्षित** द्वारा इस विशेषता को इन शब्दों में अंकित किया गया है, "दृश्य काव्य में संगीत एवं वाद्य–यंत्र का अत्यधिक सहारा लिया जाता है, नृत्य उसका विशेष उपकरण है, किन्तु श्रव्य काव्य में जब रणन करते हुए अक्षरों की पायलों की झंकार का मृदुल संगीत श्रोता के कानों में गूँजने लगता है, तब कौन कह सकता है कि उसका हृदय अनन्य भाव से तरंगित नहीं हो उठता।"[१] उसकी अंतः-चक्षुओं के सम्मुख काव्यगत विभिन्न प्रतीक, बिम्बादि प्रतिमाएँ प्रत्यक्षरूप होने लगते हैं और नाद, स्पर्श, वर्णादि विभिन्न संवेदनाओं के द्वारा पूरा काव्यबिंब प्रत्यक्ष हो जाता है। उसकी इस स्वयंसक्रियता ही काव्यबिम्ब को प्रत्यक्षवत्, दृश्यमान बनाकर आस्वाद कराने में सहायक होती है। अतः मौनपाठ के द्वारा काव्यास्वाद की प्रक्रिया नाट्य एवं काव्यपाठ की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, व्यक्तिगत एवं व्यक्तिसापेक्ष रहती है। साथ ही यह स्पष्ट है कि नाटक और काव्य काव्यपाठादि का सम्बन्ध श्रोतृवृंद (Audience) से होता है, पर मौनपाठ का पब्लिक या जनता से।

आस्वाद की दृष्टि से नाटक, काव्यपाठ और काव्य के मौनपाठ के संदर्भ में समूहविज्ञान के आधार पर क्रिया-प्रतिक्रियाओं में जो विभिन्नता दिखायी देती है उसमें रसास्वाद के सम्बन्ध में कतिपय प्रश्न उभरते हैं। रसास्वाद की स्थिति का इन अंतरक्रियाओं से कहाँ तक सम्बन्ध है यह देखना आवश्यक हो जाता है।

१. रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ. १६

नाटक के आस्वाद में दुहरी आंतरक्रिया घटित होती है। नाटक, काव्यपाठ और मौनपाठ द्वारा आस्वाद के स्वरूप में जो भिन्नता है वह मुख्यतः श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य के स्तर की है। श्रव्य काव्य का मुखर पाठ दृश्य और श्रव्य की मिश्रित सीमारेखा पर स्थिर है। इस प्रकार नाटक के आस्वादन में कवि (काव्यार्थ) ←→नट (अभिनय)←→प्रेक्षकों द्वारा ग्रहण, काव्यपाठ में कवि (काव्यार्थ)←→ मुखर पाठ कर प्रस्तुत करना→पाठकों का आस्वाद और मौनपाठ में कवि (काव्यार्थ-शब्दार्थ)→पाठक इन परस्पर सम्बन्धों में माध्यम का अन्तर आनेसे आंतरक्रिया की प्रक्रिया में परिवर्तन होता है तथा रसास्वाद पर भी उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव होता है।

नाटक के प्रयोग के समय घटित आंतरक्रिया, प्रेक्षकों की सामूहिक स्थिति और दृश्यविधान की विशेषता के इन कारणों से रसमयता की दृष्टि से नाटक उच्चतम माध्यम सिद्ध हो चुका है। मूलतः दृश्य काव्य के सन्दर्भ में ही भरतमुनि ने रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया का प्रमेय स्थापित किया है। वस्तुतः रसवाद सामूहिक प्रभाव की इकाई पर खडा है, वहाँ सामूहिक स्तर पर रसास्वादन होता है। अभिनयादि के माध्यम से अभिनेताओं और प्रेक्षकों में परस्पर आंतराक्रिया होनेसे रसास्वादन सुलभ एवं सहज होता है। साधारण स्तर का भी प्रेक्षक क्यों न हो, दृश्यविधान की प्रभाविता और प्रत्यक्षता के कारण काव्यार्थगत या नाट्यार्थगत भावस्थितियों का सहज स्वाभाविक प्रभाव अत्यंत उत्कटता से होता है और उससे रसास्वादन भी हो सकता है। प्रत्यक्ष दृश्यविधान में भावों की स्थिरता आकर तल्लीनता से, अपना स्वयं का अस्तित्व बहुत हदतक खोकर, वह रस का आस्वाद करके रसविभोरावस्था प्राप्त कर सकता है। प्रेक्षकगण समूह के रूप में एक संपूर्ण इकाई (polarization) के स्तर पर पहुँच कर रंगमंच पर अभिनीत नाट्य के विभावादि के संयोग से निर्माण होनेवाले रस का ग्रहण सहज रूप से करने लगता है। रंगमंच पर कन्या के ससुराल जाने का दृश्य हो, जिसे रंग, पट, यवनिका, नेपथ्य आदि पार्श्वभूमि, पार्श्वसंगीत, नायिका, उसकी सखियाँ, भाई-बहन, माँ-बाप आदि के अभिनय द्वारा, वार्तालाप अथवा भावपूर्ण गीत आदि सब के सहित प्रस्तुत किया जाता है। इसे देखते हुए प्रेक्षक कुछ समय तक अपने को भूलकर भी साधारण स्तर पर आकर उसमें भावतादात्म्य का अनुभव करता है।

अतएव दृश्य काव्य के सन्दर्भ में रसास्वाद की स्थापना में समूहवादी दृष्टि परिलक्षित होती है। सामूहिक भावसंप्रेषण से सामूहिक मन को आस्वाद प्रदान करने की प्रेरणा रस में निहित है। मनुष्यमात्र की संवेदनात्मक एवं रागात्मक एकता में विश्वास करनेवाले रसवाद की व्याख्या सामूहिक आंतरक्रिया की भित्ति पर इस प्रकार हो सकती है, जिसमें किसी प्रकार की उलझनें एवं जटिलताएँ उपस्थित नहीं होतीं।

एक ही समूह में विभिन्न प्रकार के प्रेक्षक होते हुए भी वे एक सामान्य श्रोतृगण (audience) के स्तर पर पहुँचते हैं। फिर भी उसमें व्यक्तिसापेक्ष कुछ-न-कुछ भिन्नत्व बना ही रहता है। नाटक पढ़ने की वस्तु नहीं है, प्रयोग की है। अतएव रसात्मक बोध पर प्रयोग का अतीव प्रभाव होता है और दृश्यात्मक प्रतीति से प्रेक्षक भावमग्नता का अनुभव करता है। प्रत्येक प्रकार के प्रेक्षक के लिए दृश्यविधान की आवश्यकता नहीं होती। सामान्य प्रक्षक दृश्यविधान और अभिनीत नाट्यप्रयोग से रसास्वाद करेगा तो अधिक संवेदनक्षम प्रेक्षक, पाठक बनकर भी उतना ही रसविभोर हो सकता है। वैसे ही साधारण नाटक के लिए तो प्रस्तुतीकरण आवश्यक है पर महान काव्य या नाटक के लिए प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता नहीं, वह तो कोने में बैठकर पढ़ा जा सकता है।

काव्यपाठ की स्थिति में इसके सन्दर्भ में अन्य प्रश्न उभरते हैं। काव्यपाठ में पाठ करनेवाले और श्रोता में आंतरक्रिया होती है तथा मंच पर पाठ करनेवाले कवि के काव्य का रसास्वाद श्रोता करता है। इस प्रक्रिया में और नाटक के दृश्यविधान के रसास्वाद में क्या अन्तर आता है यह भी देखना होगा। श्रव्य की विशेषता दृश्य से भिन्न होनेके कारण यहाँ रस के आस्वाद का स्तर भिन्न होता है। काव्यपाठ करनेवाले का कंठ, शब्दों का उतारचढाव, लयबद्धता, गानेका ढंग, तर्ज आदि के सहारे श्रव्य काव्य दृश्य बनानेमें सहायता पहुँचती है। यदि कवि स्वयं काव्यपाठ करता हो, तो उसे अभिप्रेत भावों और संवेदनाओं को वाणी द्वारा व्यक्त एवं मूर्त करनेका प्रयास करता है। उसका यह प्रयास अभिनय से कुछ साम्य रखता है। इसमें कवि विशेष क्रियाशील बनकर, अपने हृद्गत को व्यक्त करता हैं। अतः उसका अव्यक्त अभिप्रेत वाणी द्वारा व्यक्त होने से श्रोता के लिए रसास्वाद में सरलता आती है। परंतु यदि काव्यपाठक में आवश्यक कंठमाधुर्य, वाणी की स्पष्टता, व्यंजकता और काव्यपाठ के अन्य गुण बिलकुल न हो तो रसास्वाद में विघ्न ही उपस्थित होगा। अत्यंत धीमी गति में काव्यपाठ करना या अत्यंत जल्दबाज़ी करना, निश्चित स्थानों पर उतारचढाव, लय (Rhythm), गति, विराम (pauses) आदि का अभाव होना रस के बोध में क्षति पहुँचाता है और रसभंग की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है। कंठ का माधुर्य, संगीतात्मकता तथा गेयता का काव्यपाठ में कुछ सीमा तक ही सम्बन्ध है। वह सत्काव्य की प्रेषणीयता में सहायक होता है, परंतु वही काव्यपाठ का एकमात्र गुण नहीं कहा जा सकता। कितने ही ऐसे कवि कविसम्मेलनों में मात्र कंठमाधुर्य के सहारे लोकप्रियता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, जो क्षणकाल तक होता तथा रस के प्रभाव की दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं रखता। पर इसमें संदेह नहीं कि अच्छे तर्ज़ पर गाये गीत द्वारा काव्यपाठ से, भावपूर्ण रसमय काव्य का रसास्वाद श्रोताओं को उत्कटता से होता है। एक मातृप्रेम-परक काव्य का, जिसमें मातृहीन बालक के मन की स्थिति का यथार्थ अंकन है, पाठ

स्वयं वही कवि करे तो सारा श्रोतृवृन्द उसमें रसविभोर होकर आँसू बहाने लगता है। श्रोताओं की भावविभोरता का अनुभव कई बार देखा गया है। परंतु यही कविता यदि हाथ हिलाते हुए, अनुचित ढंग से चित्रपट के किसी गाने की तर्ज़ पर अथवा बहुत अस्पष्ट या जल्दी गायी जाय तो अवश्य ही रसहानि हो जाएगी। वहाँ रसास्वाद तो दुर्लभ होगा, बल्कि रसभंग की स्थिति उत्पन्न होगी। काव्यपाठ उचित ढंग से न होना रसास्वाद का विघ्न है। वीररसयुक्त समूहगान ओजपूर्ण ऊँचे स्वरों में गाने पर प्रेक्षक पर प्रभाव होकर, श्रोतृगण मंत्रमुग्ध बनकर (अर्थात् तल्लीन) रसास्वाद करते हैं, जैसे भाषण के बारे में भी कहा जाता है।

श्रव्य काव्य में किसी छन्दविशेष का अस्तित्व होता है। प्राचीन विद्वानों ने छन्द और रस का अभिन्न सम्बन्ध माना है। काव्यकलान्तर्गत छन्द के कारण ही अन्य कलाओं से उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हुए **पुत्तूलाल शुक्ल** ने कहा, "छन्द में मग्न होते ही भाव की प्रत्येक चेष्टा प्रत्यक्ष होने लगती है, उसकी अनुभूति खींच ली जाती है, आलम्बन का रूप साकार होता है और उद्दीपन वातावरण ध्वनित होता प्रतीत होता है। रसपिपासू छन्दसंसार से, जिस काव्य का ग्रहण हृदय द्वारा करते हैं, उसके अभाव में स्थिति का ग्रहण बुद्धिव्यवसाय और अनुमान की सहायता से होता है।"[1] प्राचीन आचार्यों ने भी विभिन्न रसों में छन्दों की अनुकूलता का संकेत किया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इसके उल्लेख हैं।[2] छन्दों की रसमयता के सन्दर्भ में श्री. **सुमित्रानंदन पन्त** ने पल्लव की भूमिका में लिखा है, "भिन्न-भिन्न छन्दों की भिन्न-भिन्न गति होती है और तदनुसार वे रसविशेष की सृष्टि करने में सहायता देते हैं। रघुवंश में अजविलाप का वेतालीय छन्द करुण रस की अवतरणा करने में कितना उपयुक्त है! जैसे अधिक उद्वेग के कारण उसका कंठ गद्गद हो गया हो, भर गया हो।"[3] प्रत्येक छन्द की अपनी कोई विशेषता होती है। कविता सवैये को पढ़ने की सूचना छन्दप्रभाकर में यों है – "प्रत्येक सवैया और कवित्त को दुहराकर पढ़ना उचित है, क्योंकि उसका संपूर्ण आशय चतुर्थ पद वा चतुर्थ पद के उत्तरार्ध के आश्रित होता है। जब तक चतुर्थ पद पढ़ने का समय आता है, तब तक तीन चरणों का सम्बन्ध ठीक स्मरण नहीं रहता, परंतु दुहराने में सब आशय भली-भाँति समझ में आ जाता है।"[4]

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना, पृ. ५६.
२. भरत का नाट्यशास्त्र, अध्याय ४.
३. पल्लव की भूमिका
४. छन्दप्रभाकर, पृ. २१७ : आधुनिक काव्य में छन्दयोजना, पृ. १६४ से उद्धृत

हिन्दी में गीतों की तथा काव्य के पाठ की परम्परा रही हैं। रीतिकाल में दरबारी कवियों की लोकप्रियता तथा यश का रहस्य काव्यपाठ में ही रहा है। दरबारों में राजा–महाराजा तथा अन्य दरबारियों सहित, शृंगार, वीर रसपूर्ण काव्यपाठ करके, श्रोताओं पर जादू का–सा असर करनेवाले कवियों की संख्या पर्याप्त थी। भूषण ने अपनी वीररसपूर्ण फडकती कविता को जोशीले स्वर में बडे आवेश से सुनाकर श्रोताओं को रसविभोर किया था। परंतु इसी काल में रसज्ञ श्रोतागण के स्थान पर रसिक वर्ग बना। चारणों ने वीररसपूर्ण गीतों द्वारा जनता को रसविभोर किया था। राज-दरबारों में काव्यपाठ की परिपाठी सामन्ती विशेषता बनी और प्रेक्षक तो अरसिक एवं मूर्ख ही क्या, नासमझदार भी होने लगे। पाठ में रसात्मकता की विशेष महत्ता रही। वैसे देव और बिहारी का काव्य पढ़ें तो उसमें व्यक्त भाव, रस का बोध होता है पर काव्यपाठ से तीव्रता में वृद्धि होती है और रसात्मक स्थिति विशद रूप में उपस्थित हो जाती है।

राजदरबारों में क्यों न हो, जनसामान्य तक भावसंप्रेषण के माध्यम के रूप में काव्यपाठ की परम्परा अक्षुण्ण बनी रही, जिसे स्वीकार करते हुए डॉ. **विजयेन्द्र स्नातक** लिखते हैं, "कुछ भी हो, यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि जनमानस तक काव्य को पहुँचाने की प्रक्रिया–विशेष के रूप में कविसभा या कविसम्मेलन का आविष्कार हो गया।"[1] छायावाद काल के पश्चात् संगीत शैली की विशेष प्रवृत्ति आयी। पर उस काव्यास्वादप्रक्रिया में खतरा उत्पन्न हुआ। स्वर के आकर्षक आरोह–अवरोह के सहारे हीन शब्दों को गीत कहने तथा कभी-कभी आवश्यक संवेदना की कमी की पूर्ति के लिए संगीतशैली से काव्यपाठ में चमत्कृति उत्पन्न की जाने लगी।

आज कविता छन्द, तुक आदि से मुक्त है। मुक्तछंद में छन्दादि बन्धनों से मुक्त होने पर भी ध्वनिमाधुरी के लिए उसमें अनुप्रास के विविध स्वरूपों का आयोजन होता है। एक भाव का एक पद्यांश में अंकन करना और भाषा तथा भाव के सुगठन के लिए विरामचिन्हों का प्रयोग, व्यंजनाशक्ति की अभिवृद्धि के लिए विदेशी शब्दों का प्रयोग आदि बातों के साथ नयी कविता में अर्थ की विशेष लय होती है। अतः नयी कविता के लिए काव्यपाठ की विशेष महत्ता प्रतीत होती है।

आज काव्यपाठ की प्रणाली भी भिन्न बनी है। काव्यरचना में निहित विराम-चिह्नों, उच्चारणचिह्नों, विस्मयादिबोधक चिह्नों, उल्टी–सीधी लकीरों, बोल्ड टाइप के अक्षरों, खाली जगहों और लकीरों आदि के प्रयोग से पाठक खीजता है, परंतु इन सभी चिन्हों के द्वारा व्यंजित अपने भाव-बोध को कवि पाठ के द्वारा व्यक्त करता

१. चिंतन के क्षण, पृ. १३८

है। एक तरीके से लगता है कि इसमें काव्यपाठ ही मुद्रित होता है। पाठय भाषा की अभिव्यक्ति की अपूर्णता काव्यपाठ से दूर की जा सकती है। साथही कवि की अपनी-अपनी विशेष पाठप्रणाली भी होती है। कवि के आंतरिक संगठन का प्रभाव उसकी काव्यपाठ की शैली पर होता है। कहा गया है कि "भारती के काव्यपाठ की सुकुमारता सर्वेश्वर की गुरुगम्भीरता, भवानी की ओज तथा रघुवीरसहाय का तरल अयत्नज प्रवाह उनकी अपनी शैली के अनुकूल है।"[1] अतः ऐसी स्थितियों में ऊपरसे आरोपित न होकर काव्य उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाता है।

नये काव्य में चिन्हों का उचित उच्चारण, शब्दों पर उचित बलाघात, मंद या तीव्र गति आदि के द्वारा वाक् और अर्थ की संपृक्ति से परिपूर्ण काव्य-पाठ किया जाता है, जो श्रव्य काव्य को दृश्यत्व भावस्थिति में ला सकता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि आज यदि भूषण के पद कोई गाये तो क्या प्रभाव होगा? एक विशेष समूह, युग और स्तर के संदर्भ में साथ काव्यपाठ का सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि आज के कविसम्मेलन में भूषण के वीररसपूर्ण काव्य का पाठ उत्कटता से रसास्वाद नहीं कराएगा। युगानुसार श्रोतागण की स्थिति, अभिरुचि आदि का ही यह अंतर है।

काव्यपाठ के विषय में और एक बात स्पष्ट है कि प्रबन्धकाव्य के पाठ से तो रसका अनुभव तुरन्त आ सकता है, क्योंकि उसमें पूर्वसंदर्भ होने से श्रोता रसविभोरावस्थातक पहुँचता है। परंतु मुक्तकों में रसविभोर होने के लिये अवकाश नहीं रहता। काव्यपाठ की दृष्टि से मुक्तकों को महत्ता इसीलिये मिली कि दरबारों, कविसम्मेलनों में थोड़े समय चमत्कारपूर्ण उक्ति अथवा मुक्तकाव्य सुनाकर श्रोताओं पर प्रभाव डाला जा सकता था। रस की स्थिति आचार्यों द्वारा मुक्तक में अस्वीकार करने का कारण भी यही है कि वहाँ विभावादि सारी सामग्री के अस्तित्व, रसपरिपोष एवं आस्वाद में रसविभोरता का अनुभव नहीं आ सकता है। "गागर में सागर" भर देनेवाले शब्दों की झंकार से अभिव्यक्त मुक्तकों का काव्यपाठ क्षणभर के लिये क्यों न हो श्रोता के मन में भाव संस्पर्श अवश्य ही कर जाता है। अर्थात् जिस अनुभूति का आस्वाद प्रथमतः कवि ने किया हो, श्रोता तक पहुँचाने में काव्यपाठ की सहायता अवश्य होती है, पर रस-विभोरावस्था नहीं। रस तो केवल शब्दों या वाक्यों में नहीं होता है, बल्कि संदर्भ और पूर्वस्मरण से आचार्यों ने उसका सम्बन्ध माना है कि मुक्तक की संदर्भहीनता की कठिनाई रसास्वाद के सन्दर्भ में अवश्य ही उभरती है।

यह भी सोचना होगा कि यदि ऐसे काव्य का पाठ किया जाय, जिसमें रागात्मकता की अपेक्षा बुद्धितत्त्व की प्रधानता हो तो आस्वाद की स्थिति क्या होगी।

१. भाषा और संवेदना, पृ. ७२-७३

तथाकथित बुद्धिरसपूर्ण काव्यपाठ की परम्परा आज भी कविसम्मेलनों में तथा आकाशवाणी की कविगोष्ठियों में अक्षुण्ण है। यदि कवि स्वयं कविसम्मेलनों या आकाशवाणी के द्वारा अपनी रचनाओं को श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करता है, तो उपस्थित श्रोतागण पर उसका प्रभाव कहीं अधिक होता है। कवि एवं श्रोतागण में निकट सम्बन्ध होने के कारण कवि भावपूर्ण गीत गाकर जनता के, श्रोताओं के हृदय को स्पर्श कर उनको प्रभावित करने का कार्य करता है और उस भावोत्तेजक स्थिति में रसग्रहण श्रोतागण करते हैं। वे कवि लोकप्रिय भी बनते हैं। काव्यपाठ को लक्ष्य कर कविसम्मेलनों में प्रशंसा पाकर लोकप्रिय बननेवाली कविताओं के सन्दर्भ में कही गयी बात सही प्रतीत होती है कि, "कविसम्मेलनों में उन्हीं रचनाओं को प्रश्रय मिल सकता था जो मात्र सुनाई जाकर जनता के हृदयों को छू सकें अथवा उसे प्रभावित कर सकें। अधिक विचारात्मक या तात्त्विक कृतियाँ इस गुण से अपना सामंजस्य न बिठा सकने के कारण स्वतः कविसम्मेलनों से दूर हो हुईं। उनमें केवल सहज भावावेगवाले गीत ही स्थान पा सके।"[1]

कविता की संप्रेषणीयता के लिये मुद्रित माध्यम पर्याप्त नहीं है। समसामयिक स्थिति में काव्यपाठ की महत्ता अधिक रहती है क्योंकि वहाँ काव्यपाठ करनेवाले और श्रोता इनमें आंतरक्रिया घटित होती है। अतः उनका समान संवेदना एवं बोधयुक्त होना आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो काव्यपाठ उतना प्रभावकारी नहीं बनता। पर कुछ ऐसे गीत या काव्य है (वीर, शृंगार, करुणादि रस से ओतप्रोत) जिनका उचित काव्यपाठ किसी काल में भी किया जाय, लोकप्रिय होता है। ऐसी कालजयी कृतियाँ कम ही होती हैं। समकालिकता में महत्ता रखनेवाली अधिक रहती हैं।

ऐसा काव्य कि जिसमें भावावेग एवं संगीततत्त्व भी कम है, सामान्य जनता में भले ही स्थान न पाता हो, अपितु "एक खास श्रोतावर्ग" उसका आस्वाद लेने में समक्ष है। भावातिरेक के अलावा अन्य तत्त्वों से परिपूर्ण काव्य अर्थात् विचारोत्तेजक, विशेष भावबोधसंपन्न, बौद्धिक प्रेरणा से युक्त, नवीन भावबोध की अभिव्यक्तिसे पूर्ण, नूतनतम प्रतीकों तथा बिम्बों के अंकन से युक्त काव्य के पाठ में साधारण श्रोतागण नहीं, बल्कि एक विशेष प्रकार के श्रोता अवश्य ही आस्वाद लेते हैं। ऐसा काव्य सुनते हुए काव्य-पाठ की अधिक सरलता, स्पष्टता एवं उचित बलादि के आधार पर उसमें अभिप्रेत बिम्बों, प्रतीकों, संवेदनाओं, अनुभूतियों, भावबोधों से परिचित एवं समरस होकर पाठक में नया भावबोध जगता है। यह आस्वाद रागात्मक प्रेरणासंपन्न कविता के समान नहीं होता, परंतु एक विशेष सुस्पष्टता, सुकरता उत्पन्न होकर श्रोता के मनमस्तिष्क में भावबोध जागृत होता है। नवकाव्य की दुरूहता भी इससे कुछ हद तक कम होने में मदद मिल सकती है।

१. नया हिन्दी काव्य, पृ. २०१

काव्यपाठ के द्वारा श्रोता पर जो प्रभाव पडता है क्या उसी प्रकार का प्रभाव भी मौनपाठ की स्थिति में सम्भव है ? रसमय काव्य के पाठ से श्रोता का मन रसविभोर होता है और उस भावोद्वेलन की रसमय स्थिति में काव्य का प्रभाव भी अधिक काल तक बना रहता है। परंतु काव्य को यदि एकान्त में मौनरूप से पढ़ा जाय तो उसका प्रभाव अवश्य ही कुछ भिन्न होगा। इसका कारण यह है कि काव्यपाठ के अन्य उपकरण ध्वनि, नादतत्त्व, बाह्याभिव्यक्ति के अन्य साधन, सक्रियता (activity), मुद्राएँ, अभिनयादि बातों का पूर्ण अभाव होने के कारण पूरी प्रक्रिया सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष एवं आत्मकेन्द्री बन जाती है। अतएव आस्वादक की मनस्थिति में कुछ अन्तर अवश्य ही आता है। वह अपनी कल्पनाशक्ति एवं संवेदनशीलता, अनुभूतिग्रहण की बौद्धिक क्षमता के अनुरूप काव्य का आस्वाद ले सकता है।

प्राचीन रसमय काव्य की बात छोड़ भी दें और बौद्धिक कहे जानेवाले नए काव्य के सन्दर्भ में काव्यपाठ का विचार करें तो भी कहा जा सकता है कि बुद्धितत्त्व या भावबोध से परिपूर्ण नई कविता को उसकी गद्यमय लय में, उचित ढंग से श्रोताओं के सम्मुख पढ़ा जाय तो श्रोताओं पर निश्चित प्रभाव अवश्य होगा। उसकी सूक्ष्म गहन अनुभूतियों, निगूढ़ प्रतीकों, बिम्बों, संकुल संवेदनाओं, सम्मिश्र भाववीचियों और विभिन्न अन्तर्दशाओं के अन्वेषण के प्रयास और प्रच्छन्न नादतत्त्व के कारण साधारण पाठक के पल्ले भले ही कम पडते हो, तथापि अभिरुचिसंपन्न एवं विशेष बौद्धिक स्तरवाले पाठक उसका भावग्रहण या रसग्रहण कर सकते हैं। वहाँ अनिवार्यतः रस की स्थिति उत्पन्न होगी ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसी काव्य के मौनपाठ में पाठक बाह्य प्रभाव से दूर स्वयंप्रभाविता, कल्पना एवं अनुभूति के क्षेत्र में जो काव्यास्वाद करेगा वह व्यक्तिसापेक्ष अधिक होगा। सामूहिक अंश तो विशेष पाठक-वर्ग की रुचि के रूप में वहाँ अवशिष्ट रहेगा। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। नये भावबोध से संपन्न एक कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

महासंघ का मोटा अध्यक्ष
धरा हुआ गद्दी पर। / खुजलाता है उरस्थ /
सर नहीं /
हर सवाल का उत्तर देने से पेश्तर /

✤ ✤ ✤

बीस बडे अखबारों के प्रतिनिधि / पूछे पचीस बार /
क्या हुआ समाजवाद /
कहे महासंघपति / पचीस बार / हम करेंगे विचार /
आँख मारकर / पचीस बार वह हँसे, वह पचीस बार /
हँसे फिर अखबार /

✤ ✤ ✤

एक नयी तरह की हँसी यह है /
पहले / भारत में सामूहिक हास परिहास तो नहीं ही था
लोग आँख से आँख मिला हँस लेते थे /

* * *

इनमें सब लोग दायें-बायें झाँकते हैं /
और यह मुँह फाडकर हँसी जाती है । / [1]

इस कविता को यदि श्रोतृवृन्द के सम्मुख पढ़ा जाय तो इसमें परम्परागत वृत्तछन्द और संगीत तत्त्वादि के न होने पर भी गद्यात्मक लय के कारण कुछ विशेष शब्दों पर बलाघात होने के कारण ये पंक्तियाँ श्रोताओं पर प्रभाव अवश्य करेंगी और श्रोताओं में भावबोध जगायेंगी । आज के सरकार के प्रति आक्रोश की भावना, कसा हुआ व्यंग्य, बड़े पदों पर स्थित व्यक्तियों की खुलनेवाली पोल के द्वारा व्यंग्य, हास्य, क्षोभ, सात्त्विक क्रोध आदि की अनुभूति कराने में यह काव्य सक्षम है । रस के न होने पर भी अनुभूति पूर्ण भावबोध की उत्कटता (intensity) की दृष्टि से इसमें कोई कसर नहीं । इसमें पाठक न रौद्र रस का अनुभव कर सकता है, न वीर रस का । अपितु यहाँ कवि अनुभूति का साक्षात्कार काव्यपाठ द्वारा अवश्य ही होता है ।

मौखिक पाठ के अलावा मौनपाठ के सन्दर्भ में इसका विचार करें तो कहा जा सकता है कि पढ़ने पर ये काव्यपंक्तियाँ पाठक के मनमस्तिष्क में मानवीय जीवन के पहलू का संस्पर्श करायेंगी और क्षणभर में अभीष्ट छाप छोडती जायेंगी । रसहीन काव्य को पढ़ते समय उस प्रकार का आस्वादन नहीं हो सकता, जिस प्रकार परम्परागत रसमय काव्य के मौनपाठ से हो सकता है । वहाँ विभावादि सामग्री के अभाव के बावजूद कवि की अनुभूति, भावबोध, संवेदन आदि कला के स्तर तक पहुँचे हों तो पाठक उसका आस्वाद कर सकता है । इसी सन्दर्भ में अन्य एक उदाहरण प्रस्तुत करना उचित होगा । **अज्ञेय** की कविता है —

साँप /
तुम सभ्य तो हुए नहीं /
नगर में बसना
भी, / तुम्हें आया नहीं /
एक बात पुछूँ / (उत्तर दोगे ?) /
तब कैसे सीखा डसना /
विष कहाँ पाया ? /

---

१. आत्महत्या के विरुद्ध, पृ. १२

अज्ञेय ने नागरी सभ्यता पर तीखा व्यंग्य करते हुए जीवन के कठोर सत्य का दर्शन इस क्षुब्ध व्यंग्योक्ति द्वारा कराया है। इसमें रस की उपकरणादि सामग्री नहीं है और न रसमय आस्वाद की प्रक्रिया भी घटित हो सकती है। परंतु आधुनिक भावबोधसंपन्न पाठकों का विशेष वर्ग इसे सुनकर या पढ़कर मानवजीवन के पहलू विशेष के साक्षात्कार का अनुभव अवश्य करेगा। व्यंग्य की तीखी अनुभूति की प्रतीति पाठक की बुद्धि के साथ ही मन को भी स्पर्श करेगी। पाठ के द्वारा यह अनुभूति अधिक सुस्पष्ट एवं सघन रूप में श्रोतातक पहुँचायी जा सकती है मौनपाठ में उसका अनुभव श्रोता की सक्षमता पर निर्भर रहेगा।

उपर्युक्त दो उदाहरणों के बावजूद केवल रचनाप्रक्रिया एवं बौद्धिक तत्त्व पर बल देनेवाले काव्य के विषय में भी विचार करना आवश्यक होता है। नवकाव्य के अंतर्गत भी दो प्रकार का काव्य हो सकता है। एक प्रकार की कविता बौद्धिक संदिग्धता (ambiguity) प्रधान होती है, जिसमें भावविरहितता रहती है। दूसरे प्रकार की कविता बौद्धिक तत्त्व के होते हुए भी सूक्ष्म भावांकन से ओतप्रोत रहती है। भले ही कवि इसे बौद्धिक कहे, परंतु उसमें प्रच्छन्न रूप से भी क्यों न हो भाव का अस्तित्व होता है।

प्रथम प्रकार की कविता सरल रूप से पढ़ी जाने पर बौद्धिक प्रभाव करती है। उसमें भावों का अस्तित्व न होने के कारण काव्यपाठ से कवि के अंतर्गत विचार सरलीकृत रूप में पाठक की समझ में आयेंगे। यही कविता मौनपाठ में अधिक दुरूह, रूखी और अनाकलनीय मालूम हो सकती है। दूसरे प्रकार की कविता का पाठ विशेष ढंग से करने पर उसमें निहित भावबोध को अधिक सुस्पष्ट एवं सुग्राह्य और अधिक प्रभावी रूप प्राप्त होगा और श्रोतृवृन्द भाव और बुद्धि के समन्वययुक्त अनुभूति का आस्वाद कर सकेगा। ये मुक्तछन्द कविताएँ विशेष लयसंधान से पढ़ी जाने पर भावात्मक स्थिति जगाने में सक्षम रहती हैं। इसीलिये तो कविसम्मेलनों में नयी कविताएँ भी लोकप्रियता पा सकती हैं। कविता में भाव का संस्पर्श जहाँ भी हो, तो वह श्रोताओं पर अपना प्रभाव जमाने में सफल होती है। **शमशेर** की एक कविता है,

दिल के सीने में तड़पता है, तड़पता है
जैसे
हवा मे कोई सिसकता है
सूर्य फूल
चुपचाप ढुलते
चले जाते
आखिर किसलिये
प्राण में केसर बरसता है।

मधुरात
यह
इस तरह क्यों है ?

इस कविता के पाठ और मौन पाठ से पाठक के "मन में समकालीन मानवनियति के भयानक अंश का आभास जागृत होता है। इस के संबंध में **डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव** ने भी लिखा है "शमशेर की कविता में लय का जो रचाव है, वही उनका काव्यार्थ भी है। लय का रचाव आत्मानुशासित कविव्यक्तित्व का प्रभाव है।"[1] कवि के व्यक्तित्व ने समकालीन मानवजीवन की स्थिति से अनुभूति ग्रहण कर भय के संस्पर्श से युक्त अभिव्यक्ति की है। पाठक के मन में विशेष अनुभूति जगाते हुए भावस्पर्श करने की सामर्थ्य इसके पाठ में हो सकती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नाटक का प्रयोग, काव्य का पाठ एवं मौनपाठ इन तीन स्थितियों का समूहमनोविज्ञान की दृष्टि से तथा सामाजिक संदर्भ से क्रमशः प्रेक्षकवृन्द्र, श्रोतृवृन्द और पब्लिक (जनता) से सम्बन्ध होता है और रसास्वाद की स्थिति इन तीनों स्थितियों में भिन्न होती है। साथ ही नाटक, काव्य और नव-काव्य के सन्दर्भ में काव्यपाठ की विशेष लय, पद्धति एवं प्रभावकारिता के कारण सुलभता एवं सुग्राहयता में अंतर आता है और वह रसास्वाद में सहायक होता है। भावात्मक संस्पर्श से युक्त बौद्धिक अनुभूति भी काव्यपाठ द्वारा श्रोता में भाव-बोध जगाने में समर्थ होती है। हर समय रसात्मक स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती परंतु भाव संस्पर्श अवश्य होता है। नाट्यप्रयोग, काव्यपाठ और मौनपाठ में क्रमशः देखना सुनना और मनन-ग्रहण की प्रक्रिया आस्वादक में घटित होने के कारण उत्तरोत्तर रसात्मक बोध की स्थिति सूक्ष्म हो सकती है।

■ ■

१. नयी कविता का परिप्रेक्ष्य, पृ. ९९

अष्टम अध्याय

साधारणीकरण की सामाजिक व्याख्या

रससिद्धान्त के अन्तर्गत साधारणीकरण की अत्यन्त जटिल एवं बहुचर्चित समस्या रही है। साधारणीकरण के सन्दर्भ में प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार व्याख्यान-प्रत्याख्यान करने का प्रयास किया है। व्याख्या के इस दीर्घ प्रवाह में साधारणीकरण का प्रश्न अधिकाधिक जटिल, दुर्बोध एवं उलझनभरा बनता गया। काव्यानुभूति की जटिल समस्या के समाधान के रूप में भट्टनायक ने साधारणीकरण को पहली बार प्रस्तुत किया। तब से आज तक उसके विभिन्न पहलुओं, पक्षों तथा आधारों पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से उसकी पर्याप्त चर्चा हुई है। साधारणीकरण को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परखते हुए उसकी महत्ता क्या हो सकती है तथा बदलते समाज की सापेक्षता में उसका स्थान सार्वभौम हो सकता है या नहीं यह देखना इस अध्याय का प्रधान उद्देश्य है।

कवि की अनुभूति पाठक की अपनी अनुभूति कैसे बन जाती है इस समस्या को लेकर साधारणीकरण के तत्त्व का अन्वेषण हुआ है। साधारणीकरण के द्वारा पाठक के लिए सभी भाव साधारणीकृत रूप में उपस्थित होते हैं और पाठक औचित्य का अवलम्ब लेकर भाव को आस्वाद रूप में ग्रहण करता है। कवि और पाठक-सामाजिक एक ही स्तर या भावभूमि पर उपस्थित होकर रसपान करते हैं। रस की निष्पत्ति की चर्चा करते हुए भट्टनायक द्वारा साधारणीकरण के तत्त्व का संस्थापन इस रूप में किया गया कि "अभिधा के बाद दूसरे स्वीकार करने योग्य काव्यव्यापार "भावकत्व" से निबिड़-निजमोह रूपी संकट विभावादि के साधारणीकरण हो जाने के कारण नष्ट हो जाता है और तब रज तथा तम पर अधिकार कर के सत्त्वोद्रेक का प्रकाश फैलने और निज-संवित-विश्रांति के प्राप्त होने से "भोजकत्व-शक्ति" के सहारे परब्रह्मास्वाद के समान अनुभव तथा स्मृति आदि से विलक्षण रस का भोग किया जाता है।[1]

१. रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ. ११७ से उद्धृत

साधारणीकरण का संकेतमय उल्लेख **भरतमुनि** के नाट्यशास्त्र में मिलता है, परंतु 'साधारणीकरण' शब्द वहाँ प्रयुक्त नहीं है और न उसकी विशद व्याख्या है। उनके अनुसार भावों से रस निष्पन्न होते हैं पर 'सामान्य गुणयोग' से। सामान्य याने साधारण अर्थात् जो विशेष नहीं।[१] भावों की सामान्य प्रस्तुति का संकेत तो यहाँ मिलता है किन्तु सिद्धान्तरूप में सर्वप्रथम सांकेतिक प्रतिपादन एवं सूचन भट्टनायक ने किया। **अभिनवगुप्त** ने भट्टनायक प्रतिपादित भावना का खण्डन किया और साधारणीकरण की स्थापना विस्तार कर अपने मत में उसकी प्रक्रिया का व्याख्यान किया। उन्होंने न केवल विभावादि का बल्कि स्थायी भाव का साधारणीकरण मान्य किया।[२] **विश्वनाथ** ने साधारणीकरण की अपने ढँग से व्याख्या करते हुए प्रमाता और आश्रय के परस्पर तादात्म्य पर बल दिया।[३] **पण्डितराज जगन्नाथ** ने आश्रय के तादात्म्य की बात को स्वीकार करते हुए साधारणीकरण की प्रक्रिया को तर्कसंगत सिद्ध किया।[४]

हिन्दी में प्रथमतः आचार्य **रामप्रकाश शुक्ल** ने साधारणीकरण की चर्चा की और आलम्बन धर्म के साधारणीकरण और आलम्बन के साधारणीकरण की व्याख्या प्रस्तुत की।[५] **डॉ. नगेन्द्र** ने मनोवैज्ञानिक आधार पर विचार करते हुए आश्रय और नायक से ग्राहक के तादात्म्य को अस्वीकार कर कवि अनुभूति का साधारणीकरण माना है।[६] **डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित** ने काव्यशास्त्रीय उदाहरणों के आधार पर समग्र विभावादि के साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।[७] **केशवप्रसाद मिश्र** ने 'मधुमती भूमिका' के रूप में साधारणीकरण की स्थापना की है। **श्यामसुन्दरदास** ने इसी मधुमती भूमिका को स्वीकार किया है। मराठी के विद्वानों ने साधारणीकरण के नाम को नहीं, बल्कि प्रक्रिया को लेकर पर्याप्त चर्चा की है। **श्री. न. चिं. केलकर** उसे सविकल्प समाधि कहते हैं तो डॉ. **द. के. केलकर** स्वायत्त तादात्म्य का अभिधान देते हैं। श्री. **वा. श्री. जोग** इसे सहानुभूतिपूर्ण ताटस्थ्य कहते हैं और **श्री. पटवर्धन** जिज्ञासापूर्ण ताटस्थ्य कहते हैं। **काका कालेलकर** ने इसे अनासक्त तन्मयता के नाम से अभिहित किया है और **ना. सी. फडके** ने प्रत्यभिज्ञा पुनःप्रत्ययप्रतीति कहकर इसको स्पष्ट किया है। प्रगतिवादी आलोचक कॉडवेल के

१. भरत का नाट्यशास्त्र. पृ. ४१३.
२. अभिनवभारती – भाग १, पृ. २७९.
३. साहित्यदर्पण, ३।१०.
४. हिन्दी रसगंगाधर, पृ. ७४.
५. रसमीमांसा, पृ. ३१२, पृ. २७०, पृ. २६६, पृ. ३११–१२–१३.
६. विचार और अनुभूति, पृ. ३१–३२.
७. रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृ. १३४–१३५.

सामूहिक भाव की समग्रतः व्याख्या करते हुए सामूहिक भाव (collective emotion) से साधारणीकरण का सम्बन्ध जोड़ते हैं ।[1] प्रयोगवादी आलोचक परम्परागत साधारणीकरण को अपर्याप्त मानकर नये रूप की माँग करते हैं । आधुनिक काल में, नई कविता के लिए परम्परागत साधारणीकरण की सीमाओं को अपर्याप्त कहते हुए **अज्ञेय** कहते हैं, "जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है, तब कुछ शब्दों की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है । उस अर्थ में रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित होता, कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है कि इससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध हो । साधारणीकरण का अर्थ यही है । नहीं तो अगर भाव भी वेही पुराने हैं, रस भी और संचारी व्यभिचारी की तालिकाएँ बन चुकी हैं, तो कवि को नया कहने के लिए क्या रह गया ?[2] अर्थात् शब्दों में रागोत्तेजकता भरकर क्षमता पैदा करना, जिन के बल पर व्यक्ति अपने मन की निजी असाधारण अनुभूति समाजसाधारण बनाए । इस नये रूप को भी **राममूर्ति त्रिपाठी** नया मत माननेको तैयार नहीं हैं । उनके मत में इस बात का संकेत इससे बहुत पूर्व आनन्दवर्धन के द्वारा हो चुका है ।

उपर्युक्त विभिन्न मतों एवं विचारधाराओं से स्पष्ट होता है कि भरत से लेकर आजतक काव्यशास्त्रीय विद्वानों द्वारा विभिन्न संकेत एवं व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं । इन व्याख्याओं को देखने पर पता चलता है कि विभिन्न विद्वानों के अपने-अपने दृष्टिकोणों का प्रभाव रहा है । शास्त्रीय सिद्धान्त की चर्चा करनेवालों ने संविद्विश्रांति को माना, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवालों ने कवि की अनुभूति को पाठक में निमग्न करना चाहा शुक्लजी जैसे लोकमंगलवादी आचार्य ने व्यक्तिहृदय को लोकहृदय में समर्पित करना उचित माना, प्रगतिवादियों ने मार्क्सवाद के प्रभाव में कॉडवेल के सामूहिक भाव में साधारणीकरण की छाया देखी आर प्रयोगवादियों ने भाषा के नित्य नवीन प्रयोगों द्वारा नई अभिव्यक्ति में साधारणीकरण के नये रूप की माँग की ।

आज साधारणीकरण का प्रश्न आलोचक के सामने शास्त्रीय समस्या के रूप में उपस्थित नहीं होता, वरन् अन्य कुछ कठिनाइयाँ लेकर आता है । शास्त्र के आधार पर उसके विभिन्न आधारों, विशेषताओं, प्रक्रियागत स्थितियों की चर्चा से कुछ तथ्य उपस्थित हुए हैं ।

पूर्ववर्ती शास्त्रीय चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि साधारणीकरण पाँच प्रकार का माना गया है ।

(१) काव्यवस्तु का साधारणीकरण.

(२) काव्यगत भावों का साधारणीकरण.

(३) सहृदय का साधारणीकरण.

---

१. नयी समीक्षा, पृ. २४.

२. दूसरा सप्तक, पृ. १२.

(४) काव्यभाषा का साधारणीकरण.
(५) अभिनय और साधारणीकरण.
(६) कवि, काव्य और पाठक साधारणीकरण.

इन बातों की ओर ध्यान देने पर स्पष्ट होता है कि कवि, काव्य, (वस्तु, भाव, भाषा आदि) और पाठक ये तीन अंश साधारणीकरण की चर्चा में महत्त्वपूर्ण है। इनको सामाजिक पृष्ठभूमि पर परखना आवश्यक है।

जब कोई व्यक्ति कलाकृति या काव्यकृति का आस्वाद करता हैं तो साधारणीकरण के द्वारा उस (कलाकार) की कलागत अनुभूति उसकी अपनी अनुभूति होनी चाहिए। वस्तुतः काव्यगत वस्तु, विषय, पात्र (चरित्र) आदि सभी बातों की सहायता से साधारणीकृत स्थिति में पाठक को पहुँचना चाहिए। परंतु काव्यवस्तु, विषयादि के सदर्भ में विचार करने पर स्पष्ट होता है कि युग, समाज और सन्दर्भ के साथ काव्यगत वस्तु, विषय एवं आशय में नित्य परिवर्तन आता रहता है।

प्राचीन काल से आज तक समाज विभिन्न स्थितियों से गुज़रता हुआ विकास की ओर बढ़ता जा रहा है। समाजजीवन और जगत के परिवर्तन में विज्ञान के कारण अत्यन्त क्षिप्र गति आयी है। प्राचीन सामाजिक विकास की तुलना में आधुनिक समाजविकास एवं परिवर्तन अत्यन्त गतिशील है। यंत्रयुग एवं विज्ञान के प्रभाव ने मानवजीवन की स्थितियाँ, सामाजिक व्यवस्थादि को इतना अधिक परिवर्तित कर दिया है कि नित्य नये प्रश्न उभरते हैं। समाजपरिवर्तन के क्रम में समाजव्यवस्था के साथ ही धर्म, नीति और संस्कारों में अंतर आ रहा है। नित्य नूतन वास्तविकता से जूझनेवाले आधुनिक मानवजीवन की स्थितियाँ जटिल एवं उलझनभरी बन गई हैं। प्राचीन सीमित, स्थूल एवं कुछ हद तक साँचेबन्द जीवन से भिन्न अत्यंत गतिशील, परिवर्तित एवं विघटित जीवनस्थितियों में भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ कविमन में उदित होती हैं। मानवजीवन एवं समाज को महत्त्वपूर्ण प्रतीत होनेवाले कई नये विषय, समस्याएँ, दृष्टिकोण सामने आते हैं। अर्थात् काव्य के आशय में परिवर्तन आ जाता है। समसामयिक स्थिति के अनुसार उभरनेवाले नये विषय सामने आते हैं, कुछ विषय पुराने पड़े जाते हैं। परिणामतः चेतना, नवीन प्रेरणा एवं नूतन दृष्टि का साहित्य में आ जाना सर्वथा अटल है। अतः इस परिवर्तित, खण्डित, विघटित एवं जटिल समाज-जीवन में अनुभूत प्रेरणाओं की प्रतीति यदि नित्य काव्य में आती रहती है तो उसके साधारणीकरण का प्रश्न उपस्थित होता है।

प्राचीन काल की स्थूल, सरल एवं अखण्ड भावात्मक जीवनाभिव्यक्ति एवं जीवन की स्थूल पृष्ठभूमि पर साधारणीकरण की प्रक्रिया सरल एवं सहज संभव थी। पर आज वह स्थूलता नहीं रही। परम्परा से विच्छिन्न स्थिति में अभिव्यक्त अनुभूति बदल रही है। आज पुराने आलम्बन भी नये सन्दर्भों में ग्रहण किये जाते हैं। तीन हजार वर्ष

पूर्व सामाजिक स्थिति से प्रेरणा ग्रहण करते हुए कवि की अनुभूति ने महाकाव्यों में जिस रूप में अभिव्यक्ति पायी थी, उसके अनन्तर भारतीय समाज में अंतर आता रहा है। फलस्वरूप गुप्तकालीन वैभवसम्पन्न अभिजात जीवन का प्रतिबिम्ब कालिदास के काव्य में झलक पड़ा और आज का कवि वैज्ञानिक युग में स्थित मानवजीवन की गहनतम उलझी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में प्रयत्नशील है। मोटे तौर से युग परिवर्तन के इन तीनों "माइल्स स्टोन्स" पर परिवर्तित जीवनदृष्टि, जीवनादर्श, तथा नये व्यक्तित्व की साकारता सामयिक साहित्य में प्रतिबिम्बित हुई है। इसको एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। देशभक्ति की प्रेरणा, अहिंसात्मक राजनीतिक आन्दोलन आदि भारतीय इतिहास में पहले कभी नहीं थे पर आधुनिक विज्ञानवादी युग में यह एक काल की चेतना बन गई। चरित्रों की नूतन सृष्टि वातावरणगत चेतना के कारण होती है।

वाल्मीकि रामायण के राम, तुलसी के रामचरित मानस के राम, और निराला की "राम की शक्तिपूजा" के राम इन तीन व्यक्तित्वों की ओर दृष्टिपात करने से पता चलेगा कि ये तीनों भिन्न युग में संस्कृत, पले एवं प्रभावित कवियों की सृष्टि हैं। ये तीनों भिन्न व्यक्तित्व क्यों बने ? इसकी कारणमीमांसा सामाजिक गतिशीलता एवं परिवर्तन में ही मिलेगी। राम का व्यक्तित्व और चरित्र साकार करने में तीनों स्थानों पर निश्चित अंतर है। यहाँ आलम्बन प्राचीन ही है पर उसका स्वरूप बदला, अर्थ, व्यक्तित्व-सन्दर्भ नया है यहाँ साधारणीकरण कैसे होगा ? प्राचीन काल में साधारणतः प्रख्यात, धीरोदात्त एवं ऐतिहासिक कथावस्तु और पात्रों के स्वीकार की बात मान्य थी, अतः वहाँ साधारणीकरण सरल था। काव्यास्वाद के समय पृष्ठभूमि में पाठक के मन में कथावस्तु एवं पात्रों के प्रति अनुकूल कुछ संस्कार बना रहता था। अतः उससे साधारणीकरण करना कहीं अधिक सुलभ, सरल एवं सम्भवनीय था। पर अब इन नये चरित्रों की सृष्टि होती है, पुराने आलम्बन, पुरानी कथाएँ सर्वथा नये सन्दर्भों में ग्रहण की जाती हैं, उनका क्या होगा ? महाभारत की कथा तो प्रख्यात है पर उसको तथा उसके पात्रों को स्वीकृत कर प्रतीक रूप में स्थापना करते हुए जो नवयुगचेतना "अन्धा युग" में कवि ने चित्रित की है, उसके साथ उसी प्रकार साधारणीकरण सम्भव नहीं, जैसे महाभारत की कथा से था। आज कवि राम का परमात्मा रूप या मर्यादापुरुषोत्तम रूप ही चित्रित करने में संतुष्ट नहीं वरन् मनोविज्ञान की दृष्टि से, व्यक्तिगतता से कौतूहलमूलक, प्राचीन सन्दर्भ मात्र संकेत रूप में ग्रहण करके नवीन सृष्टि करता है। राम के समान ही कृष्ण, सीता, उर्मिला, कर्ण, शिवाजी महाराज आदि प्राचीन विख्यात पात्रों को आलम्बन ही नितान्त नूतनतम रूप में और सन्दर्भ में उपस्थित किये जाते हैं। प्राचीन आलम्बन ही नहीं बल्कि एक व्यक्ति के रूप में स्वयं कवि भी आलम्बन या आश्रय बन जाता है। आज पूर्वसंकेत और पूर्वग्रह से सर्वथा मुक्त, स्वतंत्र और भिन्न व्यक्तित्व के रूप म मनोवैज्ञानिक गहराई से परिपूर्ण, कौतूहलमूलक

कथावस्तु तथा चरित्रों का ग्रहण नये सन्दर्भ में किया जाता है। व्यक्त के साथ अव्यक्त आलम्बन भी हैं, प्रकृति को भी आलम्बन बनाकर उसमें व्यक्तित्व ढाल दिया जाता है। कवि की यह सृष्टि सर्वथा नवीनतम और आधुनिक काल की उपज है। अतः आलम्बन के सन्दर्भ परिवर्तित होने और काव्यवस्तु के नितान्त बदलने से साधारणीकरण का प्रश्न उठता है।

फिर प्रश्न यह है कि क्या प्राचीन आलम्बन और उनके सन्दर्भ आज के काव्य में बेकार सिद्ध होते हैं? क्या वे मात्र इतिहास की वस्तु बन जाते हैं? और आज के सन्दर्भ परम्परावादी काव्य के हिमायती पाठकों की समझ में नहीं आ सकते? यदि ऐसा होता तो पूर्ववर्ती सारा का सारा काव्य उपयोगहीन एवं त्याज्य बन जाता। आज भी पूर्ववर्ती उच्च सफल साहित्य पढ़ा जाता है, पाठक उसे पसन्द करते हैं। इसका अर्थ यह है कि साधारणीकरण की स्थिति वहाँ सीमित है। क्या मात्र इतिहासकालीन वस्तु में झाँक कर पूर्वकालीन कौतूहलमूलक वस्तु देखने का आनंद उसमें है या प्राचीन गरिमा की झलक से पाठक उसकी ओर आकर्षित होते हैं? प्राचीन मूर्ति या किसी शिल्प को देखते हुए आजका प्रेक्षक जब उसकी प्रशंसा करता है, तब उसकी मनस्थिति उस समय कुछ भिन्न होती है। प्राचीनतम मूर्ति और समसामयिक नवीन शिल्प दोनों कलाकृतियों के आस्वाद में जो अंतर आता है, वह युगपरिवर्तित स्थिति के कारण ही होता है। मात्र कुतूहल, प्राचीनता का गौरव, प्रशंसा इतना ही उसका हेतु नहीं होता।

प्राचीन कलाकृति (काव्य) को पढ़ते समय आज के सन्दर्भों और संकेतों में उसका आस्वादन सम्भव नहीं। पाठक को उसे पढ़ते समय कुछ समय तक उस वातावरण एवं परिवेश में पहुँचना पडता है, अन्यथा काव्यानुभूति सफल नहीं हो सकती। हर युग में उसके आलम्बनों एवं सन्दर्भों से उस परिवेशसापेक्षता में साधारणीकरण सम्भव है, अन्यथा नहीं। कालिदास का शाकुन्तल पढ़ते समय उसमें अभिव्यक्त आशय, कथावस्तु, पात्रादि को गुप्तकालीन समाजस्थिति से बिलकुल विच्छिन्न करके देखा नहीं जा सकता। शकुन्तला की कथा आज निरर्थक लगेगी, यदि उस सन्दर्भ से हटाकर उसे पढ़ा जाय। पाठक को क्षणभर के लिए क्यों न हो, गुप्तकालीन अभिजात जीवन की पृष्ठभूमि पर घटित परिस्थिति में पहुँचना पडता है, अन्यथा साधारणीकरण असम्भव है। यहाँ पर साधारणीकरण के तत्त्व में सीमा आ जाती है। यह कठिनाई कवि की सफल एवं सक्षम अनुभूतिक्षमता एवं रचनाकौशल पर निर्भर होगी।

युग और देश के अनुसार संदर्भ भिन्न अर्थ रखते हैं। चीन से भारत के युद्ध का उत्तरकालिक चित्र **नरेश मेहता** की एक कविता में व्यक्त है। युद्धोत्तर जर्जर चीन का वर्णन उसमें है, वहाँ की त्रस्त जनता, पेकिंग की सडकों

पर छायी मुर्दनी आदि का चित्रण है। इस कविता का विषय और अंकन क्या भारतीय, रुसी और चीनी व्यक्ति के लिए समान ही अनुभूति जगायेगा ? क्या इस कविता को पढ़कर समान मनस्थिति का अनुभव सब कर सकते हैं ? समसामयिक सन्दर्भ पाठकों को भिन्न प्रकार से प्रेरित करते हैं। पर कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि समसामयिक सन्दर्भ कुछ समय बीतने पर सार्वजनीन बन जाते हैं। जिन विषयों एवं सन्दर्भों में कवि की गहन अनुभूति और अभिव्यक्ति की सक्षमता एवं सफलता से व्यक्त हुई हो, वही सार्वजनीन बनती है, अन्यथा समसामयिकता में ही उसका अस्तित्व रहकर साधारणीकरण नित्य नहीं हो सकता।

पाठक या सहृदय का साधारणीकरण सबसे अधिक विचारणीय बात है। काव्यानुभूति में सबसे अधिक महत्त्व पाठक का है। पाठक, दर्शक और श्रोता ऐसी तीन स्थितियाँ कलास्वाद में होती हैं। पाठक हो या दर्शक, वह जब किसी कलाकृति का आस्वाद करता है अपनी व्यक्तिगतता से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। देश, व्यक्ति, काल आदि बन्धनों से सर्वथा छूट जानेकी बात भले ही कही गई हो पर इन बन्धनों से सर्वथा मुक्त होना असम्भव है किसी-न-किसी अंश में उसमें ये संस्कार बचे रहते हैं।[1]

यह बात तो माननी ही पडेगी कि किसी को किसी विशेष प्रकार के साहित्य से आनन्द आता है और वह अन्य किसी प्रकार की रचना से सर्वथा उदासीन रहता है। ऐसा क्यों है ? एक पाठक किसी कवि की विशेष प्रकार की कविता को या कविता-विशेष को पसन्द करता है और उसी कवि की अन्य कविता नहीं। किसी अन्य पाठक को वह अन्य कविता पसन्द आती है। ऐसा क्यों ? पसन्दगी की यह विभिन्नता क्यों है ? इतना ही नहीं एक पाठक अपने जीवन के किसी काल में एक कवि के काव्य पर लट्टू होता है, पश्चात् किसी काल अन्य के काव्य को बेहद पसन्द करता है और पहले से उदासीन बन जाता है। कालिदास के मेघदूत को पसन्द करनेवाला रामायण में उतना नहीं रमता। यदि साधारणीकरण का तत्त्व मान्य किया जाय तो ये सारी स्थितियाँ उपस्थित नहीं होनी चाहिए। कोई कविताविशेष पसन्द आना, अच्छी लगना, समझ में आना ये व्यावहारिक शब्द साधारणीकरण के तत्त्व से सम्बन्धित हैं। कुछ लोग नई कविता के प्रति नाक भौ सिकोडते हुए कहते हैं कि "इसमें कुछ समझ में नहीं आता"। समझ में न आना, दुर्बोध, अनाकलनीय अथवा दुरूह होना आदि साधारणीकरण की त्रुटियाँ व्यक्त करती है और इसके कारणों को यदि खोजना हो तो सामाजिक परिवेश, तथा परिवर्तन की सापेक्षता में व्यक्तित्व विकास एवं संस्कारशीलता को परखना आवश्यक होता है।

१. रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृ. १३६

एक व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरे से किसी-न-किसी अंश में भिन्न होता है। "पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना" अतः व्यक्तिगत अभिरुचि (interest), प्रवृत्ति (attitude) और क्षमता (ability) कि दृष्टि से व्यक्ति-व्यक्ति में अंतर आना स्वाभाविक में सफल-असफल होगा, साथ ही अनुकूल स्थिति उसमें उत्पन्न होगी। "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन वैसी"–सहृदय पाठक अपनी व्यक्तिगत भिन्नताओं और संस्कारों के अनुरूप काव्यानुभूति की प्रक्रिया में अनुभव प्राप्त करते हैं।

परंतु ये संस्कार कहीं जन्मतः नहीं होते। मनोविज्ञान से प्रमाणित है कि मनुष्य पर अनुवंश (heridity) से भी परिस्थितियों (environment) का अत्यधिक प्रभाव होता है। कालविशेष और समाज की गतिशीलता की सापेक्षता में मनुष्य के संस्कारों में अंतर आता है। उसकी भावुकता, बौद्धिकता, धार्मिक धारणाओं और अन्य संस्कारों में जो परिवर्तन होता है, उसमें कभी गति अत्यन्त धीमी रही है, कभी बहुत ही क्षिप्र रही है। विज्ञानयुग ने मनुष्य की भावुकता को ललकारा और बौद्धिकता का संस्कार मानव पर बहुत शीघ्र और प्रभावी रूप से होता रहा इस परिवर्तन को देखने पर लगता है कि जिस समय रसवाद की स्थापना की गई, उस समय रागात्मक इकाई एवं भावुकता को सामने रखकर रस की सिद्धि मानी गई। भावात्मक धरातल पर सामूहिक एकता की जो बात की गई है, उससे बहुत भिन्न स्थिति आज उत्पन्न हो चुकी है। उसके पश्चात् धर्म, नीति, और विज्ञान के परिवर्तन हुए जिससे मनुष्य की भावुकता में अंतर आता गया है। विज्ञान का विकास एवं बुद्धिवाद की अति ने भावुकता को खण्डित किया। समाज का विघटन आरम्भ हुआ। सामाजिक विघटन के समानान्तर मानवजीवन की भावनिक और बौद्धिक स्थितियों में परिवर्तन आता रहा।

ज्ञान और विज्ञान से स्थापित भौतिकवादी और बौद्धिक संस्कारों ने एक ओर समाज का विघटन किया। पारम्परिक संस्कार, जीवन के भावात्मक मूल्य, नीति के आदर्श, धर्म की पाबन्दी आदि सभी मूल्यों को एक साथ उखाडकर छिन्न–भिन्न कर डाला। खण्डितता और विच्छिन्नता आधुनिक युगजीवन की विशेषताएँ बनीं। नयी संवेदनाओं, नये नैतिक मूल्यों, धार्मिक अश्रद्धा आदि का विकास होनेसे जीवनमूल्यों के साथ ही मानव की दृष्टि बदल गई। बौद्धिक संस्कारों से वह चिकित्सक अधिक बना विचारशील हुआ और हर बात को टुकडों में विभक्त कर बुद्धि की कसौटी पर कसकर उचित-अनुचित का निर्णय करने लगा। फिर भौतिकवादी जीवन का आकर्षण बढ़ा जिसमें नैतिक मूल्य, धार्मिक श्रद्धा, भावुकता, मानसिक या अध्यात्मिक जगत्, सामूहिक एकता ये बातें नहीं रहीं। उसके मानसिक संस्कारों एवं भावुकतापर बुद्धि ने विजय पायी।

तब प्रश्न यह है कि क्या ऐसी स्थिति में मानवमन की सारी भावुकता समाप्त हो गई है ? क्या बौद्धिक संस्कार इतने जडमूल बन गये हैं या बन सकते हैं कि मूल संस्कारों को बिलकुल नष्ट कर दें। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र दोनों भी इस बात से सहमत हैं कि परिस्थिति (environment) या परिवेश मानव के संस्कारों एवं जीवनमूल्यों में भले ही परिवर्तन लाता हो पर उसके मूलगत संस्कार तो कुछ बने ही रहते हैं, अतः भावात्मकता का बिलकुल नष्ट हो जाना सम्भव नहीं। ये प्राचीन संस्कार, केवल इस जन्म के ही नहीं बल्कि पूर्वजन्म के भी अंशतः बचे रहते हैं। मनोविज्ञान तो पीढियों के अनुवंशगत संस्कारों का अस्तित्व मान्य करता है। अतः अंशतः क्यों न हो, शेष भावात्मक संस्कार काव्य के आस्वाद में पाठक को क्रियाशील बनाते हैं। भावात्मकता से प्लावित प्राचीन काव्य के पाठ में बौद्धिक संस्कारशील व्यक्ति आनन्द पाता है, उसका यही कारण है। पर यदि वह अपने ही नवीन संस्कारों के प्रति या प्राचीन के प्रति प्रतिबद्ध होता है तो कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

अतः स्पष्ट होता है कि संस्कारपरिवर्तन में वर्षों का व्यवधान अवश्य है। एक हज़ार वर्ष पूर्व समाजगत संस्कार, एक सौ वर्ष पूर्व की समाजगत स्थितियाँ और आज के समाज का स्वरूप इन तीन स्थितियों का चित्र उपस्थित करने पर ही स्पष्ट होगा कि नीति, धर्म और संस्कारों में कितना अंतर आया है और धीरे-धीरे समाज विघटन के साथ खण्डितता से परिपूर्ण जीवन का एहसास कितना बढ़ता जा रहा है। साधारणीकरण के विचार में वर्षों का यह व्यवधान तथा काल की सीमा महत्त्वपूर्ण हो जाती है। वह साधारणीकरण के तत्त्व-निर्वाह में भी एक सीमा उत्पन्न करती है।

यन्त्रयुग में बुद्धिवाद ने व्यक्ति को स्वतंत्र इकाई बनाया। यही महान परिवर्तन है। व्यक्तिवादी चेतना के फलस्वरूप, सामाजिक स्तर पर दो व्यक्तियों के सौंदर्यबोधों में जो समानता पहले गृहीत थी, वह आज नहीं हो सकती। यह व्यक्ति-विशिष्टता एवं वैभिन्य साधारणीकरण में बाधा बनकर अवश्य ही आता है। किसी प्राचीन काव्य का मूल्यांकन करते समय भिन्न दृष्टियाँ दिखायी देती हैं। जो व्यक्ति जिस प्रकार का अपना एक दृष्टिकोण रखता है, उसके अनुकूल उस कवि के काव्य का मूल्यांकन करता है। तुलसी के रामचरितमानस के अध्ययन में इसी प्रकार की विभिन्नता युगपरिवर्तन के साथ परिलक्षित होती है। रामचरितमानस जिस काल में लिखा गया, उस काल में वह अतीव लोकप्रिय रहा होगा और पाठक उसे अतीव श्रद्धा एवं भक्ति-भाव से पढ़ते होंगे। परंतु क्या रामचरितमानस की लोकप्रियता एवं महानता आज तक भक्तिभाव के कारण ही बची है ? आज भी भक्तिभाव से उसे पढ़नेवाले कुछ पाठक मिलेंगे। परंतु वह श्रद्धा, भक्ति, धर्म का रूप या जीवनादर्श आज नहीं बचा है। एक

नास्तिक, जिसे परमात्मादि का अस्तित्व ही मान्य नहीं, जिसका धार्मिकता में विश्वास नहीं, क्या उसे वह भक्तिभाव आस्वाद्य हो सकता है? अतः देखा यह जाता है कि युगपरिवर्तन के साथ धर्म व नीति की कल्पनाओं में जो मौलिक परिवर्तन आया है, उसने मानवजीवन के संस्कारों को प्रभावित किया।

इसलिए किसी काव्य का मूल्य सभी कालों में समान नहीं आँका जाता। कभी किसी को रामचरितमानस भक्तिरसपूर्ण काव्य होने के कारण अच्छा लगा, कोई उसमें व्यक्त सामाजिक उदात्त आदर्श से प्रभावित है, और तुलसी को लोकनेता कहकर कोई उसमें वर्गहीन समाजरचना के तत्त्व देखता है। मार्क्सवादी विचारक उस दर्शन के प्रभाव में आकर तुलसी के काव्य का मूल्यांकन करते हुए उसकी महानता प्रमाणित करते हैं। यही दृष्टि-विभिन्नता काल और व्यक्तिपरक भिन्न होती है। युग के बीतने पर आलोचकों या पाठकों की दृष्टि विशेष बदलती जाती है और उसके अनुरूप आस्वादन एवं मूल्यांकन भी बदलता है। इसीलिए तो प्राचीन काव्य के मूल्यांकन–पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता प्रतीत होती है। किसी कालविशेष में विशेष दृष्टिकोण का प्रभाव होता है। अतः विशिष्ट दृष्टियों से किसी रचना का मूल्य आँका जाता है। जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काल एक नैतिक आदर्श, संस्कृति-रक्षा एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान का काल रहा है। साथ ही उनका अपना दृष्टिकोण लोकमंगलवादी है, अतः तुलसी की महत्ता को उन्होंने उस दृष्टि से आँका। पर बाद में तुलसी के काव्य का मूल्यांकन करनेवालों में कई विभिन्न कारणों से तुलसी के प्रशंसक हैं। आदर्शवाद के अधिष्ठाता, मर्यादावाद के रक्षक, सामाजिक समानतावादी एवं समन्वयवादी[1] तथा आर्थिक विषमता के संहारक[2] जैसे कई रूपों में उनकी महत्ता का वर्णन किया गया। इसमें व्यक्तिगत भिन्न दृष्टिकोणों के अतिरिक्त वर्णों के कारण बदले संस्कारों की झलक स्पष्ट रूप में है।

परिवर्तित संस्कारों के कारण ही एक काल की कृति किसी अन्य काल में निरर्थक-सी भी प्रतीत होती है। किसी कवि का कालबाह्य (outdated) हो जाना, काल की सीमा को ही व्यक्त करता है। वहाँ एक युग की कृति का अन्य युग में साधारणीकरण क्यों नहीं होता? यदि ऐसा है तो समसामयिक कृतियों का मूल्य कालान्तर से शून्य होगा। पर सभी कृतियों का ऐसा नहीं होता। प्रत्येक युग का अपना एक 'टोन' होता है, सूक्ष्म अवचेतनीय तत्त्व उसमें समाये हुए होते हैं। संस्कारशील चेतना पर आधारित उस युग की कुछ प्रेरणाएँ होंती हैं, उनको खोजकर काव्य के स्तर पर व्यक्त करना कवि का कर्तव्य होता है। कवि का समाज से तीन प्रकार का सम्बन्ध होता है।

१. रामविलास शर्मा – 'तुलसी में संघर्ष'
२. रमेशकुन्तल मेघ – 'तुलसी – आ. वातायन से'

समसामयिक सामाजिक संस्कारों का स्वीकार, विद्रोह या तटस्थता। इनमें सामंजस्य स्थापित कर कालातीत सार्वजनीन शाश्वत काव्यसर्जना करना उसका कौशल है।

यह आवश्यक नहीं और सम्भव भी नहीं है कि हर युग में पाठक कवि के किसी विशेष भाव से ही प्रभावित हो। रामचरितमानस के उदाहरण से स्पष्ट है कि हर महान कृति उसी रूप में सबको सभी कालों में पसन्द आयेगी ऐसा नहीं, पर कलाकृति की शाश्वतता इसमें है कि किसी-न-किसी प्रकार से वह कृति—काव्यकृति हर युग में कम-अधिक लोकप्रिय रहती है। सम्भवतः किसी युग में उसका महत्त्व कम भी पड़ जाता है, पर काल के प्रवाह में वह नष्ट नहीं हो सकती। मराठी के प्रसिद्ध आलोचक **श्री. श्री. के. क्षीरसागर** इस बात से सहमत हैं कि, "परंतु शाश्वत साहित्य कहने पर ऐसा मानना गलत होगा, वह एक ही स्वरूप का होगा-उसी प्रकार ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि वह हर काल में समान रूप से और समान कारणों से लोकप्रिय होगा। रामायण की धर्मभावना का आवाहन सब कालों में समान ही होगा ऐसा नहीं। ज्ञानेश्वरी के पठन में भावुकता सब कालों में बनी रहेगी ऐसा नहीं।"[१]

फिर प्रश्न यह है कि कुछ शाश्वत कृतियाँ किन विशेषताओं के कारण शाश्वत बनती हैं? हर युग में संस्कारों में परिवर्तन के बावजूद पाठक उन कृतियों को पढ़ते हैं। साहित्यिक रुचि, संस्कार एवं भावुकता में अंतर आने पर भी एक युग की कृति दूसरे युग में अच्छी क्यों लगती है? वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, शेक्सपीअर, वर्डस्वर्थ ये सारे भिन्न-भिन्न युग के हैं और उनके समकालीन संस्कार भिन्न रहे हैं और आज से भी नितांत भिन्न। क्या प्राचीन इतिहास या काल में झाँकने मात्र की उत्कट जिज्ञासा एवं कुतूहल इसका कारण है?

कोई प्राचीन मूल्य शिल्प या प्राचीन काव्यकृति के अध्ययन में युगपरिवर्तन के अतिरिक्त अन्य दो प्रधान प्रवृत्तियाँ महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं। मनुष्य की यह सहज वांछा होती है कि प्राचीन काल के जीवन में झाँके। प्राचीनता, प्राचीन सौंदर्य और सम्बन्ध की रक्षा करने की आकांक्षा उसके मन में सदैव रहती है। विकास के गति-सूत्र से परिचित होने में उसे एक प्रकार का आनंद आता है या ये प्राचीन कलाकृतियाँ प्राचीन गरिमा को व्यक्त करती हैं। किसी कृति का वर्णन या प्रशंसा अजायबघर में स्थित प्राचीन मूर्ति जैसा होता है। क्षणभर के लिये वह प्राचीन गौरव एवं गरिमा की ओर संकेत करती है और पाठक या प्रेक्षक को आनंद देती है। वह थोडी देर तक उसके आस्वाद से सुख प्राप्त करता है, पर गहन अनुभूति नहीं प्राप्त कर सकता। प्राचीन काव्यकृति से यदि ऐसा मात्र क्षणभर गरिमा की दर्शनोत्सुकता से आस्वाद किया जायेगा तो वह साधारणीकृत कैसे होगा?

१. टीकाविवेक, पृ. ९९

युग-युग में परिवर्तन होता रहता है यह बात जितनी सत्य है, उतना ही यह भी सत्य है कि इस सांस्कृतिक विकास में एक क्रम चलता रहता है। एक युग बीतता है, परिवर्तित होता है, पर पूर्ववर्ती युग से सर्वथा विच्छिन्न नहीं रहता, उसका सम्बन्ध कुछ जुड़ा रहता है। वर्तमान का एक छोर भूतकाल से जुडा रहता है और दूसरा भविष्य से संलग्न रहता है। मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वह वर्तमान को भूत और भविष्यत् से संलग्न बनाकर जीवनगत संस्कार ग्रहण करता है। ऐतिहासिकता के बने रहने पर भविष्य की सृष्टि होती रहती है। अर्थात् साहित्यिक और सामाजिक परम्परा को बनाये रखकर क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ चलती रहती हैं। प्राचीन युग की कलाकृति पाठक को इसीलिये अच्छी लगती है कि उसके सर्जन में उन संस्कारों एवं तत्त्वों का संयोग रहता है, जिनसे उसका वर्तमान जीवन भी सम्पन्न है। पाँचवीं सदी का काव्य पढ़ते समय वर्तमानकाल का पाठक कुछ ऐसे तत्त्व उसमें ढूँढता है जो मिलते-जुलते हैं। आचार्य शुक्ल को तुलसी में लोकमंगल की भावना दिखायी देती है, वह वस्तुतः अपने युग की एक आवश्यकता या समकालीन संस्कार था। अतः पिछले युग से विभिन्न बात तुलसी में वे देख सके। अतः पुनर्मूल्यांकन के द्वारा पाठक ऐसी कुछ बातें भी उसमें ढूँढना चाहते हैं, जो उसमें पहले प्रतीत नहीं हुई हों।

पाठक के काव्य-आस्वादन में साधारणीकरण के स्तर पर पहुँचने का दूसरा एक आयाम है। वह उस काव्य में ऐसे कुछ तत्त्व पाता है, संस्कार या अर्थ ढूँढता है, जो उस युग को अभीष्ट तथा उचित थे और उसमें उसे संतोष मिलता है और वे ही बातें वर्तमान युग में भी अभीष्ट होने से उसे वह काव्य पसन्द आता है।

कुछ काव्यकृतियाँ थोडे युगों की लोकप्रियता एवं अनुकूलता प्राप्त करती हैं और कुछ अनेक युगों की। व्यापक लोकप्रियता और अनुकूलता प्राप्त करनेवाली शाश्वत कृतियों में पाठक को चिरंतन सौंदर्य के दर्शन होते हैं। उन कृतियों में जीवन का ऐसा अमर सत्य पाते हैं जो युगानुकूलता से बढ़कर चिरंतन होता है, समाज एवं संस्कृति में शाश्वत होता है। जब तक समाज का आदर्श स्थिर रूप निश्चित नहीं हो सकता, (और वह सम्भव भी नहीं है) तब तक परिवर्तनशीलता में कुछ शाश्वतता भी बनी रहेगी और रह-रहकर उसके दर्शन काव्य में होते रहेंगे। युगानुकूल भाव वहन करने की सामर्थ्य और स्थितिनुरूप अर्थवहन करने की क्षमता युक्त रचना अपने चिरंतन सत्य के कारण शाश्वत बन जाती है।

इसीलिए कालिदास का शाकुन्तल, शेक्सपीयर के नाटक, वाल्मीकि रामायण ये काव्यकृतियाँ कई वर्षों से पढ़ी जा रही हैं। पाठक हर युग में उसकी कुछ विशेषताओं का आस्वाद करता है। कालिदास की कथावस्तु को, पात्रों एवं प्रसंगों को आज के संस्कारों में प्रतिबद्ध करके देखने से साधारणीकरण में बाधा उपस्थित होती है; परंतु कालिदास की काव्यकृति में समकालीन वास्तव का और उसके अपने व्यक्तित्व

का जो अद्वितीय संगम है वही शाश्वतता का एक मात्र कारण है, जो पाठक को आज की युग-संस्कृति को भूलाकर कालिदास के काल में पहुँचा देता है और मानवजीवन के शाश्वत सत्य और सौंदर्य का बोध कराता है ।

शाश्वत साहित्य की सार्वकालिकता का प्रश्न सहजसुलभ हो जाता है; फिर भी यह बात तो भुलाई नहीं जा सकती कि संस्कार कभी अमर नहीं होते, वे बनते-बिगडते हैं । वर्तमान काल की परिस्थितियाँ और संस्कार विकासकाल में बदलते रहते, हैं इच्छाओं, भावनाओं और संस्कारों में अंतर आता है । साधारणीकरण के तत्त्व की यह कमी है कि संस्कारों को चिरंतन मानकर उसकी स्वीकृति की गई है ।

काव्य के साधारणीकरण को आलोचना की प्रणालियाँ प्रभावित करती रहती हैं । वैयक्तिक स्तर पर मनोविश्लेषणात्मक आलोचना नवीन संस्कारयुक्त अभिनव चरित्रों की सृष्टि को प्रभावित करती है । व्यक्तिगत आलोचना पद्धति से किसी कवि की महत्ता अधिक आँकी जाती हैं, किसी की कम । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परिष्कृत आस्वादनशीलता पर सन्देह नहीं किया जा सकता । साथ ही तुलसीदास, सूरदास एवं जायसी जैसे भक्तिकाल के प्रतिभासंपन्न कवियों की महानता को पाठक स्वीकार करते हैं । एक ही काल में काव्यसृष्टि करनेवाले सूरदास और तुलसीदास की प्रतिभा ने भिन्न प्रेरणाओं और चेतनाओं से ओतप्रोत काव्यसर्जना की । आचार्य शुक्ल जब इनकी कविता का मूल्यांकन करते हैं तो सब भक्तकवियों का महत्त्व तो बताते हैं, परंतु तुलसी की महत्ता का वर्णन करते हुए नहीं अघाते । इतना ही नहीं वरन् तुलसी की अपेक्षा सूर को किंचित् गौण स्थान देते हैं । निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यहाँ उनकी विशिष्ट आलोचना-पद्धति और अपने काल से प्रेरित लोकमंगलवादी दृष्टिकोण का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

युगपरिवर्तित संस्कारों की बात बीते युग के काव्यास्वाद के सन्दर्भ में ही नहीं, अपितु समकालिक काव्य के आस्वाद से भी उठती है । परम्परावादी पाठक नवीन काव्य को पसन्द नहीं करते या समझ नहीं सकते और आज के कुछ औसत पाठक भी समकालीन काव्य को दुरूह एवं दुर्बोध प्रतीत करते हैं । यह कठिनाई साधारणीकरण में बाधा है । अतः इसका उत्तर भी ढूँढना होगा । यह दुर्बोधता और दुरूहता काव्य में क्यों है ? क्या वहाँ साधारणीकरण का तत्त्व निरर्थक है ?

भावात्मक संश्लिष्टता और सामूहिक रागात्मक प्रभाविता को ध्यान में रखकर काव्यसर्जना और काव्यास्वाद की चर्चा करते हुए साधारणीकरण की बात सरल होती है । पर उसमें त्रुटि तब प्रतीत होती है जब आलोचना की नितान्त साहित्यिक, व्यक्तिवादी एवं मनोवैज्ञानिक अवधारणाएँ स्थिर होती जा रही हैं । आज का आलोचक कविता का आधार भावात्मक संश्लिष्टता नहीं मानता बल्कि

विश्लेषिका वृत्ति से जनित मानता है।[1] बौद्धिकता से संपृक्त प्रक्रिया सम्पन्न काव्य-कृति का साधारणीकरण कैसे सम्भव है? आज काव्यक्षेत्र में अपने काव्य को समझाने की नौबत कवि पर आ पडी है। अपनी कविता पर अलग से भाष्य करना पडता है, उसका मूल्य एवं मर्म खोलने का प्रयास वह करता है। काव्य में उत्पन्न यह परावलंबित्व साधारणीकरण के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। पर इसका उत्तर भी समाजगत संस्कारविकास में प्राप्त होता है।

विज्ञानयुग के बौद्धिक संस्कार ने भावुकता को इतना अधिक खण्डित कर दिया है कि साहित्यकार भी जीवन के रागात्मक पक्ष से सर्वथा दूर, दार्शनिक गुत्थियों एवं बौद्धिक तर्कों से सम्पृक्त विचार-बोध काव्य में अभिव्यक्त करने लगे हैं और सर्वथा नये रूप में। काव्यजगत की इस नई बौद्धिक स्थिति को देखकर एक ओर बुद्धि रस की माँग भी होने लगी और दूसरी ओर अनाकलनीय, दुर्बोध एवं दुरूह कहकर इस काव्य की भर्त्सना होने लगी। पाठकों के पल्ले ये बातें नहीं पडती। यदि समकालिक भावबोध से सम्पृक्त काव्यसर्जना हो रही है, जो पाठक उसे क्यों नहीं समझ पाते हैं? विषय-वस्तु का क्षेत्र तो बहुत अधिक व्यापक बना है और कई विभिन्न विषय काव्य में अनुभूतियों के द्वारा व्यक्त किये जाने लगे हैं। विगत कुछ वर्षों में युगीन भावबोध इतना तेज़ी से बदलता गया है कि मनुष्य के भावों, संवेदनों, विचारों और अनुभूतियों ने नयी वास्तविकता से टक्कर लेकर बौद्धिक नवतत्त्वों की अनुभूति प्राप्त की। साहित्य की आस्था भी बौद्धिकता की आधारशिला पर स्थित, सूक्ष्म एवं जटिल बनती गयी। अज्ञेय नवकाव्य के बौद्धिकता-प्राधान्य की ओर संकेत कर कहते हैं कि "इस कविता का मुख्य उपादानसाधन बौद्धिक धारणाएँ हैं, जो प्रायः विज्ञान, राजनीति, शास्त्र, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र आदि की उपजीवी हैं।"[2] विभिन्न शास्त्रों एवं ज्ञानविषयों के व्यापक विकास में मनुष्य के ज्ञान एवं विचार का क्षेत्र जितना व्यापक बनता गया है, अधिकाधिक उलझन, जटिलता, सम्मिश्रता, खण्डितता एवं सूक्ष्मता उत्पन्न होती है। आंतरिक संघर्ष ने जीवन को झकझोर डाला और यौवनपरिकल्पनाओं से मन कुंठित एवं दमित बना, सौंदर्यचेतना आक्रान्त बनी। मूल्यविघटन की चरमस्थिति में यथार्थ सत्य अस्तव्यस्त एवं कटु बनकर समसामयिक वास्तव के रूप में जब कवि के सामने उपस्थित होता है तो उस जीवनानुभूति का रागात्मक सम्बन्ध-स्थापन असम्भव-सा प्रतीत होता है। अतः कवि भावुकता एवं खण्डित चेतना को ऐतिहासिक कालक्रम से विलग एवं विच्छिन्न करके व्यक्त करने लगता है। यह सामयिक सन्दर्भ जब कविता में व्यक्त होता है तो वह दुरूह तथा दुर्बोध बनता है, अर्थात् वहाँ साधारणीकरण की समस्या उपस्थित होती है। समसामयिक सन्दर्भों में भी साधारणीकरण न हो सकने के कारणों पर विचार करना होगा।

---

१. Poetry is an escape from emotion.

२. दूसरा सप्तक, पृ. १४.

आवश्यक नहीं कि कवि अपने समय में ही लोकप्रिय रहे। समसामयिक सन्दर्भों और संस्कारों को अपनाने में सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कवि में अधिक संवेदनक्षमता होने के कारण वह सामयिकता को शीघ्र अपनाता और व्यक्त करता है। समाज को सामयिक संस्कारों के स्वीकारने में देर लगती है। समसामयिक सन्दर्भ कालान्तर से सार्वजनीन बनते हैं। पर जब तक सार्वजनीनता प्राप्त नहीं होती, तब तक वे सामान्य पाठक की बुद्धि, संवेदनक्षमता एवं आकलनशीलता के परे होते हैं तब तो साधारणीकरण का प्रश्न उपस्थित होता है। अन्य एक बात इसमें महत्त्वपूर्ण है कि सामयिक संस्कार एवं सन्दर्भ स्थिरता प्राप्त नहीं करते। सामयिकता में गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता अधिक होने के कारण उन सन्दर्भों में एवं संस्कारों का ग्रहण कुछ ही लोगों से किया जाता है। वैसे ही कवियों के अनुभूत बोध भी होते हैं। पूर्णतः पची हुई बातें या संस्कार न होने के कारण सूक्ष्म संस्पर्शमय खण्डित भावानुभूति, एवं युगबोध का वह अनुभव करता है और तुरन्त उसे व्यक्त कर देता है। अतः वह भाव-बोध कुछ सीमा तक अजनबी-सा लगता है आर पाठक के लिए साधारणीकरण नहीं हो सकता।

विशेषीकरण (specialization) और अतिवैयक्तिकता (individuality) आज के जीवन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गया है। पूर्ववर्ती काल में समाजजीवन एवं मानवजीवन अधिक संश्लिष्ट स्थिति में थे; समष्टिपरक जीवन की महत्ता अधिक थी। नवयुग का प्रधान संस्कार स्वतंत्र एवं विशिष्ट व्यक्तिचेतना का है और साथ ही नवीनता (novelty) और आधुनिकता (modernity) के मोह से आज का कवि किसी अछूते विषय या उसके अछूते पक्ष को, अचर्चित दायरे को, किसी अनोखे कोण को (obscure corner) छूना चाहता है और वह भी नित्य नये ढँग एवं प्रयोग के आधार पर ही। कलाकार के इस मोह, आस्था और समकालीन अस्थिर संस्कारमय स्थिति के कारण कुछ अस्पष्टता, उलझन, सूक्ष्मता एवं असंगतता (absurdity) आ जाती है और कवि उसे अपरिहार्य भी मानते हैं। नूतनता के चमत्कारों, नये उपमानों, शब्दों और नये प्रयोगों के कारण कभी-कभी काव्य पहेली-सा बन जाता है।

कुछ ऐसे अटपटे प्रयोग कवि करते हैं जिनके कारण काव्य को "काव्य" "कविता" कहना भी कठिन हो जाता है। अर्थात् समकालिक काव्य से अनगढ़, अटपटे और बेमेल प्रयोगों को छोड देने पर तो जो बचेगा वह आज की कविता है। फिर भी नये काव्य को न समझ सकनेवाले पाठक कुछ अवश्य हैं। साथ ही इस नयी भावानुभूति, भावबोध का सफलतापूर्वक आस्वादन करनेवाले पाठक भी हैं। ऐसा क्यों? इसका उत्तर भी उसी पृष्ठभूमि पर दिया जा सकता है कि समकालीन संस्कार समाज के व्यक्तियों पर कम अधिक प्रभाव डालते हैं और नये बौद्धिक संस्कार प्राचीन

संस्कारों को एकदम नहीं मिटाते। अतः आज का पाठक प्राचीन शाश्वत एवं महान काव्य तो पढ़ता है और आज का काव्य विशेष रुचि से पढ़ता है । **आचार्य शुक्ल** सच्चा कवि उसी को मानते हैं जिसे लोकहृदय की पहचान हो और जो अनेक विचित्रताओं से बीच मनुष्यजाति के सामान्य हृदय को देख सके।"[1] आज लोकहृदय को छूनेवाला काव्य भले ही न लिखा जाता हो, बौद्धिक अनुभूति या भावबोध भी हृदय से सर्वथा विछिन्न नहीं हो सकता। केवल बौद्धिक तार्किकता कविता नहीं बनती, वे दार्शनिक विचार होंगे। कवि की वस्तुगत अनुभूति कविता में तभी साकार हो सकती है जब वह उत्कट बन जाये। अतः बौद्धिक संस्कार भी मूलगत भावात्मक संस्कार के द्वारा व्यक्त होकर अभिव्यक्ति पाते हैं।

भावों के साधारणीकरण का प्रश्न उपस्थित होने पर महत्त्वपूर्ण बात सामने आती है कि प्रगतिवादी समीक्षकों ने साधारणीकरण और कॉडवेल के सामूहिक भाव को एक ही माना है। कॉडवेल ने काव्य के साथ सामूहिक भावना को (collective emotion) को जोड दिया है और वे काव्य को समूह-विशेष के विचारों का प्रकाशनकर्ता मानते हैं। समाज के विकास एवं परिवर्तन के साथ आगे बढ़नेवाला साहित्य सामूहिक भाव प्रकट करता है। हिन्दी में **अमृत राय** ने सामूहिक भाव की चर्चा करते हुए उसे लोकहृदय से जोड़ा है तथा साधारणीकरण सिद्धान्त और सामूहिक भाव दोनों को एक दूसरे का पर्याय माना है। वे लिखते हैं, "हमें सामूहिक भाव और साधारणीकरण में परस्पर कोई विरोध नहीं दिखाई देता। हमारी समझ में यह विरोध तभी परिलक्षित होता है जब कि साधारणीकरण को या सम्पूर्ण रस-सिद्धान्त को मानवसुलभ विचार और अनुभूति की सीमा से परे हटाकर किसी लोकोत्तर जगत की चीज़ बना दिया जाता है।"[2] ऊपरी तौर पर इन में पर्याप्त समानता परिलक्षित होने पर भी वस्तुतः दोनों में भिन्नत्व है। साधारणीकरण की प्राक्रिया और सामाजिक भाव की एकता दोनों में अंतर है। एक भावात्मक एकता पर स्थिर है और दूसरा आर्थिक सम्बन्धों पर। इन दोनों की तुलनात्मक चर्चा करते हुए सामूहिक भाव के सन्दर्भ में **डॉ. आनन्दप्रसाद दीक्षित** द्वारा कई प्रश्न उपस्थित किये गये हैं, जो सामूहिक भाव और साधारणीकरण को एक मानने में नितान्त बाधक ही प्रमाणित होते हैं।[3] अतः इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सामूहिक भाव का साधारणीकरण से समत्व मान्य नहीं किया जा सकता।

साधारणीकरण के तत्त्व में यह कमी है कि इसमें कवि के भावों, विचारों एवं अनुभूति की सर्वमान्यता स्वीकृत है और साथ ही आस्वादमूलक बातों की आशा रखी

१. रसमीमांसा, पृ. २६६
२. नयी समीक्षा, पृ. २४
३. रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृ. ४०२

गई है। परंतु युगपरिवर्तन के फलस्वरूप यह देखा जा रहा है कि कवि की मान्यता अनुभूति एवं दृष्टिकोण पाठक को मान्य नहीं हो सकता। इसके दो कारण सम्भव हैं। एक बौद्धिक विचिकित्सा प्रणाली का प्रचलन और दूसरा है अतिवैयक्तिकता का प्राधान्य। यह आवश्यक नहीं कि वह कवि की अनुभूति से अनुकूल एवं सहमत हो। असहमति के साथ साधारणीकरण कैसे सम्भव है ? आज भावात्मक एकता के स्थान पर बौद्धिक अनुभूति की अभिव्यक्ति को महत्ता है। सामायिक अनुभूति का साधारणीकरण हो भी तो वह भावात्मक स्तर पर रसात्मक स्थिति में नहीं हो सकता, बौद्धिक स्तर का ही हो सकता है। इसीलिये सम्भवतः **विनयकुमार शर्मा** सुमित्रानन्दन पंत के काव्य का बुद्धिगत साधारणीकरण सहजसम्भव मानते हैं।[1]

आज जीवन की ओर देखने का वास्तववादी यथार्थमूलक दृष्टिकोण कवियों के द्वारा केवल सौंदर्यांकन नहीं कराता, अपितु असौंदर्यात्मक, भद्दे चित्रण भी किये जाते हैं। आज काव्य में ऐसे कतिपय उदाहरण प्राप्त होते हैं। समकालिक वास्तव का नग्न चित्रण करते हुए अश्लीलता, अकलात्मकता की बात जहाँ उठती है वहाँ तो साधारणीकरण हो ही नहीं सकता। साथ ही कलात्मकता के अभाव में उसे काव्य की संज्ञा भी प्राप्त नहीं हो सकती। वे सारी अभिव्यक्तियाँ मात्र व्यक्तिगत दमित कुण्ठाओं और यौनकल्पनाओं से परिपूर्ण हैं। ऐसे अनगढ़ प्रयोगों में न सौंदर्य है, न सत्य। अर्थात् वे कवि की व्यक्तिगत निधि मात्र रहेंगे, साधारण के लिये नहीं।

काव्यभाषा का साधारणीकरण :

काव्य के संप्रेषण के लिये कवि-अभिप्रेत के साधारण बनने के अतिरिक्त उसका काव्यात्मक भाषा में व्यक्त होना आवश्यक होता है। भट्टनायक ने काव्यात्मक भाषा का प्रश्न साधारणीकरण के विषय में उठाकर उसे महत्त्व दिया था।

यह निश्चित है कि काव्यभाषा के बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। वही उसकी महत्त्वपूर्ण इकाई है। परंतु भाषा यह कोई स्वयंभू, स्वतंत्र और अपने-आप नहीं बनी। वह मनुष्य की सामाजिक क्रिया-प्रक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। आदिम स्थिति में मानव ने संकेतों और इंगितों से विकसित होकर आदानप्रदान एवं अपने अनुभव को व्यंजित करने के लिए भाषा को अपनाया और तब से जैसे-जैसे वह नये-नये अनुभव प्राप्त करता रहा, उनको व्यक्त करने के लिए नित्य नवीन शब्दों आदि को प्रयुक्त कर भाषा का व्यवहार करता आया और तब से निरंतर विकासशीलता के कारण भाषा बदलती रही है।

कहा जाता है कि "भाषा अनुभव ही है—'Language is experience' जीवनचर्या, जीवनबोध एवं पारस्परिक आदानप्रदान का प्रतीक भाषा है। भाषा के

१. पंत और उनका काव्य, पृ. १९५

विकसित होने की प्रक्रिया अत्यन्त धीमी है। साथ ही वह एक व्यक्ति से नहीं वरन् अनेक व्यक्तियों द्वारा गढ़ी जाती है। अर्थात् भाषा पर युगीन सांस्कृतिक प्रभाव होता रहता ह और युगसन्दर्भो के अनुरूप वह अपना रूप बदलती रहती है। नवयुग में नवीनतम शास्त्रों, ज्ञान-विज्ञान एवं विभिन्न विषयों के विकास ने भाषा में बहुत व्यापकता एवं विकास उत्पन्न किया। जैसे-जैसे मानवजीवन के संस्कार, भावबोध एवं ज्ञान आदि बढ़ता गया; भाषा के रूप एवं शैली भी बदलती रही।

अतः प्रत्येक युग के काव्य को समझने के लिए कवि की भाषा की विशेषताओं से परिचित होना आवश्यक होता है। काव्यभाषा के उपादान से भली भाँति परिचित होने पर पाठक युगविशेष की काव्यसंपदा का आस्वाद ले सकता है क्योंकि भाषा मानवजीवन का अभिन्न अंग है। मानवजीवन में भाषा का व्यवहार दो रूपों में होता है। बोली भाषा और साहित्यिक भाषा। बोलचाल की भाषा में नित्य ही परिवर्तन होता रहता है। भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है परंतु यह कहना कठिन है कि भाव या भाषा इनमें से प्रथम किसका आविर्भाव हुआ। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भाषा विशेष संवेदना का वहन करती है और युगविशेष की संवेदना के अनुरूप भाषाभिव्यक्ति में कुछ अन्तर आता है।

जीवन बदलता है, उसके अनुभवों, विभिन्न भावों और पूरी जीवनप्रक्रिया का एक अभिन्न अंग भाषा ही है। अपनी अनुभूतियों को भाषा के रूप में अंकित करना कवि को अभीष्ट होता है। अतः भाषा रचनाकार या कवि की संवेदना का माध्यम एवं स्रोत ही हैं। कवि के अन्तस्तल में अनुभूति के रूपाकरण की जो प्रक्रिया घटित होती है, उसी समय से भाषा से उसका एक सम्बन्धविशेष जुड़ जाता है। अर्थ-बोध के साथ संवेदनात्मक गहराई बढ़ती जाती है और भाषा का रूप बदलता है। इसीलिए भिन्न युगों में भिन्न कवियों की भाषा में अन्तर आता दिखाई देता है।

भाषा की संवेदना गतिशील होती है। उसके सम्बन्ध में **डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी** लिखते हैं, "भाषा और संवेदना एक जैसा संश्लेषक है, जिसे इतना अलग अलग नहीं देखा जा सकता। पर भाषा भावों की अनुवर्तिनी है, यह मान्यता वैज्ञानिक नहीं लगती।"[१] भावों के परिवर्तन का प्रभाव भाषा एवं सामयिक संवेदना पर अवश्य ही होता है। भाषा पर सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव भी अधिक होता है। काव्य भाषा पर सांस्कृतिक चेतना का ही प्रभाव अधिक होता है और उसके अनुरूप प्रतीकों, भावचित्रों, बिम्बों आदि का अंकन कवि करता है अर्थात् काव्यभाषा परिवेश से जुडी हुई होती हैं। सम्भवतः इसीलिए तुलसीदास, सूरदास, भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, निराला और अज्ञेय सब कवियों की काव्यभाषा में अन्तर है।

१. भाषा और संवेदना, पृ. १००.

हिन्दी काव्यविकास में भाषा के रूपपरिवर्तन से परिष्कारादि हुआ। काव्यभाषा के रूप में व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हुई। यहाँ केवल भाषापरिवर्तन नहीं हुआ बल्कि संवेदना मूलतः बदल गई, उसका नयी दिशा में संचरण होने लगा। व्रज में होनेवाले माधुर्य, सुकोमलता, एवं कोमल भावाभिव्यक्ति की क्षमता के कारण प्रेम एवं भक्ति के परिपाक के लिए वह भाषा प्रयुक्त की गई। कालान्तर से सामाजिक चेतना और संवेदना परिवर्तित होने के कारण भारतेन्दु काल में खडी बोली को स्वीकार किया गया और अभिव्यक्ति का विशेष ढंग अपनाया गया।

राजनीतिक स्वातंत्र्य के आन्दोलन के प्रवाह बहने लगे थे। ऐसे समय भारत की दयनीय स्थिति यही ज्वलन्त प्रश्न था। खड़ी बोली के स्वीकार का आग्रह रखकर उसमें समकालिक अनुभूति को अंकित किया गया, तब वे उस काल में अत्यन्त सरस प्रतीत हुई। भारत के अतीत की भव्यता की ओर संकेत कर उसकी सांप्रतिक दीन अवस्था पर आँसू बहाते हुए लिखा है,

अब कहँ देखह तहँ दुःखहि दुःख दिखाई,
हा हा भारत–दुर्दशा न देखी जाई। (भारत–दुर्दशा)

उस भाषा में कर्णकटुता, कर्कशता एवं अव्यवस्थित रूप भले ही हो परंतु अनुभूति की सचाई, नैतिक साहस, सत्यप्रेम और देशप्रेम आदि विशेष रूप में व्यक्त होने से तत्कालीन पाठकों को ये पंक्तियाँ रसात्मक बोध कराने में समर्थ थीं और उनका पूर्णतः साधारणीकरण होना भी सुलभ था। सम्भवतः आज ये काव्यपंक्तियाँ साधारणीकृत रूप में नहीं आतीं या उनसे रसास्वाद की स्थिति भी नहीं उत्पन्न हो सकती।

द्विवेदी युग में खड़ी बोली की दुर्बलता दूर हो कर उसमें नयी शक्ति आयी। अपने युग की चेतना को वहन करते हुए चेतावनीपूर्वक पंक्तियाँ लिखी गई —

विद्यार्थी मजदूर कृषक ही सच्चा राष्ट्र बनाते हैं।
उनके बिना राव राजागण कहीं नहीं कुछ कर पाते हैं।
कृषको उठो, छात्रगण जागो, मज रो रोना छोडो।
अपना सच्चा रूप देख लो गली गली रोना छोडो।[1]

इन पंक्तियों में कालगत अभिव्यक्ति के द्वारा रस की अनुभूति पाठकों ने अवश्य की थी। आज तटस्थता से आस्वाद करने पर रसात्मकता उस स्तर की नहीं मालूम होती।

क्रांति की भावना को कालगत विशेष अभिव्यक्ति मिली और माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, दिनकर आदि कवियों की कविताएँ उस काल में अत्यन्त रसमयी प्रतीत हुई। सुभद्राकुमारी चौहान के काव्य में देशप्रेम की अपूर्व धारा का अनुभव तत्कालीन पाठकों ने किया।

१. आधुनिक काव्यधारा, पृ. १६७ से उद्धृत

परंतु इन स्थलों के आस्वाद में आज अन्तर आता है। आज परिस्थिति में अन्तर आने से संवेदना बदली हुई है, अतः तटस्थता से उसका पठन करने पर रसात्मकता का अनुभव नहीं आयेगा। समकालिक संवेदनाविशेष के कारण अत्यन्त रसमय स्थल भी नीरस प्रतीत होने लगते हैं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो सकता है कि साधारणीकरण के मूल में भाषा का अत्यधिक महत्त्व है। भावावेग की अनुभूति में स्थिति के बदलने से अन्तर आता है। आज यदि सुभद्राकुमारी के काल जैसी स्थिति देश में पुनः एक बार आये तो उस काव्य की अनुभूति और भी भिन्न होगी। परिस्थिति बदलने से हमारी संवेदना में अन्तर आता है। अतः साधारणीकरण के विचार में समकालिकता और संस्कार का विशेष महत्त्व है। संस्कार तो साधारण स्तर पर रहते हैं पर समकालिकता अधिक महत्त्वपूर्ण रहती है। भाषाविशेष की अभिव्यक्ति ही रसात्मकता उत्पन्न करती है।

काव्यभाषा से इस परिवर्तन का सम्बन्ध तब आता है जब कवि समकालीन चिंताधारा को अनुभूत कर व्यक्त करना चाहता है और नवीनतम ढंग से व्यंजना करने की उसकी आकांक्षा रहती है तब इस नये भावबोध की अभिव्यक्ति के लिए उसे नये प्रकार की भाषा को अपनाना पडता ही है। युगपरिवर्तित संस्कारों ने मानव के आचार-पोशाक में परिवर्तन किया, नवयुग के काव्य की पोशाक भी परिवर्तित करनी पडती है और फिर नवयुग के कवि आलोचक अपनी कठिनाई को व्यक्त करते हुए कहते हैं, "प्राचीन काल में ज्ञान का क्षेत्र जब सीमित और अधिक संयत था तब कवि, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि अलग-अलग लेबल आवश्यक थे। जो पठित था, शिक्षित था सभी ज्ञानों का पारंगत नहीं पर परिचित तो था।"[1] आज विषयों एवं विचारों की व्यापकता, सूक्ष्मता तथा विविधता का ही प्रश्न नहीं है, ज्ञान की सीमा की ही समस्या नहीं बल्कि जीवनानुभव की सूक्ष्मता एवं जटिलता की प्रधान समस्या है। जो वास्तव सत्य, नये तथ्य एवं नवीनतम भावबोध कवि को अनुभूत होता है उसे व्यक्त करने के लिए भाषा के नये प्रयोगों को वह अपनाना चाहता है। नवीन अनुभवों के साथ भाषा के नवीन स्वरूप का आना स्वाभाविक ही है। अतः नवकवि अज्ञेय माँग करते हैं, "नये कवि नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोडकर नये सत्यों को रूप दे। उन नये सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे यही नई समस्या है।"[1] अज्ञेय को प्रतीत होनेवाली साधारणीकरण की समस्या के मूल में भाषा के समाजसापेक्ष, युगीन प्रभाव में परिवर्तित होना है।

नये युग में प्राचीन युग की अपेक्षा बदलते सन्दर्भ में भाषा के नये-नये प्रयोग किये जाने लगे हैं। आज के यंत्रयुगीन जीवन में कल-कारखाने, पोस्टर्स, बिजली के

१. दूसरा सप्तक, पृ. १०

खम्भे, जैसे कतिपय नवीनतम प्रतीकों एवं बिम्बों की योजना होती है। प्राचीन काल में जिन बातों का अस्तित्व ही नहीं था उनका प्रतीकों के रूप में आना भी कैसे सम्भव था? साथ ही नये भावबोध में जो बौद्धिक तत्त्व और खण्डित भावुकता है, सूक्ष्म एवं जटिल क्षणिक संवेदनाएँ हैं, उनको व्यक्त करने लिये परम्परागत भाषा अपूर्ण प्रतीत होती है। अतः परम्परा और प्रयोग का सामंजस्य करते हुए, कभी पूर्व परम्परा को पूर्णतः तोड-फोडकर नूतनतम रूप को अपनाकर कवि अभिव्यक्ति करना चाहता है। नये कवियों के अगुआ स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं, "तब तो भाषा केवल एक मुहावरा थी, लेकिन आज क्या वह स्थिति है? विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गये हैं। ऐसी कोई भाषा नहीं, जो सब समझते हो और बोलते हो। ऐसी स्थिति में कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य उसी क्षेत्र में नहीं, उससे बाहर आकर व्यक्त करना चाहता है, तो उसके सामने बड़ी समस्या है।"[२]

आज कवि के सामने इस समस्या के उपस्थित होने का कारण परिवर्तनशीलता में प्राप्त होता है। जीवनमुख, संवेदना और बोध ही बदल चुका है। संस्कार बदले हैं और इन बदले हुए संस्कारों को व्यक्त करने के लिये परम्परागत शब्द कवि को संतोषजनक नहीं प्रतीत होते। सौ वर्ष पहले स्थूल सरल जीवन था। पचास वर्ष पूर्व सांस्कृतिक पुनरुत्थान काल रहा। उस काल में संस्कृतनिष्ठ प्रौढ भाषा में जीवन के आदर्शों की अभिव्यक्ति कवियों ने की पर तब भी नवचेतना के साथ परम्पराएँ बनी रही थीं। आज का जीवन और अनुभव ही कुछ कटा हुआ, विशृंखलित (unlinked), विसंगत (absurd) एवं उलझनभरा (जटिल) (complicated) होने से नया भावबोध भी सूक्ष्मता एवं जटिलता से संपृक्त ही है, उसे व्यक्त करने की कठिनाई जब कवि अनुभव करता है तब वह नये शब्दों, प्रयोगों, प्रतीकों और बिम्बों की खोज कर, कुछ अपनाकर, कुछ स्वयं गढ़कर अभिव्यक्ति कर पाता है और तब भाषा नितान्त नये स्वरूप में सामने आती है। शैली, छन्दादि बन्धनों को बदल देने या छोड देने से काव्यभाषा-रचना की कायापालट हो जाती है। पुराने घिसे हुए शब्दों को, जो फीके पड गये हैं, अपना मूल अर्थ खो बैठे हैं या विकृत से बन गये हैं, छोड़कर नये अपनाता है। समकालीन लोकभाषा अन्य विषय एवं शास्त्र, विदेशी भाषा आदि से शब्द ग्रहण करके कवि प्रयोग करता है। कुछ शब्दों एवं प्रयोगों को वह स्वयं गढ़ता तक है, जब उपलब्ध शब्द अधूरे जान पडते हैं। कभी अर्थ की निश्चित झलक पाने के लिए मूल शब्द का कुछ रूपान्तर-सा कर देता है। शब्दों को नये सन्दर्भों के साथ कभी नई अर्थवत्ता प्राप्त होती है। इस

१. दूसरा सप्तक, पृ. १२
२. दूसरा सप्तक, भूमिका

पूरे विकास के क्रम में समकालीन प्रभाव से गृहीत शब्दों में कवि की व्यक्तिगत चेतना भी कार्य करती रही है । और इन शब्दों को प्रयुक्त करने के कारण जब वे पाठकों के लिए दुरूह, अजनबी और अपरिचित हो जाते हैं तब साधारणीकरण में बाधा आती है।

पर यह आवश्यक भी है। नवीन शब्दों के ग्रहण में ही केवल युगीन जीवन का प्रभाव नहीं होता, बल्कि शब्दों के प्रयोग, परस्पर सम्बन्ध से प्रयुक्त पदबंध, शब्दबंध (word-patterns), विशेषण-विशेष्य के परस्पर सम्बन्ध, काव्य में प्रयुक्त प्रतीक और बिम्ब आदि सभी बातों पर युगीन प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। कालिदासकालीन उपमादि के प्रयोग धीरे-धीरे बदलते गये हैं । स्त्री-सुन्दरता के अंकन में भी अन्तर आया है। नयी चेतना की अभिव्यक्ति इन नये-नये प्रयोगों, शैलियों और बिम्बों द्वारा होती रही । सर्वेश्वर की सरकण्डे की गाडी, घास काटनेकी मशीन, काठ की घंटियाँ, मुक्तिबोध के पोस्टर, बिजली के खम्मे, भूत-पिशाच्च, बावडी जैसे बिम्ब, कुत्ता, बिल्ली, केचुआ शराब जैसे नये उपमान अधुनातम संस्कार का शब्दरूप है। लालटेन की भोंडी परिधि में आँखें देखना, चप्पल की आवाज में नूपुरध्वनि सुनना आदि में नितान्त नवीन भाषाचेतना है। और जब इससे भी कवि को संतोष नहीं हुआ तब आडी-तिरछी रेखाओं, तिकोन, चौकोन, प्रश्नचिन्ह आदि संकेतों से वह अभिव्यक्ति के लिए छटपटाने लगा तब उसका प्रयास कविता नहीं बन पाया, मात्र छटपटाहट अनगढ़ प्रयोग मात्र हुआ।

यह सारा नया शिल्प, भाषा शैली, प्रतीकादि सामने आने पर पाठक कभी चौंकता है, कभी स्वीकार करता है। पुरोगामी आक्रोश व्यक्त कर रह जाते हैं। नवयुग की यह अपरिहार्यता कभी अबूझ पहेली बनकर प्रत्यक्ष होती है तब साधारणीकरण कहाँ का रहा ? समकालीन स्थिति से असामंजस्य होने पर तो और भी कठिन स्थिति उत्पन्न होती है। परम्परा के अनुसार यह आशा की जाती है कि सामान्यतः भावात्मक काव्य पढ़ते ही पाठक उसमें तादात्म्य पाए, वह काव्य उसके हृदय को छूकर उसे रसमग्न बनाये। पर यह नया स्वरूप कविता को जो रूप प्रदान करता है, उसके कारण कविता एक बार पढ़ने से समझ में नहीं आती। हृदयस्पर्श तो नहीं परंतु दो-तीन बार पढ़ने से दिमाग में ज़रूर उतर जाती है। क्या इस स्थिति को साधारणीकरण की स्थिति माना जा सकता है ? यह कविता या तो बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करेगी या समस्या को उत्पन्न कर पाठक को विचलित करेगी। यदि ये दोनों बातें होती हैं तो कविता की सफलता मानने में हर्ज नहीं।

अतः समकालीन काव्य में कुछ समझ में नहीं आता है, तो कुछ हर्ज नहीं। कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि, शेक्सपीयर की गहन विचारधारा, वर्डस्वर्थ की चेतना और तुलसी का विशिष्टाद्वैत लोकसामान्य की परिधि में आज भी नहीं आता

तो क्या आपत्ति है ? समकालीन सौंदर्यबोध अभी तक स्थिर नहीं हुआ तो हर्ज नहीं । इन कठिनाइयों के बावजूद उपर्युक्त कृतियाँ कालातीत एवं विश्वजनीन क्यों बनीं ? इनके काव्यगत भावों और विचारों में सचाई है और जीवनानुभूति में मर्मस्पर्शी गहराई है । यदि नवीनतम प्रयोगों द्वारा समकालीन चिन्ताधारा एवं सौंदर्यानुभूति काव्य में अंकित है, तो साधारणीकरण न होने पर भी काव्य श्रेष्ठ काव्य हो सकता है । **श्री शिवदानसिंह चौहान** इलियट के काव्य की दुरूहता का उल्लेख कर लिखते हैं, "इसके विपरीत इंग्लैंड के कवि टी. एस्. इलियट की कविता दुरूह है । उनके काव्य "Waste Land" को पूरी तरह समझ में विद्वान आलोचकों को तीस वर्ष लगे हैं ।"[१] इस उदाहरण से सामयिकता का सार्वजनीन बन जाने की गति कितनी धीमी है इसका पता चलता है ।

अभिनय और साधारणीकरण :

साधारणीकरण में काव्यवस्तु, सहृदय और काव्यभाषा का विचार करने के साथ ही अभिनय तत्त्व को सोचना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य की विभेदसीमा पर पाठक प्रेक्षक की अवस्थिति है, जो साधारणीकरण के बोध में अंतर लाती है । मूलतः भरतमुनि ने सामान्यगुणयोगेन...रसास्वाद की बात की थी, तब उनके सामने प्रस्तुतीकरणीय नाटक था । दृश्यकाव्य में रंगनिर्देश, संगीत, अभिनय आदि बातें काव्यार्थ को व्यक्त करती हैं । अतः सात्त्विक, आंगिक, वाचिक और आहार्यादि अनुभावों द्वारा काव्यार्थ अथवा नाट्यार्थ का साधारणीकरण सरल था । प्रत्यक्षात्मकता, दृश्यात्मकता एवं मूर्तता से संप्रेष्यता एवं सुलभता आकर उसका आस्वाद सामान्य से सामान्य पाठकों के लिए मूर्त एवं सरल था । प्रेक्षक समुदाय की उपस्थिति में देश-काल-आयु आदि बंधन क्षीण होकर सामूहिक रसास्वाद की स्थिति का समर्थन समाज-मनोविज्ञान भी करता है ।

श्रव्यकाव्य के सन्दर्भ में दृश्यात्मक पक्ष के अभाव में कुछ सीमाएँ, अमूर्तता, सेन्द्रियता एवं गूढ़ता आपाततः आ जाती है । अभिनय के स्थान पर शब्द और अर्थ का संयोजन, शब्दों के परे होनेवाले अमूर्त अर्थ, उसकी शक्तियों के अनुकूल कवि का अभिप्रेत, यह सारा आता है, तब पाठक की स्थिति भिन्न होती है । वहाँ सामायिकता, समूह आदि छूटकर व्यक्तिगतता आती है । वैयक्तिकता आते ही साधारणीकरण में बाधा आती है और व्यक्तिविशिष्टता का प्रश्न भी उपस्थित होता है । श्री. **जयशंकर प्रसाद** भी श्रव्यकाव्य में साधारणीकरण की कमी का संकेत करते हैं ।[२] काव्य के आस्वादन में कवि और पाठक के अतिरिक्त काल और स्थान का स्वतंत्र आयाम साधारणीकरण के सम्बन्ध में आता है । भट्टनायक के सामने केवल नाटक नहीं

१. आलोचना के मान, पृ. ९०

२. काव्य और कला तथा अन्य निन्बध, पृ. ११२, ११७

था, अधिकतर काव्य ही था। अतः काव्य के साधारणीकरण की समस्या आत्मतत्त्व और देशकाल, आयु आदि बन्धनों से मुक्ति पाकर संविद्विश्रांति में सुलझायी। भट्टनायक की इस स्थापना में विशिष्ट अधिभौतिक दृष्टिकोण (metaphysical view) रहा हो, जिसने विश्व के रंगमंचपर मानवजीवनानुभूति को व्यक्त किया है इस प्रकार की चर्चा **श्री. रमेशकुन्तल मेघ** ने की है।[1]

काव्यानुभूति के अन्तर्गत ही साधारणीकरण के तत्त्व को परखनेपर ये कुछ त्रुटियाँ सामने आती हैं। विशेषतः काव्य का माध्यम है भाषा, नाटक का माध्यम भाषा और अभिनय। अर्थात् नाटक के सामूहिक भावात्मक इकाई और साधारणीकरण सम्भव है, पर काव्य के लिए पूर्णता नहीं। प्राचीन आचार्यों ने परिवर्तनशीलता एवं सामाजिक गतिशीलता का विचार अधिक नहीं किया यही उसकी कमी है। साधारणीकरण के लिए भावसंवेदनात्मकता और मूर्तता आवश्यक है जिसके कारण प्राचीन काव्य में उसकी विशेष सम्भावना थी। किन्तु जब आज बौद्धिक काव्य लिखा जा रहा है तब उसमें साधारणीकरण का वह भावात्मक स्तर नहीं हो सकता। अतः साधारणीकरण वहाँ रसात्मकता की स्थिति में नहीं होता, चिन्तन के स्तर पर होता है। साथ ही नाट्य में अभिनयादि के कारण मूर्तता रहती है, अतः साधारणीकरण सुलभ है। श्रव्य में ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति आदि के कारण अमूर्तता एवं सूक्ष्मता आती है, अतः भाषागत साधारणीकरण वहाँ कठिन हो जाता है। अतः श्रव्यकाव्य में साधारणीकरण की कल्पना रहती है तो सामान्य चरित्रों और भावों तक ही मान्य किया जा सकता है। अतः आचार्यों द्वारा स्वीकृत साधारणीकरण के विभिन्न आधारों में से काव्यभाषा का साधारणीकरण विशेष महत्त्वपूर्ण है। युगसंवेदना एवं संस्कार काव्य में विशेष धरातल पर व्यक्त होते हैं अतः उसीको साधारणीकरण का मूलाधार स्वीकार किया जा सकता है।

■ ■

१. आलोचना पूर्णांक, ४२ पृ. २५

नवम अध्याय

आनन्दवाद का सामाजिक मूल्यांकन

रसास्वाद की कल्पना आनन्दानुभूति में की गयी और रस की अंतिम परिणति आनन्द में मानी गयी है। आनन्दानुभूति क्या है इसकी चर्चा करते हुए विभिन्न आचार्यों द्वारा आनन्द के स्वरूपविषयक जो स्थापनाएँ की गयी थीं, उनके अनुसार संक्षेप में ये विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

(१) रस आस्वादरूप है और आस्वाद ही आनन्द है।

(२) रस ब्रह्मानन्द-सहोदर होता है।

(३) रस अलौकिक एवं लोकोत्तर-चमत्कार होता है।

(४) रस की प्रतीति निर्विघ्न, अखण्ड होती है।

(५) रस प्रतीति के समय चिन्मय, अन्यज्ञानरहित, स्वप्रकाश, भावोद्रेक की स्थिति में मन की विश्रांति तथा लय की अवस्था होती है।

आनन्द की अलौकिकता, ब्रह्मानन्दसहोदरता, अखण्डानुभूति, विश्रांति, सत्वोद्रेकादि सारी स्थितियाँ एवं परिभाषाएँ दर्शनशास्त्र के शब्दों से युक्त हैं। आचार्यों ने दार्शनिक शास्त्रान्तर्गत होनेवाले इन शब्दों, परिभाषाओं तथा प्रतीकों द्वारा आनन्द की चर्चा एवं सिद्धान्त-स्थापना की है। भरतमुनि के द्वारा स्थापित रससिद्धान्त की चर्चा जब मध्ययुगीन दार्शनिकों, विचारकों और काव्यशास्त्रियों की प्रज्ञा से आविर्भूत होकर प्रस्फुटित हुई, तब पूर्णतः दर्शन से रँगी हुई नज़र आती है। इन मध्ययुगीन काव्याचार्यों के द्वारा भरत के सूत्रात्मक सिद्धान्तर्गत संयोग, निष्पत्ति, आस्वादादि की समग्र एवं व्यापक व्याख्या का महान कार्य तो सम्पन्न हुआ; परंतु तत्कालीन सामाजिक स्थिति एवं समकालीन विचारधारा का अत्यधिक प्रभाव उनके विवेचन पर परिलक्षित होता है। मध्यकालीन भारतीय समाज में विशेष रूप से विचारकों एवं बुद्धिमानों पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद और कुमारिल भट्ट द्वारा उत्पन्न दार्शनिक क्रांति

का गहरा और स्पष्ट प्रभाव रहा। अतः रस के आचार्यों ने रस व्याख्या के लिये आकर्षक और सर्वोत्तम माध्यम के रूप में दर्शन को ही चुना। दार्शनिक तथ्य और सिद्धान्तों के साथ प्रतीकों और रूपकों को ग्रहण करके रससूत्र को समझाने के प्रयास में दार्शनिक एवं आध्यात्मिक आवरण भी उस पर डाल दिया गया। समसामयिक दार्शनिक मतों से प्रेरणा ग्रहण करना इनके लिये स्वाभाविक ही था। अतः भारतीय दर्शन के सारतत्त्व आनन्दवाद को रस के परिणत रूप में स्थापित किया गया। इस दार्शनिक एवं आध्यात्मिक आवरण के कारण रसविवेचन अत्यधिक सूक्ष्म तो हो गया परंतु साथ ही उसमें गुत्थियाँ भी उत्पन्न हुईं।

आनन्दवाद की सिद्धान्तगत बातों का सामाजिक दृष्टि से पुनःपरीक्षण करने से स्पष्ट होता है कि आनन्दसिद्धान्त में प्रधानतया बुद्धि और व्यक्तित्व की विभिन्नता को बिलकुल उपेक्षित किया गया है। नितान्त भावात्मक भित्ति पर आधारित आनन्द की प्राप्ति के पूर्व पाठक के तन्मयीभवन की स्थिति अनिवार्य मानी गयी है। इस प्रक्रिया में समस्त विघ्नों से संविति, मुक्ति, सत्वोद्रेक की स्थिति, चमत्कार, भोग, समापति, विश्रांति, लय आदि शब्दों के द्वारा पाठक की मनस्थिति अंकित की गयी है। अर्थात् रसास्वाद के लिये पाठक के तन्मयीभवन की स्थिति अनिवार्य बतायी गयी है।

आज बदले हुए सामाजिक परिप्रेक्ष्य की सापेक्षता में विचार करते हुए तन्मयीभवन की स्थिति पर प्रश्नचिन्ह अंकित हो जाता है। ध्यान, धारणा, विश्रांति, लय, सत्त्व-रज-तम का परिहार होने पर पाठक में सत्वोद्रेक की स्थिति का उत्पन्न होना यहाँ अपेक्षित है। यह स्थिति योगी की समाधि द्वारा प्राप्त मुक्ति की स्थिति के समान है। आचार्यों की इस स्थापना में नितान्त दार्शनिक दृष्टि है। परंतु क्या तन्मयीभवन और समाधि द्वारा प्राप्त परब्रह्मास्वाद की स्थिति दोनों एकही समान स्तर पर स्थित या एक ही मानी जा सकती है? विचार करने पर स्पष्ट होता है कि तन्मय होना और परब्रह्मास्वाद करना दोनों एक नहीं हो सकता। परब्रह्मास्वाद में तन्मयता का अंतर्भाव तो हो जाता है, उसके अतिरिक्त परब्रह्मवाली बात और अधिक गहन अनुभूति को जोड़ देती है। अतः इन दोनों स्थितियों में मूलतः सम्बन्ध अवश्य है। तन्मय हो जाना मूलतत्त्व के रूप में माना गया है; उसे कोई अस्वीकार नहीं करता। उसे लोकोत्तर-चमत्कार कहा गया है। वैसे परब्रह्मास्वाद तो लोकोत्तर ही है; उस पर आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। परंतु परब्रह्मास्वाद-सहोदरत्व का प्रश्न जब आता है तब अन्य बातें उभरती हैं। परब्रह्मस्वाद योग से सम्बद्ध है अतः उसे लोकोत्तर आदि कहने से मात्र ब्रह्मानंद-सहोदरत्व, तन्मयीभवन आदि बातें नहीं सुलझ सकेंगी बल्कि उनमें स्थित मौलिक भावना को समझाना आवश्यक है।

तन्मय होने की स्थिति की भी कुछ सीमा हो सकती है। प्राचीन आचार्यों ने यह सीमा ब्रह्मतक पहुँच जाने या उसके समान अर्थात् इस लोक से बिलकुल परे

पहुँचने में बताई है। दुनिया के सम्बन्धों से या विषयों से कोई सम्बन्ध न रहना उसमें अभिप्रेत है। तन्मय होने की स्थिति का मानवीय जीवन एवं समाज की स्थिति की सापेक्षता में भी विचार करना आवश्यक है। केवल लोकोत्तर कह कर काम नहीं चलेगा।

तन्मय होने की स्थिति प्रधानतया मानव के शारीरिक एवं मानसिक सुख और शांति पर अवलम्बित होती है। यदि व्यक्ति का मानसिक संतुलन ठीक नहीं है, तो तन्मय होने में कठिनाई उत्पन्न होती है। अतः शारीरिक या मानसिक वैफल्य उपस्थित होने पर तन्मयीभवन की स्थिति में अवरोध आयेगा। आज का मानवीय जीवन उतना शान्त, स्थूल एवं संतुलित नहीं रहा है। समग्र जीवनानुभव ही कुछ संत्रासात्मक एवं खण्डित है। आज बदली हुई समाजरचना में मनुष्य आकुलता, उलझाव, अशांति, संत्रास, पीडा और अनिश्चितता तथा क्षणवाद के एहसास से आक्रांत है। कुछ सामान्यजनों और बच्चों में यह संत्रास की स्थिति भले ही न दीखती हो, परंतु प्रबुद्ध पाठकों में संत्रासात्मक अनुभूति अवश्य है। संत्रास बौद्धिक स्तर पर ही होता है। सिनेमा देखते या कॉफी हाऊस में बड़बड़ा करने में या ताश खेलतेसमय संत्रासात्मक अनूभुति के दर्शन तो नहीं होते। अतः आज का संत्रस्त आधुनिक सिनेमा देखतेसमय तल्लीन हो सकता है। साथ ही नाट्य के लिये तन्मयीभवन की बात कुछ सरल होती है। वहाँ कुछ अन्य बातें, अभिनय, नेपथ्य, पोशाक, संगीत आदि के व्दारा प्रेक्षक का मन दृश्य में, नाट्य में तल्लीन हो सकता है। परंतु श्रव्य काव्य के सम्बन्ध में यह प्रक्रिया कुछ भिन्न होती है। श्रव्य काव्य के आस्वाद की प्रक्रिया में पाठक की मनस्थिति, ग्रहणशीलता एवं पूर्व संस्कार की विशेष महत्ता होने के कारण उसकी तल्लीनता में कई विघ्न उपस्थित हो सकते हैं। यदि उसकी मानसिक स्थिति कुछ अस्थिर, उद्वेलित तथा विभिन्न आशंकाओं एवं समस्याओं से आकुल है, तो ध्यान-धारणादि पूर्ववर्ती कल्पनाओं को रसास्वाद में स्वीकार करना कठिन है।

तन्मय होना, ध्यानमग्नता या लीनता मनोविज्ञान में अवधान (attention) से सम्बन्धित ही है। मनुष्य का अवधान विषय में उसकी रुचि, उसकी मानसिक स्थिति और विषय के स्वरूप पर अवलंबित होता है। दृश्यात्मकता अवधान के आकर्षण का प्रधान तत्त्व है। समूह का अवधान खींचने का प्रधान माध्यम वक्तव्य, नाट्य आदि होते हैं।

काव्य के आस्वाद में तन्मय होने का एक अन्य कारण हो सकता है। कवि की ओर से या पाठक की ओर से रसाभास न हो। कोई विघ्न उपस्थित हो जाने पर तन्मयता भंग होती है। अतः तन्मयीभवन की स्थिति को नकारने से प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्य के आस्वाद के लिए पाठक और कवि का संवाद किसी हदतक होना आवश्यक है। अतः यदि पाठक काव्य में मग्न नहीं होगा तो आस्वाद सम्पन्न कैसे हो

सकेगा ? परंतु यह मग्नता या तल्लीनता कुछ देर के लिए ही टिकती है। अतः यह देखना होगा कि तन्मयता की स्थिति का समय के साथ भी कुछ सम्बन्ध हो सकता है या नहीं।

नाटक तीन घण्टोंतक देखा जाता है।जब पूरा समय तक नाटक की विभिन्न घटनाओं, प्रसंगों एवं पात्रों के अभिनयादि द्वारा प्रेक्षक उसे देखतेसमय आस्वाद करते हैं, तब उसमें एक भाव दूसरे भाव पर चला जाता है और उसके सहजविकास की प्रक्रिया में कहीं बाधा नहीं आती साथ ही तीन घण्टों में कहीं विवेकपूर्ण ज्ञान नहीं होता। अतः वहाँतक तन्मय होने के लिए काल की कुछ सीमा नहीं होती। एकांकी के सन्दर्भ में भी वही बात होती है। नाटक और एकांकी में कोई एक संघर्ष, आदर्श संगति, या संगठन उत्पन्न होता है। वहाँ अभिनय, पात्रों के चरित्रविशेष, नेपथ्य, पार्श्वसंगीत आदि कई बातों से तन्मयता पूरे तीन घण्टोंतक बनी रह सकती है। क्योंकि पूरे नाटक में इन सभी बातों के कारण जो संगठन बनता है, वही वस्तुतः औचित्य होता है।

महाकाव्य में रसास्वाद की स्थिति नाटक से भिन्न होती है। दृश्यात्मकता के अभाव के कारण ही उस बृहद् काव्य में तन्मयता आना कठिन होता है। महाकाव्य एक दफा बैठे ही पढ़ा नहीं जा सकता। अतः पाठक को जिस प्रकार के तन्मयीभवन की आवश्यकता होती है, वैसी नहीं प्राप्त हो सकती। उसकी मनस्थिति में परिवर्तन भी हो सकता है और आस्वाद में कुछ खण्डितता आ जानेकी सम्भावना होती है। साथ ही यह सम्भव नहीं कि लेखक भी महाकाव्य एक बैठक में लिख सकें। उसके द्वारा अनेक स्थितियों में और अनेक समयों पर वह लिखा जाता है। लेखक उसके लिखने में कितने दिन लगाता है, पाठक कितने दिनोंतक पढ़ता रहता है, उस समय उसकी मनस्थिति कैसे रहती है। आदि बातें उसमें आ जाती है। अतः वहाँ तन्मयता उत्पन्न होना कठिन हो जाता है। साथ ही प्रबन्धकाव्य में प्रसंगों या घटनाओं के वर्णन से कभी-कभी इतिवृत्तात्मकता उत्पन्न होती है ऐसे स्थलों पर पाठक का तन्मय होना सम्भव नहीं। इन लम्बे वर्णनों को संकेतात्मक ढंग और भावात्मकता में ढाल देने पर तन्मयता आ सकती है।

किसी मुक्तक या गीत के पठन में पाठक तन्मयता का अनुभव करता है, पर वहाँ भी काल की सीमा रहती है। गीत की भावभंगी में पाठक का मन अवश्य ही लगता है। यह तन्मयता कुछ ही देर रहती है और तुरन्त भंग होती है। उसमें होनेवाली सूचकता, संकेतात्मकता और ध्वन्यात्मकता के कारण चमत्कार उत्पन्न होता है और वही वहाँ प्रधान बन जाता है। मुक्त काव्य में व्यंजनादि के द्वारा कवि की अनुभूति को व्यंजित किया जाता है; अतः वहाँ विभावानुभाव का अस्तित्व नहीं रहता। फिर रस-विभोरता कैसे उत्पन्न होगी ? फिर भी उसकी भावभंगिमा के कारण रस के छींटे उठते हैं, चमत्कार उत्पन्न होता है पर तन्मयता की वह स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। रस की स्थिति अनिवार्यतः डूब जाने की स्थिति है और आस्वाद के समय किसी बात

को अनुकूलता से ग्रहण करना एवं मन में विरोध उत्पन्न न होना, रस में डूब जानेकी स्थिति है। यह स्थिति आज मुक्तक में उत्पन्न नहीं हो सकती। उसमें केवल रस के छीटों का अनुभव आता है। मुक्तक काव्य में व्यंजना द्वारा अर्थबोध की जो प्रक्रिया घटित होती है, उसमें से स्वयंपूर्ण अर्थ तो निकल आता है, पाठक चमत्कृत हो जाता है और उसे बौद्धिक संतोष भी होता है। मुक्तकों में भावभंगिमा का चित्रण होने से पाठक रसविभोरावस्था तक तो नहीं पहुँच पाता पर रस का अनुभव कुछ सीमातक कर सकता है; अतः उसे रसानुभूति की अपेक्षा काव्यानुभूति कहना उचित होगा।

काव्येतर साहित्य-रचनाओं के संदर्भ में भी आनंद का प्रश्न उठता है। काव्येतर विधाओं में तथ्यात्मकता अधिक होती हैं। कहानी, नाटक, उपन्यास आदि में रागात्मकता के साथ चरित्र या समस्या की प्रधानता रहती है। ऐसे स्थल पर आवश्यक नहीं कि भावपूर्णता से युक्त ही कहानी लिखी जाय। नयी कहानियों में जीवन के किसी क्षण का, मनुष्य के आधुनिक भावबोध का चित्र अंकित किया जाता है। नयी कहानी की संवेदना आमूलाग्र बदल चुकी है। ऐसे समय भावपूर्ण कहानी के सम्बन्ध में आधुनिक समीक्षक **राजेन्द्र यादव** का वक्तव्य द्रष्टव्य है। दया, करुणा आदि से आरम्भ होकर रहस्य, उत्सुकता, ईर्ष्यादि दीवारों पर चढती हुई, समर्पण, प्यार, आत्मदान, सहिष्णुता आदि के द्वारा अंत में वात्सल्य में परिणत होकर पाठक के दिल को चीरनेवाली भावपूर्ण कहानी की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं, "लेकिन आँसू थमने पर पाठक के मन में एक सवाल कहीं उठता है कि नवरसों की यह सारी-की-सारी नुमाइश और सारे संचारी व्यभिचारी भावों की लेफ्ट-राइट आखिर कौनसा ऐसा सामाजिक या मनोवैज्ञानिक तथ्य सामने रखती है जिसे लेखिका ने विशेष रूप से अनुभव किया है?"[1] स्पष्ट है कि आधुनिक पाठक तथा आलोचक की भी दृष्टि बदलती जा रही है। आँसू और हास्यभरी भावनाओं के उद्वेलन के अतिरिक्त कुछ नया हम चाहते हैं, वह है नूतन भावबोध। उससे हमें तृप्ति मिलती है। वह काव्य या साहित्य पढने पर हम कह उठते हैं। 'वाहऽ खूब!' और कुछ समय तक बेचैन, विचलित, खोये से भी हो जाते हैं।

रस काव्यनिष्ठ नहीं व्यक्तिनिष्ठ अर्थात् पाठकनिष्ठ अधिक होता है अतः रसास्वाद वास्तविक ग्राहक पाठक ही होता है। उसके व्यक्तित्व, आयु, संस्कार आदि का सम्बन्ध रसास्वाद में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है, जिसकी चर्चा साधारणीकरण और रसाभास के संदर्भ में की गई है। परंतु काव्य से प्राप्त आनंद का परीक्षण करते हुए उसका विचार फिर करना आवश्यक है।

काव्य का पाठक कई प्रकार की चेतनाओं या संवेदनाओं (sensibilities) से युक्त होता है। यद्यपि उसमें भाव मूलतः ही होते हैं परंतु भावोन्मेष के प्रेरक

१. कहानी – स्वरूप और संवेदना, पृ. २२४

(stimulus) जीवनस्थितियों के अनुसार बदलते रहे हैं। मनुष्य की संवेदना भी हर समय, हर काल में एक जैसी नहीं हो सकती; उसकी आयु, परिवेश, स्थिति तथा संस्कार के अनुसार उसकी संवेदनाओं में अंतर आता है। पुराने काल के पाठक-आस्वादक और आज के आस्वादक की संवेदनाओं में अवश्य ही अंतर है। अतः जिस एक बात से पुराने पाठक को आनंद मिलता था, वह आज के पाठक को नापसंद भी हो सकती है। भक्ति रस में तल्लीन होनेवाले भक्तगण आज के वैज्ञानिक युग में कितने मिलेंगे ? और कुछ मिलेंगे भी तो क्या उनकी संवेदना पुरानी ही होगी, सामयिक नहीं ? समाज में मानव की परिवेशगत स्थितियाँ, जीवन के आदर्श, सामाजिक मानदण्ड, रुचि आदि में वैज्ञानिक युग में अत्यधिक गतिशीलता से परिवर्तन आता गया है। उससे पुराने और आधुनिक मानव की रुचि, विचारशक्ति, संस्कार, व्यक्तित्व एवं संवेदना में पर्याप्त अंतर आ गया है। ऐसी स्थिति में एक ही बात से या साहित्यकृति से सबको समान रूप से आनंदप्राप्ति होती है या होनी चाहिए इस विचार को मान्य करने में कठिनाई उपस्थित होती है।

समाज में यह देखा जाता है कि आनंद व्यक्तिसापेक्ष है। एक को जिस बात से आनन्द आता है, दूसरे को उससे नहीं आता, बल्कि किसी भिन्न बात से या स्थिति से आनन्द आता है। आनन्द होना या न होना या आनन्द की कोटि भी व्यक्ति की मनस्थिति, रुचि और पूर्वग्रह, पूर्वानुभव तथा परिस्थिति पर अवलंबित होती है। अतः किसी एक कलाकृति या साहित्यकृति से सब पाठकों, आस्वादकों को समान रूप से आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति की मनस्थिति जैसी होती है, उसी प्रकार का अनुभव उसे होता है। मानसिक स्थिति भी परिस्थिति के अनुसार बदलती है और परिस्थितियाँ समाजजीवन के परिवर्तन के साथ बदलती हैं। अतः मानव के आनन्द के विषय भी बदलते हैं। बदलती मनस्थिति के कारण एक ही काव्यकृति का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है। फिर कवि भिन्न-भिन्न पाठकों से एक-सी प्रतिक्रिया की अपेक्षा कैसे कर सकता है ? यही बात रसास्वाद के आनन्द तत्त्व में ढाल दी गई है। उसमें अनुकूल प्रभाव को गृहीत मानकर सभी पाठकों पर एक ही प्रकार का अनुकूल प्रभाव अपेक्षित है।

कीट्स् के विषय में उदाहरण देते हुए **डॉ. रामविलास शर्मा** ने इसी प्रकार की बात कही है। "कीट्स् ने अपने एक पत्र में लिखा था कि अपनी नवयुवावस्था में इग्लैंड के कुछ छोटे–मोटे कवियों को वह पसन्द करता था, आगे शेक्सपीयर खूब पसन्द आने लगा, क्या एक दिन ऐसा भी आयेगा कि शेक्सपीयर भी पसन्द न आये ?"[1]

१. साहित्य और संस्कृति, पृ. १८८

व्यक्ति के आनन्द की मनस्थितिसापेक्षता को ध्यान में लेने पर आनन्द को काव्य का स्थिर मानदण्ड और रस की चरम परिणति मानना सहजसंभव नहीं होता। ऐसा निश्चिततः नहीं कहा जा सकता कि किसी विव्हल व्यक्ति को शाकुन्तल या रामायण सुनाया जाय तो उसकी विव्हल परिस्थिति दूर होगी। यदि आनन्द ही साहित्य की अंतिम परिणति है तो इस व्यक्ति की मनस्थिति विपरीत होने पर भी उसे आनन्द आना चाहिए। समकालीन युगबोध और जीवनगत प्राप्त संवेदनाओं के परिप्रेक्ष्य में रसास्वाद को रखने के कारण इस तत्त्व का निर्वाह होना कठिन होता है। समकालीन या पूर्वयुगीन परिप्रेक्ष्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की ओर ध्यान न देते हुए अनुकूल आस्वाद ही रसास्वाद में ग्राह्य होने के कारण यह समस्या आज उत्पन्न होती है।

पुरानी संवेदना रखनेवाले पाठक नवीन काव्य पढ़ते हैं तो उसमें आनन्द नहीं पाते। इसका कारण भी उपर्युक्त विवेचन में मिलता है। आज के युग की स्थिति, जीवनभोग और संत्रासात्मक अनुभवों को जब कवि काव्य द्वारा व्यक्त करता है; तब उसे पढ़ने पर आज का पाठक उसमें रस का अनुभव न करने पर भी "वाह ऽ खूब" कहता है। यहाँ काव्यास्वाद में उसकी अनुकूल स्वीकृति होते हुए भी उसके मन को आनन्दानुभूति नहीं होती। आधुनिक संवेदनावाला पाठक एकाध रसमय काव्य पढ़ता है तो वहाँ रसास्वाद करता है। फिर भी आवश्यक नहीं कि उसमें आनन्द की अनुभूति ही होगी। इसका कारण है कि पाठक की काव्यास्वाद की दृष्टि, आलोचना के दृष्टिकोण एवं संवेदना में मनःस्थिति का अंतर होता है।

पाठक की बदलती अभिरुचि एवं संवेदना की प्रतीति जनकाव्य और कलाकाव्य में होती है। जनकाव्य या लोककाव्य की विशेषता बताते हुए **डॉ. सुधांशु** लिखते हैं, "ग्रामगीतों में मानवजीवन के प्राथमिक चित्र अंकित हैं, जो प्राथमिक हैं, कृत्रिमता से दूर हैं, जिनमें मनुष्य ने अपनी लालसा, प्रेम, घृणा, विषाद को समाजमान्य धारणाओं से ऊपर नहीं उठाया है और अपनी हृदयस्थ भावनाओं को प्रकट करने में कृत्रिम शिष्टाचार का प्रतिबंध नहीं माना है..."[१] जनकाव्य की उत्पत्ति का हेतु शुद्ध मनोरंजनात्मक एवं प्राथमिक होता है। श्रमपरिहार, त्योहारादि अवसरों पर उत्साह उमंग भरने के लिये गाये हुए इन गीतों में भावों का स्पष्ट, सुन्दर और अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण होता है। प्रकृति के अनुकरण में कोमल भावाभिव्यक्ति, उल्लास-विषाद आदि से पूर्ण मानवीय जातीयता के चित्रों में व्यक्तिगतता संपूर्णतः लोप हो जाती है। अबुद्धिवाद, जिज्ञासा, स्वच्छन्द प्रेम, तर्कहीनता ने। सारे भावों को स्वाभाविक एवं स्वैर बनाया। मानवीय मन के सहज भावों, हर्ष-विषाद, संयोग-वियोग, सुख-दुख, क्रोध-भय को अकृत्रिम और मुक्त वाणी मिलती है। सभ्यता एवं समाजविकास के साथ आनेवाली पद्धतियों, समाज का नियंत्रण, औपचारिकताओं, नीतिनियमों की पाबन्दियों

१. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त पृ. १३४

और कृत्रिम व्यवहारों (sofisticated manners) का अभाव होने के कारण सामूहिक संस्कार लोकगीतों के द्वारा (मुक्त रूप से) प्रस्फुटित होते हैं। अतः वहाँ सामूहिक भावों की इकाई के कारण रसात्मक अनुभव प्राप्त होता है और जनसामान्य को आल्हाद एवं प्रसन्नता होती है।

समूहमनोविज्ञान के तत्त्व के आधार पर कहना हो तो समूह की अभिरुचि' विश्लेषण क्षमता, विवेकशक्ति निम्न स्तर पर पहुँचती है। फलतः ऐसी स्थिति में सामूहिक आनन्द की स्थिति प्राप्त हो सकती है और वही लोककाव्य-लोकगीतों के द्वारा श्रोता या पाठक को अनुभव हो सकती है।

कलाकाव्य (high class poetry) में समूहगत भावों के स्थान पर कवि की व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। उच्चकाव्य जनकाव्य से विकसित, संस्कृत और परिष्कृत स्थिति में बनने के कारण उसमें पौरुष संस्कारबद्धता, बौद्धिकता एवं तार्किकता आ जाती है। "इस प्रकार लोकगीत कलाकाव्य में विकसित होने से काव्यगत प्रक्रिया के समग्र स्वरूप एवं कार्य में परिवर्तन आता है। कार्य और क्रीडा में उत्स्फूर्त चेतना से युक्त और स्त्रीत्व से परिपूर्ण प्रेरणा थी, वह अब इस चेतनात्मक कला-काव्य में प्रयत्नपूर्वक सर्जना बनी जिसमें पौरुषमयता प्रधान है।"[1]

बदलते सामाजिक संदर्भ से उच्चवर्णीय कलाकाव्य ने अपना अलग रूप प्राप्त किया परंतु वह भी कालप्रवाह में बदलता हुआ दिखायी देता है। कलाकाव्य में कवि की बदली संवेदना ने, संस्कारयुक्त चेतना और बौद्धिकता ने गहनतम भाव-बोधाभिव्यक्ति पायी। ऐसी स्थिति में कलाकाव्य के आस्वादक का भी बदलती संवेदना से युक्त होना स्वाभावित है। जनसामान्य के आस्वाद से उसका आस्वाद भिन्न एवं व्यक्तिगत होता है। यदि वह अर्थ की तहतक पहुँचता है तो उसे बौद्धिक संतोष, और जीवनबोध के एहसास की कुछ प्राप्ति तो उसे अवश्य होती है। जिसमें संस्कार और संवेदनाएँ कम या निम्न स्तर की हैं, वह आस्वादक बौद्धिक संतोष नहीं पा सकेगा, जैसे जनकाव्य का आस्वाद भी जनसामान्य जिस रूप में करता है, उस रूप में शिक्षित व्यक्ति नहीं कर सकता। अर्थात् यहाँ सामाजिक (आस्वादक) की संवेदना का प्रश्न ही मुख्यता रखता है।

१. Thus will be development of the folk poetry into art poetry, the whole nature and function of poetic activity undergoes a change, what begins as a spontaneous accompaniment to work or play largely feminine in inspiration, develop into deliberate product of a conscious art, predominently masculine in origin.

—Literature and Society, Davis Daiches, P. 26.

फिर क्या आनन्द की दो कोटियाँ मानी जायें ? फिर तो सामाजिक या सामूहिक आनंद और व्यक्तिगत आनंद ऐसे दो स्तरों पर आनंद को विभाजित करना पडेगा।

आलोचना की बदली हुई पद्धतियों ने पाठक के साथ कवि को भी प्रभावित किया है। वैज्ञानिक पद्धति, व्यावहारिक आलोचना और मनोविश्लेषणात्मक आलोचना ने रसमयता की अपेक्षा चरित्रगठन और समस्या पर अधिक बल दिया है। मानव-जीवन के आदर्श चित्रणों और कल्पनाजन्य वर्णनों की अपेक्षा स्वाभाविक वास्तव सत्य ढूँढनेकी प्रवृत्ति विशेष जगी है। अतः आज के कवि ने काव्यबोध पाने के लिये सारी पुरानी परतों को हटाकर तथा तमाम बाह्य आवरणों से शून्य बनकर व्यक्ति के चारों ओर महाशून्य को देखा।परम्परा के आवरणों से रहित नग्न सत्य के दर्शन कराने में वह जुटा है। पुराने कवियों की तरह आज का कवि भावुकता का शिकार नहीं बनता, बल्कि उसकी नवीन चेतना ने शरीर को रोमांचित करनेवाली भावुकता के स्थान पर बुद्धि को झकझोरनेवाले अनुभवों को अभिव्यक्ति देना उचित माना।

कवि अपनी अनुभूति को सर्जनात्मक कल्पना का रूप देकर पाठक के सम्मुख उपस्थित करता है। उसका अनुभव काव्य के द्वारा व्यक्त होकर पाठक को प्रतीत होता है परंतु कवि की अनुभूति स्वतंत्र नहीं, भावना, विचार और संवेदना ये उसके तीन रंग हैं, वह इन तीनों की इकाई है। भावना उसका एक अंग है, विचार और संवेदना भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। रसवाद ने भावना को तो महत्ता दी पर संवेदना और विचार का क्या होगा ? संवेदना ही भावनानिर्मिति करती है, पर उससे उत्पन्न होकर भी भावना को संवेदना से अलग करना पड़ता है। संवेदना केवल भावना नहीं, विचार से भी जुड़ी रहती हैं। रसवाद में बुद्धितत्त्व को स्थान न देने के कारण यह कठिनाई उपस्थित होती है।

अनुभव सामाजिक हो या स्वानुभूत मानसिक क्षमताओं और युगीन आदर्शों के अनुरूप तथा समय की प्रामाणिकता से संबद्ध होकर कवि परिवेशगत कुछ अनुभव-विशेष ही प्राथमिकता रखते हैं और संप्रेषणीय बन जाते हैं। मन पर होनेवाले संस्कारों का अर्थ ग्रहण कर लेने के कविमन के प्रयास से 'अनुभव' बनता जाता है अतः कलाकार का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रूप से कलाकृति में अभिव्यक्त होता है। दुनिया का ऐसा कौनसा कलाकार है, जो उसके चारों ओर के परिवेश एवं जीवनस्थिति से किसी–न–किसी अंश में जुड़ा हुआ नहीं है ? अपने परिवेश से जुड़े रहने में केवल अनुकूलन एवं अनुसरण ही नहीं होता बल्कि वितृष्णा, त्याग, स्वीकार, तटस्थता, जिज्ञासा, अनास्था, घुटन, ऊब, अलगाव, संतुष्टि–असंतुष्टि, टूटने या जुड़ने की अनुभूति आदि कई प्रकार की चेतनाओं का अस्तित्व वह पाता है और अपनी अनभूतियों और स्मृतियों में तात्कालिक संवेदनाओं को वह सजाता है। साहित्य का मूल रूप उसका 'अनुभव' है जो परिवेशगत संस्कारों से ग्रहण किया जानेके कारण आज अत्यंत जटिल बनता जा रहा है।

आज परिवेशगत स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में पुराने नाते-रिश्ते, मानवीय आपसी सम्बन्ध आदि के नाम यद्यपि वे ही हैं, पर उनमें अब वे संकेत या संवेदनाएँ शेष नहीं हैं, जो पुराने काल में जिस अर्थ में रूढ थीं। नई स्थिति और नई वास्तविकता के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के बीच कुछ नया सम्बन्ध जन्म ले रहा है। नये सम्बन्ध बदले, पुरानी रूढियाँ और मर्यादाएँ पुरानी पड़ गईं और पुरानी सामन्तवादी परम्परा के विरोध में नयी संवेदना एवं चेतना जाग्रत हुई। कवि में जगी हुये नयी संवेदनाएँ उसके द्वारा वर्तमान जगत्-जीवन की अभिव्यक्ति कराती हैं। जो उसने भोगा हुआ है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह आकुल है। समकालिक त्रासात्मक अनभूति, क्षोभ, संत्रास, पीडा, घुटन, उद्वेग, ऊब, उसे ढंग से व्यक्त करनी पडती है। इस संवेदना में भावात्मकता कम और बुद्धितत्त्व अधिक है। इस प्रकार नयी अनुभूति को नये रूप में व्यक्त करने से ही वह प्रभावी बन सकती है। तब त्रास या घुटन की अनुभूति से भला वह आनन्द कैसे उत्पन्न कर सकता है? आज के कवि के लिए 'शाश्वत' 'चिर' 'आदर्श' जैसे कविता के हेतु नहीं रहे। स्वस्थ-अस्वस्थ, संतुलित-असंतुलित, क्षणभर की अनुभूतियाँ काव्य में अभिव्यक्ति पाना चाहती हैं। कवि रस की योजना के लिए बैठा नहीं रहता। आज वह द्रष्टा या स्रष्टा की अपेक्षा उपभोक्ता की भूमिका निभाता हुआ भोगे हुए को यथार्थ अभिव्यक्त करता है। इस गतिधर्मी युग में अणुमात्र से ही वह संतुष्ट है। बौद्धिकता के प्रश्रय से युक्त और विज्ञानवाद से परिपूर्ण समाजजीवन की सापेक्षता में साहित्य को आनन्द एवं रसबोधतक सीमित रखना असंभव हुआ है। आज के काव्य के बौद्धिक प्रतीक और उपमानादि रसबोध की अपेक्षा चमत्कार उत्पन्न करते हैं।

प्राचीन काल के साहित्यकार से आज के साहित्यकार की बदली हुई संवेदना का नया रूप एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। शाकुन्तल में दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा में दुष्यन्त को विस्मरण होना, शकुन्तला की वन्चना करना आदि काव्यप्रसंगों पर अंगूठी गुम होने और अभिशाप जैसी बातों का आयोजन कवि कालिदास को करना पडा। तत्कालीन समाज में राजा के विपरीत बात करना संभव नहीं था। अतः इन प्रसंगों के साथ बाँधी गई बातों एवं प्रसंगगत योजनाओं में कालिदासकालीन कवि संवेदना का स्पष्ट रूप झलक पडता है। राजा के आदर्श चरित्र की उच्चता एवं गरिमा निभाने का प्रयास गुप्तकालीन संवेदना की फलश्रुति है। आज का कवि या साहित्यकार नयी संवेदना से युक्त व्यक्तिवादी यथार्थपरक दृष्टि रखने के कारण ऐसे स्थलों पर कुछ अन्य योजना करने की अपेक्षा दुष्यन्त की पुरुषवृत्ति पर सीधा प्रहार करेगा और यथार्थपरकता से उसके चरित्र का अंकन करेगा। आदर्श की रक्षा का प्रयास प्राचीन संवेदना थी पर आज का संवेदनाशील साहित्यकार उसे नहीं मानता।

आज का साहित्यकार पाठक से इस प्रकार की आशा भी नहीं रखता कि पाठक उसकी अभिव्यक्त अनुभूति को अनुकूलता से पढ़ें और वह जो कुछ लिखेगा,

पाठक सर्वथा उससे सहमत हो। रसास्वाद की आनन्दमयता में पाठक का अनुकूल आस्वाद ग्राह्य है, प्रतिकूल नहीं। पर आवश्यक नहीं कि कवि जो कुछ लिखता है उससे सब पाठक सहमत ही हों। असम्मति के कारण आनन्द की आशा नहीं की जा सकती। आज कवि समकालिक वास्तव के यथार्थ अंकन में प्रयत्नशील है, जिसमें भद्दापन एवं नग्नता का भी दर्शन हो सकता है।

कवि की संवेदना में परिवर्तन आने के कारण काव्य की प्रवृत्ति आज बिलकुल बदल चुकी है। कविता द्वारा केवल रसोद्रेक करने के बदले प्रभाव डालना कवि का उद्देश्य है। युगमानस ने कवि और काव्य को प्रभावित किया है। अतः परम्परागत विभावानुभावादि सामग्री से युक्त तथा भावात्मक एकता पर आधारित किसी रस को इसमें ढूँढना असम्भव हो गया है। कई सम्मिश्र एवं उलझे हुए भाव-बोधों को बौद्धिक स्तर पर अभिव्यक्ति देकर पाठक को उद्वेलित करने की सामर्थ्य कवि की प्रतिमा रखती है। उत्साह, घृणा, तीखा व्यंग्य, आक्रोश आदि कतिपय भावखण्ड उसमें अंकित हैं। पर साथ ही इस नये जीवन की नयी वास्तविकता को, नये सत्य को नये रूप में अभिव्यक्ति मिलने के कारण उसमें आनन्द के बजाय घृणा, संत्रास, कुंठा आदि सब कुछ है। इसमें वैयक्तिक प्रतीकों एवं मानसिक विकृतियों तक ने अभिव्यक्ति पायी है। उदाहरण के रूप में नये काव्य की कुछ पंक्तियों को दिया जा सकता है।

काव्य में 'भय' का अंकन तो आज भी होता है परंतु आज के कवि को प्रतीत होनेवाला भय भूतपिशाच का या राक्षस का नहीं। मानवजीवन की वर्तमान आकुल स्थिति में प्रतीत होनेवाली भयावह चेतना को वाणी देते हुए कवि को नये-पुराने प्रतीकों और बिम्बों की योजना करनी पडती है। अन्तरतम का घोर अन्धःकार, कुहासा, घुटन, आत्मपीडन, छटपटाहट, घबराहट, आतंक, अकेलापन, मृत्यु की आशंका ये सारी नयी संवेदनाएँ भूत प्रेत, देव-दानव, भूतहे मकान, तहखाने, खण्डहर भैरव, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, भूतों का जुलूस आदि बिम्बों के द्वारा व्यक्त हुई हैं। कुछ पंक्तियाँ यों हैं—

वावडी की उन घनी गहराइयों में शून्य
ब्रह्मराक्षस एक बैठा है,
व भीतर से उमडती गूँज की भी गूँज
बड़बड़ाहट शब्द पागल से
गहन अनुमानिता
तन की मलिनता
दूर करने के लिए प्रतिपल
पाप-छाया दूर करने के लिए, दिन-रात
स्वच्छ करने—

ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है देह
हाथ के पंजे, बराबर
वाह-छाती-मुँह छपाछप
खूब करते साफ,
... ...
वावडी को घेर
डाले खूब उलझी हैं
खडे हैं मौन औदुम्बर
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोसले
परित्यक्त, भूरे, गोल..[1]

कवि-मन की भयावहतापूर्ण चेतना इसमें व्यक्त हुई है। उपर्युक्त और ऐसी अन्य कविताओं में भावविभावों के ढाँचे पर रचे गये भयानक रस को खोजना असम्भव है परंतु मानवजीवन की संकुल, सम्मिश्र, अनभुतियों, अंतरतम में छिपे भावखण्डों एवं अंतरदशाओं का अन्वेषण कर उनको नूतन प्रतीकों तथा बिम्बों द्वारा कवि ने अभिव्यक्ति दी है। इसे पढ़नेवाला पाठक अर्थात् वह एक वर्गविशेष जो समकालिक युगबोधों से अभिज्ञ और संवेदनाओं से युक्त है, उन भावखण्डों और विचारवीचियों की सूक्ष्मता से अवश्य ही आन्दोलित होगा। इसे पढ़कर किसी अलौकिक, ब्रह्मानन्द-सहोदर आनन्द की प्राप्ति के स्थान पर जीवन के भाव सत्य का कलात्मक स्तर पर दर्शन होगा और पाठक को काव्यानभुति अवश्य ही होगी।

आज क्रोध का स्वरूप भी राक्षसादि में प्रकट होकर रौद्र में परिवर्तित नहीं होता। मानसिक क्षोभ, निराशा, छटपटाहट, तीव्र नापसन्दगी, वितृष्णा, असंतोष और आक्रोश से नयी संवेदना प्लावित है। व्यक्ति-व्यक्ति से क्रुद्ध है और समकालिक वातावरण से भी। व्यक्तिगत कुंठा और क्षोभ के विभिन्न कारण राजनीतिक स्थिति, सामाजिक आडम्बर और खोखली समाजव्यवस्था में हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् प्राप्त स्थिति, राजनीतिक दुराचार एवं दुरवस्था ने स्वप्नभंग से प्रताडित नवयुवकों में आक्रोश, मानसिक बेचैनी, घुमडन, घुटन, व्यथा और आकुलता को जगाया। यह क्षोभ, छटपटाहट और घुटन कभी आक्रोश द्वारा तो कभी कठोर व्यंग द्वारा व्यक्त होने लगी। कहीं-कहीं व्यंग इतने कठोर हो जाते हैं कि चोट करते हैं। तारसप्तक की 'पूंजीवाद के प्रति' कविता में पूंजीवाद से घृणा, क्रोध और व्यंग की प्रतिक्रियाएँ एक साथ व्यक्त हुई हैं।

१. चाँद का मुँह टेढ़ा है। (पृ. ११)

उसे पढ़कर न रसानुभूति होती है और न आनन्द भी। पूंजीवाद से पीडित समाज-जीवन के कठोर सत्य के दर्शन पाठक करता है।

अज्ञेय ने 'घृणा का गान' गाते हुए लिखा है,

सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान
... ...
तुम सत्ताधारी, मानवता के शव पर आसीन
जीवन के चिररिपु, विकास के प्रतिद्वंद्वी प्राचीन,
तुम स्मशान के देव! सुनो यह रणभेरी की तान
आज तुम्हें ललकार दूँ, सुनो घृणा का गान[1]

इसमें मानसिक घृणा के साथ आवेश और उग्रता है, क्षोभ है और व्यंग्य भी। ये पंक्तियाँ पाठक को भावस्पर्श करके उद्वेलित करने की क्षमता रखती हैं।

करुण रस के चित्रण में वैयक्तिक शोकादि के वर्णन आज प्राप्य नहीं हैं। उसके स्थान पर समष्टिगत चेतना में व्यक्त होनेवाली पीडा, संत्रास, अवसाद है और व्यक्तिगत पीडा, वेदना, कुंठा, निराशा, क्षणवाद, सूनापन आदि भावखण्डों ने अभिव्यक्ति पायी है।

डॉ. माचवे की कविता 'भूख और भूखों की कैसी दिवाली' में सामाजिक सन्दर्भ में शोक की अभिव्यक्ति है,

खेत में निर्वस्त्र
दुर्भिक्षावसत्र
खड़ा अप्रसन्न
सृजक-कृषक जिसका है
थाल आज खाली।
उन को तम-तोम
... ...
कृष्णक्षितिज व्योम,
प्रज्वलित 'रोम'
कलाकार नीरो
क्यों छेडते भूपाली!

शोक के अतिरिक्त सहानुभुति, उदासी, निराशा और पीडा व्यंग्य के साथ उभरकर आती हैं। ऐसी काव्यकृति से क्या रस और आनन्द की आशा की जा सकती है!

१. इत्यलम्, पृ. ५२

क्षण की अनुभति रसविभोर होने की स्थिति उत्पन्न नहीं करती। क्षणभर के लिए अनुभव उत्पन्न होता है और मिट जाता है, फिर अन्य भाव का अनुभव होता है। अतः विभिन्न भावों और भाव-बोधों का क्षणिक संस्पर्शात्मक अनुभव आनन्द नहीं दे सकता बल्कि जीवन के किसी पहलू का साक्षात्कार करा सकता है। रागात्मक एकता में व्यक्तिगतता और बौद्धिकता के कारण बाधा उत्पन्न होती है। भौतिकतावादी दृष्टि रागात्मकता से सम्बन्ध विच्छेद देती है। मस्तिष्क और हृदय के विचारतत्त्व और भावतत्त्व को लेकर आलोचकों में पर्याप्त मतभेद रहा। पर प्रगतिवादी आलोचक **रांगेय राघव** ने समन्वयात्मक मार्ग अपनाकर दोनों एक ही मस्तिष्क की शक्तियाँ होने के कारण उनमें द्वैत नहीं बल्कि एकत्व माना है।

साहित्य में व्यक्त होनेवाला 'अनुभव' एक नवनिर्माण है, जो प्रतीकों (symbols) एवं प्रतिमाओं के द्वारा साकार होता है। अतः आनन्द को काव्यास्वाद या रसास्वाद का स्थिर मानदण्ड मानना असंभव है रसास्वादात्मक आनन्द को साहित्य का एकमात्र मानदण्ड मानना कुछ आलोचक गलत प्रमाणित करते हैं।[1]

पुराने साहित्यकार का उद्देश्य रसमय काव्य लिखकर पाठकों को आनंद देना था। अत: कल्पनाओं की उडानों तथा लम्बे वर्णनों के आधार पर कलाकृति के आदर्शात्मक निर्वाह से पाठक को आनंद देने में वह प्रयत्नशील था। आज के साहित्यिक का उद्देश्य रसमय काव्य लिखना नहीं है, उसकी संवेदना ने चारित्र्यगठन और समस्यामूलक लेखन की ओर विशेष मोड़ लिया है। ऐसी स्थिति में समाजपरक आदर्श से हटकर यथार्थ होना स्वाभाविक है।

समाजविकास के प्रवाह में जो-जो विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न होती रहीं, उनके फलस्वरूप कई प्रकार की समस्याएँ उभरकर आती रहीं, बदलती रहीं और साहित्य को प्रभावित करती रहीं। बालविवाह, विधवा की स्थिति, शराबखोरी, दहेज–प्रथा, प्रेमविवाह, यंत्रयुग से उत्पन्न समस्याएँ, यौनसम्बन्ध और विभक्त परिवार आदि कई समस्याएँ समाज में उभरकर आईं, जिन्होंने नवलेखक को आकर्षित किया। नवलेखकों की संवेदना ने उन्हें अनुभूत कर समस्यामूलक नाटकों, काव्यों, कहानियों द्वारा व्यक्त किया। 'समस्याप्रधानता' के कारण पाठकों की रसास्वाद की स्थिति में अन्तर आ गया। समस्याप्रधान नाटक, उपन्यास या चरित्रप्रधान काव्य में कहीं इच–बीच में रसमय स्थल उपस्थित होते हैं, रसनिर्मिति होती है पर वहाँ सम्पूर्णतः रस की अवस्थिति नहीं रहती और वैसी पाठक की प्रत्याशा भी नहीं होती। समस्या ही उस साहित्य का केन्द्रबिंदु है।वहाँ रसनिष्पत्ति लेखक का उद्देश्य नहीं, अतः रसपरिपोष की अपेक्षा समस्या पर तीखा प्रहार करके उससे विह्वलता जगाने का प्रयास लेखक करता है।परिणाम स्वरूप पाठक को उससे अन्ततः आनंदप्राप्ति नहीं होती बल्कि उस समस्याविशेष के दिग्दर्शन

१. कल्पना, जुलाई १९६५, रसास्वाद : नयी कविता : मूल्यांकन

से वह कभी विचलित होता है, बार-बार सोचने लगता है, विचारमग्न हो जाता है। जीवन के सत्य का एहसास उसके मन में जगता है। ऐसी रचना में समस्या, उसके विकास, संघर्ष या हल की ओर लेखक प्रयत्नशील होता है और पाठक की उत्सुकता भी उसी दिशा में बनी रहती है। यदि ऐसी स्थिति में पाठक केवल आनंद पाकर रह जाय, विभिन्न रसों का आस्वाद करे तो समस्या का क्या होगा ? 'आधे अधूरे' नाटक देखते समय प्रेक्षकों को नाटक के अन्तर्गत प्रसंगों में कहीं किसी रस का कुछ मात्रा में अनुभव आता है पर रसात्मक अनुभूति उसमें अंतिम हेतु न होने के कारण मूल समस्या पर लेखक बल देता है। वहाँ समस्या विकसित होती जाती है, रस अपने आप तिरोहित हो जाता है। पाठक समस्या की ओर आकर्षित होते हैं तथा उद्विग्नता, जीवन के सत्य का एहसास, और वास्तविकता के दर्शन कुछ विचलित होकर बाहर पडता है और कहता है 'वाहऽ खूब'। यहाँ 'वाहऽ खूब' कहने में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं है। बौद्धिक चेतना से युक्त इन समस्याप्रधान नाटकों में उस स्तर पर रसानुभूति नहीं हो सकती परंतु काव्यानुभूति या साहित्यानुभूति अवश्य ही होती है। यहाँ चरित्र, प्रसंग वर्णन बँधे हुए रास्ते से नहीं जाते, विभावादि की उपस्थिति नहीं भी रहती अतः भावात्मक स्तर पर रसानुभूति भले ही न हो, पर विचारों का उद्रेक अवश्य ही होता है।

समाज की बदलती संवेदनाएँ, कवि तथा पाठक के व्यक्तित्व की विशेषताएँ सामाजिक एवं सांस्कृतिक विभिन्नताएँ तथा बुद्धितत्त्व इन सारी बातों की ओर आनन्दवाद की स्थापना में ध्यान न देने के कारण उसमें अपूर्णत्व प्रतीत होता है। इस अपूर्णत्व के लिए भरतकालीन धर्म, अर्थ और राज्य की व्यवस्था को जिम्मेदार मानते हुए एक आलोचक कठोरतापूर्वक से लिखते हैं,'धर्म और राज्य का तथा समाज के सबल वर्गों का स्वार्थ सदा इसी में रहा है कि आम लोगों को अपने अस्तित्व के बारे में सोचने के लिए प्रस्तुत न होने दिया जाए। धार्मिक श्रद्धा और भरतमुनि के रस ने इस स्वार्थ को बड़ी ही खूबसूरती से सिद्ध किया। भरत ने काव्यविषयों को अत्यन्त परिमित एवं व्यक्तित्व को बहिष्कृत ही नहीं किया, लोकसामान्य के अन्तरंग प्रवाह को उनके देशकालगत परिस्थितियों से हटाकर राजा एवं कुलीन वर्ग की ओर मोड़ देने की स्थायी राज्य-सेवा भी की।... एकांगी होते हुए भी भरत के आनन्द को जो दिव्य अलौकिक और ब्रह्मानन्द-सहोदर घोषित किया गया, वह शायद इसीलिए कि भरत का शास्त्र अनालोच्य रहकर शाश्वत बन सके।[1]

इस मत से सहमत होना बहुत कठिन है। वस्तुतः आनन्दवाद, रस याने आनंद और रस की परम परिमिति आनन्द में ही होती है, इस प्रकार का मत भरत का अपना नहीं है। भरत ने हर्षादि कहकर रसास्वाद की स्थिति को जिह्वास्वादपरक अत्यन्त सतल

१. कल्पना, मई ६९, पृ. ७९.

एवं वस्तुपरक बताया था। नाट्य के सन्दर्भ में प्रेक्षकों के समुदाय की उपस्थिति रसास्वाद में व्यक्तिभिन्नता का अवसर कम रहता है फिरभी भरत ने एक स्थान पर स्पष्टतः उल्लेख किया है कि सब व्यक्तियों को समान रूप से एक रस का अनुभव नहीं आ सकता।

मेरे मत में आनन्द की प्रतिष्ठा, महत्ता और सारे स्वरूपनिरूपण के मूल में दार्शनिक मतप्रवाहों का आचार्यों पर होनेवाला प्रभाव ही है। आनन्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तथा उसकी उच्चतम कोटि के दिग्दर्शन के लिए आचार्यों ने कुछ शब्दविशेष प्रयुक्त किये हैं। आनन्द क लिए अलौकिक, अखण्ड, ब्रह्मानन्द–सहोदर, वेदान्तरस्पर्शशून्य, सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द, संविद्विश्रांति कहा गया है।

उपर्युक्त शब्दावली भी पूर्णतः दार्शनिक ही है। रस के आचार्यों द्वारा आनन्द का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त एक शब्द है 'अखण्ड' और अद्वैत। आनन्द को वे अखण्ड लोकोत्तर दिव्य मानते हैं–वह पूर्ण (Absolute) है। सम्पूर्ण आनन्द की स्थिति में पूर्णता का, समग्रता का संकेत है परंतु आज के वैज्ञानिक जीवन में अखण्डानुभूति का अनुभव कवि और पाठक के लिए ही दुष्कर एवं दुर्लभ है। आनन्द सम्पूर्ण होता है अर्थात् उसके टुकडे नहीं हो सकते, उसमें भिन्नत्व सम्भव नहीं। पूर्व–विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आनन्द की स्थिति व्यक्तिसापेक्ष होती है। किसी एक क्षण का आनन्द या किसी एक स्थिति में अनुभूत आनन्द तो अखण्ड हो सकता है परंतु समय, वस्तु, व्यक्ति और सन्दर्भ के बदल जानेके पश्चात् आनन्द की वह स्थिति उत्पन्न होगी जो मात्रा, गुण, कोटि तथा स्वरूप में पहले से किसी-न-किसी अंश में भिन्न ही होगी। कालिदास का मेघदूत और शाकुंतल पढ़ने पर पाठकों के अनुभव में अन्तर दिखाई देगा। रामायण में दशरथ की रानियाँ विधवा होने का वर्णन, पद्मावत में रानियों का सति हो जाने का प्रसंग, निराला की 'भारत की विधवा' कविता और विधवासमस्या पर लिखा गया ' सिंदूर की होली ' सा समस्याप्रधान नाटक, इनमें विषय सामान्यतः एक होते हुए भी पाठक का आस्वाद और काव्यानुभूति भिन्न ही होगी अतः अखण्डत्व को व्यावहारिक पृष्ठभूमिपर और समसामयिक सन्दर्भ में स्वीकार करना कठिन है। भिन्न विषय, कारण, स्थिति और व्यक्ति के अनुसार काव्यास्वाद में अवश्य ही अन्तर आता है।

रस से प्राप्त होनेवाले आनंद को उच्चत्व प्रदान करते हुए आचार्यों द्वारा अलौकिक कहा गया होता। आनंद को अलौकिक अर्थात् लौकिकता से परे माना गया। सामाजिक व्यवहार में जिस प्रकार का आनंद प्राप्त है वैसा नहीं बल्कि उससे उच्चतम कोटि का आनंद उनको अभिप्रेत था। अलौकिकत्व में उच्चता का तो बोध होता है, परंतु दार्शनिक आवरण से फिर व्यक्तिवादी भूमि पर ही आनंद स्थिर हो जाता है, अतः प्रगतिवादी समीक्षकों ने इसका विरोध किया। **डॉ. रागेय राघव** समन्वयात्मक दृष्टि अपनाते हुए लिखते हैं, "इससे उत्पन्न आनंद अलौकिक माना गया है। इस अलौकिक का अर्थ दैवी नहीं बल्कि असामान्य है जो भावों की

सुखदुःखात्मकता शांत होने पर उदित होता है।"[1] आगे चलकर वे लिखते हैं कि प्रगतिशील चिंतन यह मानता है कि आनंद संवेदना की अनुभूति है और संवेदना अपने-आपमें समान नहीं होती। वह एक सामाजिक क्रिया-प्रक्रिया है अतः व्यक्ति का यह आनंद समाज के आनंद का ही परोक्ष पर्याय है।"[2] इन शब्दों में आनंद के असामान्यत्व को तो वे स्वीकार कर लेते हैं परंतु असामान्यत्व में अंतर्भूत होनेवाला व्यक्तिपक्ष तथा आत्मपक्ष ही विवाद्य है। रस की अलौकिकता को मान्य करने पर व्यक्तित्व भिन्नता, संवेदना की परिवर्तनशीलता की बात उठती है।

रसवाद में अनुकूल संवेदनाएँ ग्रहण की गई हैं तथा पाठकों के भावों और संवेदनाओं को शाश्वत रूप में स्वीकार किया गया है। अतः आनंद की व्याख्या में आत्मपरकता आ ही जाती है। यदि भावों को शाश्वत माने तो आनंद को भी स्वीकार किया जा सकता है। अतः वहाँ अलौकिकत्व का स्वीकार है। परंतु यदि भौतिक आधार ग्रहण करें, मानव के भावों तथा संवेदनों को परिवर्तनशील मान लें तो अलौकिकत्व की मान्यता पर प्रश्नचिन्ह उपस्थित हो जाता है। क्योंकि काव्य मानव में एक प्रकार की संवेदना जगाता है, और संवेदना अपने-आप में एक ही नहीं रहती, समाज और युग की सापेक्षता में उसमें परिवर्तन आता रहता है।

अखण्डत्व और अलौकिकत्व में आत्मा की अमरता में विश्वास और आत्मिक सम्बन्ध माना गया है। इसमें जीवन जगत के प्रति के प्रति एक प्रकार की निष्ठा और श्रद्धा है। अखण्डत्व और अद्वैत की स्थिति इस विश्वास के कारण मान्य की जा सकती है। परंतु भविष्य के विषय में कहना कठिन है। आज अद्वैत की कल्पना का विघटन होता जा रहा है। रसवाद काव्य में भावना और कल्पना पर विशेष बल देता हैं। पहले काव्य में काल्पनिकता की बहुलता थी, आदर्श की स्थापना थी और अलौकिक अनुभूति पर बल था। आभिजात्य जीवन-का चित्रण तथा रसमय व्यंजना में अलौकिक आनंद की व्याख्या की गई परंतु आज काव्य लौकिक अनुभूति की ओर विशेष रूप से मुड रहा है। आज मानव व्यक्तित्व की खोज है, उलझनभरे जीवन की गुत्थियों से परिपूर्ण अनुभव साहित्य में साकार करने की आकांक्षा हैं। कवि भोगे हुए को चित्रित करना चाहता है, यथार्थ का आकर्षण है।

यथार्थ तो नित्य परिवर्तनशील रहता है अतः भावों, अनुभूतियों, संवेदनाओं और आस्वादक के व्यक्ति की परिवर्तनशीलता एवं भिन्नता को स्वीकार करने पर अलौकिकत्व को स्वीकार करना असम्भव हो जाता है। डॉ. रांगेय राघव कहते हैं

१. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ. ३११
२. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ. ३१२

"रसवादी इस सब को बाह्यपक्ष मानते हैं और आत्मपक्ष के आनंद को वह समाज से निरपेक्ष मानते हैं और सहृदय के लिये रस की निष्पत्ति समान भाव से मानते हैं। वह रसवाद का सामन्तीय समाज के ढाँचे का रूप है।"[1]

स्पष्ट है कि अलौकिकता और अखण्डता के आधार पर व्यक्त होनेवाली अविच्छिन्नता एवं एकता रसास्वाद के स्तर पर आज नहीं आ सकती। रसवादियों ने "सहृदय" कहकर पाठक की योग्यता का वर्णन किया है परंतु पाठक या सहृदय ऐसा प्राणी नित्य नहीं हो सकता जो आदर्शतम स्थितितक पहुँचा हुआ हो, सत्व-रज-तम से मुक्त स्थितितक लोकोत्तरत्व का अनुभावन करे। वह समाज का एक अभिन्न अंग होता है। समाज परिवर्तनशील है, उसका नित्य विकास होता रहता है, उस विकास में भी कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता। समाजविकास एव परिवर्तन समसामयिक साहित्य, साहित्यिक अभिरुचि और मर्मज्ञता पर प्रभाव करता है और रुचि में भी अंतर लाता है। ऐसी स्थिति में एक को किसी एक साहित्य कृतिसे प्राप्त आनंद दूसरे के आनंद से भिन्न होगा और नवकाव्य में अभिव्यक्त सामयिक बोधजन्य अनुभव अलौकिकत्व से युक्त नहीं हो सकता।

आनंद को लोकोत्तर बताया गया है। एक विद्वान लोकोत्तर के विभिन्न अर्थ यों लिखते हैं—"व्यष्टि के ऊपर समष्टि भोग्य, जनसामान्य की भोगसामर्थ्य उपलब्धि क्षमता से उपर का सूक्ष्म गहन आनंद"[2] यही सूक्ष्म, गहन और व्यापक आनंदमयता अधिक आत्मपरक, व्यक्तिपरक एवं एकांगी धारणा बन जाती है और व्यक्तित्वभिन्नता इस धारणा में व्यवरोध उत्पन्न करती है।

काव्यानंद की व्याख्या के प्रवाह में सर्वोच्च स्वरूप या कोटि को व्यक्त करने के लिये "ब्रह्मानंद-सहोदरत्व" का प्रयोग किया गया है। ब्रह्मानंद से तुलना करते हुए आनन्द को उसका सहोदर बताकर उसके सदृश एवं समकक्षी बताया गया है। यहाँ भी दार्शनिक मतवाद और वेदान्त स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। काव्य से प्राप्त होनेवाले आनन्द के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ब्रह्मवाद के अतिरिक्त अन्य कोई उपमा तत्कालीन विचारकों के पास नहीं थी। अतः कलात्मक आनन्द के स्वरूप को स्पष्ट करने की कठिनाई उनके सामने उपस्थित होने पर यही एक मार्ग उनके लिए था और इसी लिए दार्शनिक शब्दावली ग्रहण कर लोकानुभूति से भिन्न काव्यानुभूति को ब्रह्मानन्द के समकक्ष स्थापित कर दिया गया। आनन्दवाद का तत्त्व निश्चिततः सामयिक युग की संस्कृति से बद्ध है।

इस स्थापना पर तत्कालीन सामाजिक प्रभाव, दार्शनिक चिंतन, शैवमत, वेदान्त, योगादि का स्पष्ट प्रभाव है। **अभिनव गुप्त** ने अपने ग्रंथ में आनन्द की कई स्थितियों

१. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ. ३१०

२. कल्पना, मई ६९

का उल्लेख किया है।[1] **डॉ. नामवरसिंह** ने योग के प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है, 'काव्य के रस को ब्रह्मानन्द के तुल्य प्रमाणित करने का सारा प्रयास एक अन्य ऐतिहासिक आवश्यकता की ओर संकेत करता है। वह आवश्यकता थी, सहृदय अथवा सामाजिक को काव्यरस की महिमा के बारे में कायल करने की। सम्भवतः उस समय योग की विशेष महिमा थी—योग से ब्रह्म ही नहीं बल्कि ब्रह्मानन्द की प्राप्ति निश्चित थी। सवाल यह था कि योग को छोडकर कोई काव्य का सेवन क्यों करे। उस समय कविता के सम्मुख योग उसी प्रकार की चुनौती के रूप में था, जैसे आधुनिक युग में विज्ञान।[2]

ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व की धारणा को स्वीकार करने में भी कुछ समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। यह एक उच्चतम स्तर का आनन्द तो सही परंतु लौकिक एवं व्यावहारिक पक्ष से दूर हट जाता है। अतः प्रगतिवादी समीक्षक **डॉ. रांगेय राघव** लिखते हैं, 'रससिद्धान्ती जिसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहते हैं वह महान आनन्द कहा जाना चाहिए क्योंकि वह काव्य की केवल आत्मवादी व्याख्या है। जैन और बौद्ध तो ब्रह्म में विश्वास नहीं करते।' इसमें काव्यानुभूति समाजानुभूति या लोकानुभूति से नितान्त भिन्न हो जाती है। प्रत्यक्षतः लोक में या व्यवहार में तो हम देखते हैं कि किसी एक रस का आस्वाद एक प्रकार के पाठक करते हैं, तो दूसरे अन्य का। रस से प्राप्त होनेवाला आनन्द मनुष्य को ऐन्द्रियक तुष्टि तो नहीं देता।

आनंद की चार कोटियाँ बताई जा सकती हैं। ऐन्द्रियक आनंद सर्वसामान्य कोटि का, जो पशुपंछियों के जीवन में भी होता है। पंचेन्द्रियों से प्राप्त शारीरिक आनंद प्राथमिक एवं स्थूल होने के कारण अन्य कलाओं के आस्वाद में कुछ हदतक उसका सम्बन्ध भले ही स्वीकार किया जा सकता हो, तथापि काव्यानंद या रसानंद से प्राप्त आनंद से कदापि नहीं।

मानसिक आनंद या प्रसन्नता संस्कारों का मूल्य रखता है परंतु वह व्यक्तिसापेक्ष एवं स्वार्थपरक भी हो सकता है। पैसा कमा कर धनी बन जाने की कल्पना से अथवा गत सुखद स्मृति से प्राप्त आनंद मानसिक ही होता है, जो अधिक सूक्ष्म, सर्वव्यापी एवं उच्चतम नहीं होता। विवेचन-विश्लेषण से प्राप्त होनेवाला बौद्धिक आनंद कवि या पाठक को पूर्णतः संतुष्टि नहीं दे सकता। तर्क, वादविवाद, वितण्डा से जनित आनंद काव्यानंद नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट होता है कि काव्यानंद केवल ऐन्द्रिय, मानसिक या बौद्धिक आनंद नहीं हो सकता बल्कि इन तीनों के सम्मिश्रण से भिन्न प्रकार का एवं कोटि का, उच्चतम सम्मिश्र (complex) स्वरूप में होता है।

१. रससिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र, पृ. ७३.
२. कविता के नये प्रतिमान पृ. ५३.

इसलिये फिर दर्शन में और अध्यात्म में आत्मिक आनंद या आध्यात्मिक आनंद की कल्पना की गई। मानवी जीवन में ऐन्द्रिय, मानसिक और बुद्धिजन्य आनंद से परे, उच्च आनंद की कोटि आत्मिक आनंद मानी गई और आत्मा की मुक्ति ब्रह्म की प्राप्ति में बतायी गयी। इस पूरे दार्शनिक मतप्रवाह में ब्रह्मानंद की कोटि उच्चतम घोषित की गई।

दार्शनिक भूमिपर काव्य के रसास्वाद का विचार करते हुए आनंद की व्याख्या के लिये ब्रह्मानंद-सहोदरत्व का ग्रहण इस तरह स्वीकार किया गया। **डॉ. रामविलास शर्मा** का कथन उचित है कि "साहित्य के शास्त्रीय विवेचन पर से यदि हम ब्रह्मानंद-सहोदर का आवरण हटा दें, तो उसके नीचे हमें बहुत कुछ सचाई मिल सकती है।"[1]

आचार्य शुक्ल को भी ब्रह्मानंद सहोदरत्व को ग्रहण करने में कठिनाई मालूम पडी। उनकी व्यावहारिक और लोकमंगलवादी दृष्टि ने आनंद की व्याख्या करते हुए रस की आनन्दपरकता को मानसिक भूमिपर ही स्थित किया है। करुण रस से श्रोता के मन में आनन्दप्राप्ति कैसे हो सकती है इस बात को लेकर वे लिखते हैं, "मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप आनन्द शब्द से व्यक्त नहीं होता। लोकोत्तर, अनिर्वचनीय आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार है, न प्रयोग का प्रायश्चित। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा, आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं? उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते...क्या दुःख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं?...हरिश्चन्द्र के दुःख और महमूद के अत्याचार के उदाहरण देकर वे पूछते हैं, क्या दुःखान्त कथा पढ़कर बहुत देरतक खिन्नता बनी नहीं रहती? चित्त का यह द्रुत होना क्या आनन्दप्रद है? इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कम कर दिया है, उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।" उक्त प्रसंग से प्राप्त अनुभूति को वे दुःखात्मक स्वीकार करते हैं और रसास्वाद की आनन्द-परकता की चर्चा में फिर मानसिक मुक्तदशा के आनन्द का अधिष्ठान वे दे देते हैं। वे लिखते हैं, "पर आनन्द शब्द को व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता।...करुण रसप्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि "आनन्द में भी तो आँसू आते हैं," केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख का ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्तदशा होने के कारण वह दुःख रसात्मक होता है।"[2]

काव्यास्वाद में हृदय की मुक्तावस्था को स्वीकार करने के कारण रसास्वाद की आनन्दपरकता की यह संगति बिठाई गई है। परंतु काव्यास्वाद की एकाग्रता में ही अधिक खण्डितता एवं व्यवधान उत्पन्न होने पर अखण्ड काव्यास्वाद की आशा नहीं की

१. रसमीमांसा, पृ. १०१

२. रसमीमांसा, पृ. २७३

जा सकती और फिर प्रत्यक्षतः आनंद की अनुभूति तो नहीं हो सकती। काव्यानुभूत दुःख, उद्वेग, पीड़ा, संत्रासात्मक अनुभूति ग्रहण कर पाठक का मन उसके अनुकूल बनेगा भी और कभी-कभी नहीं भी।

अतः समसामयिकता के प्रति जागरूक व्यक्तियों के लिये रसात्मक आनन्द में काव्यास्वाद की परिणति को स्वीकार करना कठिन है। आज की सापेक्षता में आनन्द का तत्त्व कुछ एकांगी एवं अपूर्ण प्रतीत होता है। रस की चरम परिणति आनन्द में मानने की अपेक्षा काव्यानुभूति का अन्य एक स्तर मानना ही उचित होगा। नये समाज के साथ जब नये-नये प्रश्नों पर विचार किया जाता है तब काव्य में बौद्धिकता की स्थिति उत्पन्न होती है। ऐसे समय तन्मयता से काव्य के आस्वाद को स्थिति में कुछ अंतर आता है। अतः आस्वाद की दो भिन्न स्थितियाँ हो सकती हैं। रसानुभूति की स्थिति में रस में डूब जाने, रसविभोर होने से मन हर्षित होता है और पाठक तन्मयता से हर्ष या सुख का तथा पीडाहीनता का अनुभव करता है। परंतु इसके साथ ही किसी काव्य से अन्य प्रकार की अनुभूति पाठक को होती है। वह रसानुभूति से भिन्न होती है। उसमें काव्यगत बौद्धिक बातों को समझकर, ग्रहण कर, भी पाठक अपने को व्यग्र या दुःखी नहीं पाता। वस्तुतः बुद्धि का धर्म तो विचलित करना है, वह कभी स्थिर नहीं रखती परंतु उपर्युक्त स्थिति को केवल बौद्धिक ग्रहण या अनुभूति नहीं कहा जा सकता, वरन् इसे काव्यनुभूति या सौंदर्यानुभूति कहना उचित जान पड़ता है। अतः काव्यास्वाद में रसानुभूति के दो स्तर हो सकते हैं। एक भावुकतापरक, विभोर होने की स्थिति और दूसरी काव्यानुभूति। इन दोनों स्तरों को मान्य करने पर अन्य सारे प्रश्न सुलझ सकते हैं।

■ ■

दशम अध्याय

रसाभास का सामाजिक मूल्यांकन

रसास्वाद की प्रक्रिया में काव्य पढ़तेसमय कवि द्वारा अभिव्यक्त आशय और काव्यगत समग्र विभावादि सामग्री पाठक के मनश्चक्षुओं के सम्मुख उपस्थित होती है और वह अनुभूति अपने समग्र रूप में, पाठक की अपनी अनुभूति होने लगती है। पाठक काव्यास्वाद में एकरूप होते हुए उस रसविशेष में तल्लीन होता जाता है और रस का उन्मुक्त आस्वाद करता है। वह रसविभोरावस्था में पहुँचकर रस की गहन अनुभूति की प्रतीति करता है!

परंतु कभी-कभी काव्य पढ़तेसमय काव्यगत रससामग्री के उपस्थित होने पर भी पाठक उस स्थिति से एकरूप नहीं हो पाता। फलतः ऐसी स्थितियों में रसपरिपोष की प्रक्रिया क होते हुए भी रसास्वाद की गहन अनुभूति की स्थितितक पाठक पहुँच नहीं सकता। रसास्वाद कहीं खण्डित हुआ सा प्रतीत होता है अथवा रसात्मक-बोध में क्षीणता आ जाती है। काव्य में रस की सामग्री एवं प्रक्रिया का अस्तित्व होते हुए भी किसी कारणवश पाठक की रसात्मक अनुभूति क्षीण या फीकी होती जाती हैं और गहनतम अनुभूति के स्थान पर उपहास, घृणा अथवा हास्य जैसे हलके भाव जागृत हो जाते हैं।

गहन रसानुभूति और क्षीण रसात्मक अनुभूति (भावानुभूति या केवल अनुभूति मात्र) ये सर्वथा दो भिन्न स्थितियाँ हैं। दूसरी स्थिति को ही काव्यशास्त्र में "रसाभास" कहा गया है। काव्यास्वाद की इस स्थिति को रसाभास कहकर प्राचीन आचार्यों ने रसाभास के स्वरूप, आधार और कारणों के सन्दर्भ में शास्त्रीय दृष्टिकोण से पर्याप्त चर्चा की है। सामाजिक दृष्टिकोण से रसाभास की स्थिति का परीक्षण किया जाय तो सामाजिक आधारों की स्थिति, निर्विघ्न रसास्वाद न कर पाने के कारण, कवि की अनुभूति की संप्रेषणीयता की असंभाव्यता आदि से संबंधित अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं।

रसाभास की स्थिति में पाठक को रस का केवल आभास होता है याने रस के सारे लक्षणों आदि के उपस्थित होते हुए भी वह प्रत्यक्ष रसानुभव नहीं कर सकता। किसी बात का आभास होने का अर्थ होता है कि वह वस्तु वहाँ है ऐसा लगता तो है, पर वह प्रत्यक्षतः वहाँ नहीं होती। आभास शब्द आ भास से बना है जिसका अर्थ चमक, दीप्ति, द्युति, कांति, शोभा आदि होता है। कोश में इसके अन्य अर्थ छाया, प्रतिबिम्ब, धोखा या भ्रम आदि मिलते हैं।[1] कहीं रस्सी पड़ी हुई हो तो दूर से देखने पर अंधेरे में साँप मालूम होता है। प्रकाश फैल जाते ही पता चलता है कि वह साँप नहीं, रस्सी है। सीपी में चाँदी जान पड़ना भी आभास ही है। व्यवहार में आभास या भ्रम के कतिपय उदाहरण देखे जाते हैं। रास्ते से चलते समय हम एकाध व्यक्ति को सामने से आते हुए देखते हैं तो लगता है कि यह हमारा परिचित अमुक व्यक्ति है पर प्रत्यक्ष जब वह पास आता है तो स्पष्ट होता है कि नहीं, वह हमारा मित्र नहीं है, कोई दूसरा ही है। यहाँ दूर से अपना ही मित्र होने की भावना, उसके पास आने पर कुछ विसंगति, विभेद या असंगति स्पष्ट होते ही, दूर होजाती है और वहाँ केवल आभास का अनुभव होता है।

रसप्रतीति की स्थिति में भी जब कभी ऐसी कोई बात खटकती है तो रसात्मक अनुभूति के स्थान पर वहाँ "आभास" मात्र रह जाता है। **पण्डितराज जगन्नाथ** ने रसाभास की स्थिति को एक व्यावहारिक उदाहरण के सहारे अच्छे तरीके से व्यक्त किया है। "जिस प्रकार शरबत पीतेसमय उसमें किरकिरी आ जाय तो शरबत का सारा मज़ा जाता रहता है, आस्वाद फीका हो जाता है, उसी प्रकार यदि रसानुभव में खटकनेवाली बातें उपस्थित होती हैं, तो वहाँ रसभंग समझना चाहिये और उसे रसाभास कहना चाहिये।"[2] जैसे शरबत में किरकिरी खटकती है, रास्ते पर मित्र से मिलने का आनंद उसके पास आने पर दूर हो जाता है, वैसे ही काव्यास्वाद के बीच में कुछ ऐसी बातें आ जाती हैं, जो पाठक के मन में खटकती हैं और उसके कारण रसाभास की स्थिति उत्पन्न होती है।

परम्परा के दृष्टिक्रम से देखा जाय तो **भरतमुनि** के नाट्यशास्त्र में रसाभास का स्पष्टतः उल्लेख नहीं है और रसाभास शब्द भी नहीं है। परंतु 'शृंगार की अनुकृति में हास्य उत्पन्न होता है' इस कथन में उसका कुछ संकेत मिलता है। साथ ही वेश, अलंकारादि के औचित्य का संकेत उन्होंने किया है। लोकस्वभावानुकरण और लोकवृत्तानुकरण में अंशतः इसको स्वीकार किया गया है और आयु एवं व्यक्तिभेद के अनुसार भिन्न रसों के भिन्न जनों के आस्वाद की चर्चा की गई है। **अभिनवगुप्त** ने स्थायी व्यभिचारी भावों के अनौचित्य पर बल देते हुए कहा, "औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या

१. शब्दकल्पद्रुम, मानककोश
२. रसगंगाधर, पृ. १४२

रसो, व्यभिचारिण्या भावः अनौचित्येन तदाभासः"।[1] **मम्मट** ने अनौचित्य को ही रसाभास का आधार माना है।[2] **विश्वनाथ** ने "अनौचित्यप्रवृत्तत्वं आभासो रसभावयोः"[3] कहकर और **पण्डितराज जगन्नाथ** ने "अनुचित विभावालम्बनत्व रसाभासत्वम्" कहकर विभावादि के अनौचित्य पर ही बल दिया है।[4]

साधारणतः सभी आचार्यों ने रसाभास का एकमात्र आधार "अनौचित्य" घोषित किया है परंतु अनौचित्य के निश्चित स्वरूप के सम्बन्ध में उनमें मतैक्य नहीं दिखाई देता। निम्नलिखित विभिन्न स्वरूपों में अनौचित्य रसाभास का कारण माना गया है।

रस का अनौचित्य (१) विरोधी रस की संयोजना (शारदातनय)
(२) अंगीरस का अंगरस पर अधिक्षेप (शिंगभूपाल)

विभाव का अनौचित्य
भाव का अनौचित्य
स्वभाव का अनौचित्य
लोक और शास्त्र का अनौचित्य[5]

अनौचित्य में उचित न होने का भाव है। अन् उपसर्ग न समाससूचक अर्थ व्यक्त करता है, जिससे अभाव होने या विपरीत होने का संकेत मिलता है। उचित शब्द उच् धातु से बना है जिसका मूल अर्थ प्रसन्न होना या प्रसन्न करना है। कोश में उचित शब्द के अन्य अर्थ प्रसादकारी, रमणीय वस्तु, समंजस, शिव, ऋजु लोकशास्त्र के प्रसिद्ध गुणों का समुदाय आदि हैं।[6] **डॉ. राघवन** ने औचित्य के लिए ॲप्रोप्रिएटनेस, एडप्टेशन, हारमनी, प्रपोर्शन आदि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है। इन सबके बीच **क्षेमेन्द्र** की औचित्य की परिभाषा अधिक सार्थ प्रतीत होती है कि, "जो जिसके अनुरूप है, उसे उचित कहते हैं और उसके भाव को औचित्य।"[7]

उचित होना, अनुरूप होना, संगत लगना आदि का सम्बन्ध मानवजीवन एवं व्यवहार में अत्यन्त प्रधान रहा है। क्या उचित है और क्या अनुचित है इसका

१. लोचन, पृ. ७८
२. तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः (काव्यप्रकाश, सू. ४९)
३. साहित्यदर्पण–३।२६२
४. हिन्दी रसगंगाधर, पृ. १४२
५. रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ. २१६
६. मानक हिन्दी कोश
७. औचित्यविचारचर्चा, अ. ७

निर्णय एवं विचार मनुष्य की निर्णायक बुद्धि प्रतिक्षण करती रहती है। बुद्धि के इस धर्म को ही विवेक कहा जाता है। विवेक का उदय मानवजीवन में जन्म से ही नहीं होता। बालक मूलतः विवेक से परिपूर्ण नहीं होता। उसकी आयुवृद्धि के साथ ही विवेकशीलता बढ़ती जाती है। बालक की क्रियाओं में अधिकतर विवेकहीनता पायी जाती है, परंतु जैसे-जैसे वह बड़ा बनता जाता है, बढ़ती आयु के साथ उसके जीवनविकास में विवेक का महत्त्व भी बढ़ता जाता है। व्यक्तिगत जीवन को सामाजिक सम्पर्क एवं सामंजस्य में विकसित करते हुए विवेकशीलता की नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती है। विवेक की वृद्धि ही उसके व्यक्तिगत जीवन का सामाजिक जीवन से सामंजस्य स्थापित कर उसके जीवन को संतुलित (balanced) रखने का कार्य करती है। अतः वह उचितानुचित के विवेक से उचित की स्वीकृति और अनुचित के त्याग की वृत्ति अपनाता है। जहाँ अनुचित को स्वीकार किया जाता है वहाँ समाज-जीवन के प्रवाह में कुछ बाधा अवश्य आती है।

परंतु मात्र आयु के कारण मनुष्य में विवेकबुद्धि विकसित होती तो सारे वयोवृद्ध विवेकसंपन्न ही हो जाते। केवल आयु ही विवेक को जन्म नहीं देती, साथ ही मनुष्य की समाजसापेक्ष जीवनस्थितियाँ, उनमें प्राप्त विभिन्न अनुभव और भिन्न-भिन्न प्रसंग उसकी विवेकशीलता को विकसित करते हैं और वह विवेक की क्षमता से ही अपने जीवन की प्राप्त स्थिति, प्रसंग या परिवेश के सन्दर्भ में उचितानुचित का निर्णय करता है। विवेक मात्र स्वतंत्र स्वायत्त शक्ति नहीं, वह मनुष्य की आयु के साथ उसकी शिक्षा, संस्कार, समाज में उसका स्थान (status) और उसका परिवेश आदि सब पक्षों की सापेक्षता में निर्णय देती है और मनुष्य औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करता है।

व्यक्तिगत विवेकबुद्धि से निर्णीत औचित्य और अनौचित्य सार्वजनीन एवं सार्वकालिक नहीं हो सकता। एक व्यक्ति को जो बात उचित लगती है, वही दूसरे के लिए अनुचित हो सकती है। एक काल में जो औचित्यपूर्ण माना गया है, कालान्तर में वही अनौचित्यपूर्ण एवं त्याज्य माना जा सकता है। स्पष्ट है कि औचित्य-अनौचित्य की अवधारणा (concept) को किसी एक सीमा में बांधा नहीं जा सकता। वह परिवर्तनशील, गतिशील तथा सापेक्ष धारणा है। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से समाज में आदानप्रदान होता रहता है और उस सापेक्षता में उसका व्यक्तिजीवन विकसित एवं अभिव्यक्त होता रहाता है। विकसनशील व्यक्तिजीवन की अभिव्यक्ति पर औचित्य-अनौचित्य का विवेक प्रभाव डालता रहता है और विवेकशीलतापर परिवर्तनशील सामाजिक परिवेश का प्रभाव रहता है। सामाजिक आदानप्रदान में कुछ संकेत बनते हैं, विभिन्न प्रथाएँ, विचारधाराएँ एवं मान्यताएँ रूढ होती रहती हैं और सारा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश उस युगविशेष को प्रभावित करता है। कालान्तर में वे संस्कार

समाजजीवन में किसी अंश में बने रहते हैं और उनकी सापेक्षता में व्यावहारिक धरातल पर व्यक्ति की विवेकशीलता औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करती है। अन्य शब्दों में कहना हो तो विवेक का निर्णय भी स्वतंत्र नहीं रहता, संदर्भ की सापेक्षता से विच्छिन्न नहीं होता। अतएव व्यक्ति, उसका परिवेश, प्राप्त स्थिति, घटना और उसका सन्दर्भ इन सारी बातों की सापेक्षता में उचित-अनुचितता का निर्णय परिवर्तित हो सकता है। औचित्य की परिवर्तनशीलता एवं गत्यात्मकता ने जीवन की गतिशीलता से सामंजस्य बनाये रखा है।

औचित्य-अनौचित्य का विचार-चिंतन पाश्चात्यों ने नीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया हैं। वे अच्छा-बुरा (good and bad) और सही-गलत (right or wrong) के रूप में विचार करते हैं। मॅकेंझी उसे शिव कहता है जिसका अंतिम फल मूल्यवान एवं महत्त्वपूर्ण होता है। सही साधारणतः नियम के अनुसार व्यवहार का अर्थ हैं। सही और शिव ये दोनों भिन्न धारणाएँ हैं। औचित्य सही के अधिक निकट है पर शिवत्व से भी युक्त है। जो सही है वह सामयिक काल में शिव नहीं भी हो सकता, पर कालान्तर में वही शिवत्वपूर्ण प्रमाणित हो जाता है। औचित्य की कल्पना में सही की नियमबद्धता और शिव के मूल्यवान-फलदायी दोनों तत्त्वों का समाहार हो जाता है।

'उचित' सही और शिव का ही रूप है इस कथन का आधार क्या है यह बताना कठिन है। ' शिव ' मानवजीवन के आदर्शों की ओर (ideals) निर्देश करता है और ' सही ' व्यवहार, आचार तथा मानवजीवन के नियमों का संकेत देता है। सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश में व्यक्ति अपने-अपने आदर्शों की स्थापना करने लगता है और उनका पालन करने का प्रयास करते हुए औचित्य की रक्षा करता है। परंतु जिस समय सामाजिक परिवेश एवं सांस्कृतिक परम्परा परिवर्तित हो जाने पर प्राचीन आदर्श और नये यथार्थ में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है उस समय औचित्य की कल्पनाएँ भी कुछ बदलने लगती हैं। आदर्श और यथार्थ के सामंजस्य के किंचित काल के लिए भी दूर जाने पर परम्परागत मूल्यों के विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। प्राचीन, पूर्ववर्ती मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों की माँग होने लगती है और प्राचीन मूल्य अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं। पूर्ववर्ती सिद्धान्त-तत्त्वों का जो अस्तित्व एवं महत्त्व समाज एवं युग में रहा हो, युगपरिवर्तन में वहाँ फीका पड जाता है, बदल जाता है। फिर नये मूल्यों की स्थापना होने लगती है। औचित्य-अनौचित्य की कल्पनाओं में इस स्थिति के कारण अन्तर आ जाता है। प्राचीनों ने लोक और शास्त्र का अनुकरण औचित्य-अनौचित्य के लिए अनिवार्य माना है। परंतु इस परिवर्तनशील स्थिति में जहाँ कवि नये मूल्यों को स्वीकार करके उनकी स्थापना अपने काव्य में करता है, वहाँ अनौचित्य का प्रश्न उपस्थित हो जाता है और फिर रसाभास की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

युग और स्थिति के अनुसार मानवजीवन के व्यवहारनियम बदलते हैं, पुराने नियमों का स्थान नये नियम ले लेते हैं, जिनका प्रभाव जीवन की स्थितियों, विचारों, आदर्शों और भावाभिव्यक्ति पर होता है। इन सारी बातों के साथ औचित्य अनौचित्य की कल्पनाएँ भी बदलती रहती हैं और वे नित्य ही साहित्य को प्रभावित करती रहती हैं।प्राचीन समाज में वर्णों और आश्रमों पर आधारित समाजजीवन नितान्त भिन्न था। आज जाति, वर्ण आदि को तोडने के लिए बुलन्द आवाज़ उठ रही है। भारतीय संस्कृति जातिभेदों के कठघरे से बाहर आकर अपने समकालिक मानदण्डों को अपनाने की कोशिश कर रही है।

विवाहसंस्था के कतिपय रूपों में औचित्य की कल्पनाओं का परिवर्तन दिखाई देता है। एकपत्नीत्व, बहुपतित्व, बहुपत्नीत्व, बालविवाह, विधवाविवाह, प्रौढविवाह, प्रेमविवाह, अन्तर्जातीय विवाह, तलाक प्रथा आदि विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों और रूढियों ने मानवजीवन एवं व्यवहार में औचित्य की कल्पनाओं को प्रभावित किया है।

प्राचीन समाज में रति की प्रतिष्ठा अत्यंत पवित्र एवं उज्ज्वल रूप में थी जिसकी झलक भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में ही नहीं अपितु धर्मशास्त्र में भी मिलती है। भारतीय समाज एवं संस्कृति ने जीवन के सारे पक्षों को धर्म के अन्तर्गत समेट लिया है। मिथुनों की पूजा की प्रथा भी भारतीय परम्परा में चलती रही है। रति को अत्यंत पवित्र एवं उदात्त रूप भारतीय संस्कृति ने दिया और विवाह को एक पवित्र और जन्मजन्मांतर का सम्बन्ध मानकर उस पर आध्यात्मिक आवरण चढ़ा दिया। न केवल भौतिक हेतु तक रति सीमित रही बल्कि एक आध्यात्मिक एवं शाश्वत रूप पाकर अतीव पवित्र, मंगल, शाश्वत एवं मर्यादाशील भी बनी। स्वाभाविकतः पत्नी के लिए पति के अलावा किसी पर अनुरक्त होना अनौचित्यपूर्ण माना गया। स्त्रीजीवन में पातिव्रत की पराकाष्ठा का आदर्श सावित्री द्वारा उपस्थित करने के कारण भारतीय नारी के लिए पति परमेश्वर बना।

ऐसी समाजरचना एवं संस्कारों के प्रभाव के कारण काव्य में इनसे विपरीत प्रसंगों की व्याख्या आचार्यों ने अनुचित एवं रसाभास के रूप में की है। किसी स्त्री का पति मूर्ख नपुंसक और नालायक हो, शराबी हो तो धर्मशास्त्र ने जैसे पति को छोडकर दूसरा विवाह करने की अनुमति दी है। परंतु विवाह और प्रेम में परस्पर भिन्नता है। स्त्री यदि पति के अतिरिक्त किसी अन्य के प्रति अनुरक्त है, तो भारतीय समाज उसे उचित नहीं मानता और काव्य में ऐसे प्रसंग आने पर वहाँ रसाभास घोषित कर देता है। पाश्चात्य देशों में यह स्थिति नहीं है।

भारतीय संस्कृति ने समाज-जीवन में वर्णविभाजन और आश्रमव्यवस्था को महत्ता दी थी और वर्णाश्रम के धागों से ही सारा प्राचीन जीवन गुँथा हुआ था। उस पर ही मानवजीवन एवं समाजजीवन के आदर्श (ideals) निर्धारित होते थे।

ब्रह्मचारी, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, सभी के लिए कुछ नियम समाजद्वारा निर्धारित किये गये थे और उनका कठोर पालन आवश्यक माना जाता था। उसमें बाधा आने पर समाज उसे अनुचित मानता था। अब वर्णाश्रमव्यवस्था टूट चुकी है। वर्ण, वर्ग आदि भेदों से पूर्णतः रहित समाजरचना की माँग है और व्यक्ति की स्वतंत्र इकाई की सत्ता स्वीकृत की जा रही है। ब्रह्मचर्य से संन्यास तक की जीवन की अवस्थाओं में बद्ध न होने पर भी अवस्थानुसार आचार, व्यवहार एवं भावोन्मेष तो होता ही है। अतः इसके विपरीत घटित होने पर मानव और समाज उस घटना को अनुचित मानता है। काव्य में ऐसे स्थल रसाभास की कोटि में परिगणित होते हैं।

संस्कृति और समाज के विकास के साथ ही मानवजीवन में पारस्परिक सम्बन्धों का विकास हुआ। भाई-बहन, पिता-पुत्र, माता-पिता, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी आदि पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण में संस्कृति का महत्त्वपूर्ण हाथ है। मानववंशशास्त्र से यह बात प्रमाणित है कि आदिम स्थिति में मानव के लिए न माता-पिता का सम्बन्ध था, न माता-पुत्र आदि सम्बन्ध निश्चित थे। परस्पर सम्बन्धों का स्थापन एवं विकास समाज निर्माण एवं संस्कृति के साथ होता गया। समाज एवं संस्कृति ने उन सम्बन्धों के अनुकूल आदर्श स्थापित किये। साथ ही इस प्रकार के आदर्शों, संकेतों तथा आचार के नियमों की रेखाएँ भी निश्चित होती गई। कौन किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करता है, इन नियमों और संकेतों के बाधक अथवा प्रतिकूल व्यवहार एवं आचार को अनुचित माना जाने लगा। काव्य में भी परस्पर निश्चित सम्बन्धों के विपरीत अनुचित का चित्रण बाधक बन सकता है। वहीं रसाभास उत्पन्न होता है।

गुरुशिष्य परम्परा की भारतीय संस्कृति में एक विशेष महत्ता रही है। गुरु को अत्यधिक प्रतिष्ठा दी गई और 'आचार्य देवो भव' कहकर उसे देवतासम माना गया। गुरुकुलपद्धति से शिक्षा-ग्रहण की परम्परा प्राचीन भारतीय समाज में प्रचलित होने से गुरु-शिष्य के पारम्परिक सम्बन्ध पिता-पुत्रवत् होते थे। पिता के स्थान पर गुरू की मान्यता होने से श्रद्धा और भक्ति के पात्र माने जाते थे। गुरुपत्नी मातासमान मानी जाती थी। अतः गुरूपत्नीविषयक रतिव्यंजना अनुचित एवं रसाभास का आधार मानी गई। आज शिक्षा की प्रणाली में पर्याप्त अन्तर आया है। शिक्षक-केन्द्रिय शिक्षा पद्धति आज विद्यार्थी-केन्द्रिय (piodo-centric) बन गई है, जिसके फल-स्वरूप शिक्षक आज गुरू या आचार्य देवता नहीं, बल्कि विद्यार्थी के मददगार, सहाय्यक मित्र के रूप में (helper) माना जाने लगा है। गुरूमुख से विद्या का प्रवाह हटा है, और स्वयं-अध्ययन (self-study) पर बल दिया जाने लगा है। इस स्थिति में भी जो प्राचीन संस्कार बचे रहते हैं, वे समाजजीवन को प्रभावित करते हैं। शैक्षिक चिंतना में अन्तर भले ही आए, पर समाज में मान्य गुरू की प्रतिष्ठा किसी हदतक बनी रहेगी। अतएव काव्य में इस प्रकार का वर्णन आने पर रसाभास की स्थिति उत्पन्न होगी।

इस बात के साथ ही गुरूजन, मातापिता आदि बड़ों के साथ व्यवहार के कुछ संकेत समाज में मान्य रहते हैं। किसी व्यक्ति को बड़ों से या अपने पिता से क्रोध व्यक्त करना, स्त्री का अत्यधिक क्रोध व्यक्त करना, बच्चे का क्रोधाविष्ट होकर बुरी या उलटी-सीधी बातें कह देना अत्यन्त अनुचित माना गया है। इसलिए उस प्रकार का वर्णन काव्य में रसप्रसंग में आने पर रसाभास उत्पन्न होता है।

आचार के नियम तथा औचित्य की कल्पनाएँ मात्र व्यक्तिजीवन से सम्बन्धित नहीं रहतीं, बल्कि समाज में और सार्वजनीन जीवन में अभिव्यक्त होती हैं, जिन पर बाह्य सामाजिक परिवेश का अधिक नियंत्रण रहता है। वे ही नैतिक-अनैतिकता का रूप लेती हैं। अर्थात् संस्कृतिविशेष और सामाजिक जीवनगत व्यवहार नीति के आधाररूप हो जाते हैं। जब सांस्कृतिक एवं सामाजिक संदर्भ से मानव के व्यवहार में औचित्य का विचार होता है तब नीति की धारणा का उदय होता है। सामाजिक सन्दर्भ में अच्छा-बुरा अर्थात् शिव-अशिव कल्पनाओं से व्यवहार के कुछ आदर्श उपस्थित किये जाते हैं और उनके विपरीत स्थिति को अनैतिकता कहा जाता है। औचित्य व्यक्तिगत भी हो सकता है पर नीति सामुदायिक परिवेश से संबद्ध होती है।

नीति शब्द बड़ा व्यापक अर्थ रखता है। नीति शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ ले जाने या ले चलने की क्रिया होता है। 'नीति' के विभिन्न अर्थ, उचित, ठीक रास्ते पर चलने की क्रिया, आचारव्यवहार के ढंग, व्यवहार का ऐसा रूप जो सब की दृष्टि से लोक और समाज कल्याण के लिए आवश्यक ठहराया गया हो, सदाचार तथा सद्व्यवहार आदि है।[१] युक्ति, हिकमत, उपाय के अर्थ में भी नीति का प्रयोग होता है। नीति का अर्थ सर्वप्रथम राज्य या शासन की रक्षा या व्यवस्था के लिए शासक या शासित के सम्बन्ध ठीक तरह से बनाये रखने के लिए किये गये सिद्धान्तों या तत्वों के अर्थ में अर्थात् राजनीति के अर्थ में, माना जाता था। नीति कई प्रकार की मानी गई हैं। देशनीति, राजनीति, समाजनीति, कालनीति आदि भेदों में नीति का वर्गीकरण किया जाता है।[२]

इन विभिन्न अर्थों को देखते हुए नीति की कल्पना के उदय एवं विकास की कल्पना की जा सकती है। मानव के जीवनविकास में संस्कृति एवं समाज की सापेक्षता में मानवव्यवहार को संचालित करनेवाले नियम नीतिनियम हैं। मानव के सांस्कृतिक जीवन का निचोड नीति है। आदिम स्थिति में मानव के जीवन में विभिन्न प्रथाओं, (taboos) के रूप में नीति का अस्तित्व था और बाद में उसने शास्त्र का रूप ग्रहण किया। भारतीय परम्परा में तो नीतिशास्त्र (ethics) जैसा कोई शास्त्र नहीं था। भारत में व्यक्ति या समाज के व्यावहारिक एवं दैनिक जीवन की व्याख्या

१. मानक हिन्दी कोश, बृहद् हिन्दी कोश

२. नीतिकाव्य, पृ. ५

धर्मशास्त्र ने की। मानवीय आचरण और कर्तव्य की मीमांसा अत्यन्त गहराई से प्रत्यक्ष जीवन के ठोस धरातल पर करने के कारण नीति मानवजीवन की सापेक्षता में सदैव धर्म से संबद्ध रही और नीति का प्रयोग मात्र राजनीति के अर्थ में किया गया। लोकमान्य तिलक के कथन से इस बात को पुष्टि मिलती है कि "नीतिशास्त्र प्राचीन ग्रंथों में प्रायः राजनीति शास्त्र के लिए प्रयुक्त किया जाकर कर्तव्याकर्तव्य के शास्त्र को धर्मशास्त्र कहने की प्राचीन परिपाठी रही है।"[1] साधारणतः जगत में अन्य सारे प्राचीन देशों में प्रारंभ में यही स्थिति रही।

वस्तुतः धर्म और नीति में तात्विक भेद नहीं है। फिर भी दोनों शब्दों की अवधारणाओं में (concept) अंतर है। धर्म 'धा' अर्थात् धारण करनेवाला और नीति 'नी' आगे ले जानेवाली है। धर्म में भयवृत्ति का आधार ग्रहण करके पापपुण्यादि कल्पनाओं से मानव-व्यवहार एवं आचार पर नियंत्रण रखा गया। नीति में विवेकबुद्धि का विशेष आधार होते हुए उचित-अनुचित का भेद करने की क्षमता है। प्रारंभ में व्यापक समूह के कार्यलक्ष्य में धर्म ही मार्गदर्शक रहा। धर्म के मानदण्ड पाप और पुण्य की एक कसौटी रही, जो मानव आचार की आधारशिला बनी। एक प्रकार से यह पूर्णतः धार्मिक नीति ही रही।

प्राचीन भारतीय समाज में, चार पुरुषार्थों पर अधिष्ठित समाज में, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में सारा मानव-जीवन समेटा हुआ था। किसी काल में धर्मप्राण जीवन एवं साहित्य का उद्देश्य ही मोक्ष रहा। मोक्ष ही नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य होने के कारण वहाँतक ले जानेवाला सही रास्ता धर्म ही माना गया। धर्म में बौद्धिकता या विवेकशीलता की अपेक्षा श्रद्धा और आस्था की प्रधानता थी। जीवन के आचार के मानदण्ड (standard of conduct) और कर्तव्य के आदर्श (ideals of duties) धर्म के अनुसार निश्चित किये गये थे। तत्कालीन समाज में उचित-अनुचित का विचार एवं निर्णय इन धार्मिक मानदण्डों का ही अनुकरण करता था।

किंतु चिंतनपरकता, बौद्धिकता एवं मस्तिष्क की जिज्ञासा के नीति फलस्वरूप का उदय हुआ। कर्म के साथ विवेकबुद्धि को जोड़ देने के कारण उचित अनुचित के विचार ने नीति को जन्म दिया। मानवी जीवन को आदर्श की ओर ले जानेवाले मार्ग का लक्षण नीति है। वस्तुतः आदर्श दर्शन का विषय है। इसके दो पक्ष होते हैं। एक स्थितिपरक जो जीवन की स्थिति को बनाये रखना चाहता है और दूसरा उस लक्ष्यतक गतिशील बनाता है। व्यावहारिक नीति धर्म के रूप में तत्कालिक जीवन को बनाये रखती थी और आध्यात्मिक नीति अंतिम लक्ष्यतक ले जाती थी। वर्णाश्रम व्यवस्था की कर्तव्याकर्तव्य का विश्लेषण धर्मशास्त्र में किया गया और सत्यं वद, धर्मं चर आदि

१. गीतारहस्य, लो. तिलक, पृ. ४९

सत्कर्मों, सद्गुणों और सदाचारों का आदर्श सेवा, दया, क्षमा, त्यागादि में माना गया। स्वर्ग, नरक, पाप-पुण्य, पुनर्जन्म, पूर्वजन्मकर्म आदि की कल्पनाओं द्वारा एक प्रकार के लोभ एवं भय से सामान्य मानवजीवन का आचरण नियंत्रित एवं संचालित किया गया था।

धार्मिक और नैतिक मानदण्डों से मनुष्य की औचित्य-अनौचित्य की कल्पनाओं में अंतर आता है। विदेशियों ने मानवी आचार का अध्ययन और चिंतन नीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया है। भावपक्ष पर बल देकर 'अच्छा-बुरा' और विचारपक्ष को अधिक प्रधानता देकर 'सही-गलत' (right or wrong) की कल्पना की है। अच्छा वह भावगत मूल्य है जो विवेक से बहिष्कृत होता है और सुखद फल की अपेक्षा रखता है। परंतु सही वह बौद्धिक प्रेरणा है, जो कर्तव्याकर्तव्य के दायित्व का चिंतनपरकता से निर्णय करती है। " अंतिम अच्छा " (intrinsic good) की कल्पना उसमें की गई है परंतु अंतिम सही की नहीं। सामान्यतः नीतिशास्त्र के अंतर्गत मानव के आचार में क्या सही और क्या गलत होता है इसका अध्ययन किया जाता है।[१] कहा जा सकता है कि मानव-आचार के आदर्श और यथार्थ दो बिन्दुओं को जोडनेवाली रेखा नीति है और इसके मार्ग को कर्तव्य कहते हैं। कर्तव्य मार्ग पर नीति-रेखा मानवजीवन की सार्थकता के लक्ष्यतक जाती है। वह रेखा सरल है; अर्थात सरलता ही नीति का मूलतत्त्व (Basic ethical concept) है।

अच्छा-बुरा (good or bad) या शिव-अशिव और सही-गलत (right — wrong) की चर्चा करते हुए पाश्चात्यों ने नीति के अंतिम मानदण्ड (Ultimate moral standard) के सन्दर्भ में विभिन्न सिद्धान्तों की चर्चा की है।

ये सिद्धान्त प्रधानतः दो भागों में विभक्त हैं। नियमों का आदर्श (Legal theories) और उपयुक्ततावादी आदर्श (Teleological theories)। नियमों का आदर्श बाह्य या अंतर्गत नियमों को ही नीति के अंतिम मानदण्ड के रूप में स्वीकार करता है तथा सही (right) और नियमों (laws) पर उसका विशेष बल रहता है।[२] उपयुक्ततावादी सिद्धान्त शिवत्व (good) पर अधिक बल देता है और सुखद फलदायी तथा " अच्छा " ही नीति का मानदण्ड माना जाता है। उसके अंतर्गत तीन उपसिद्धान्त आते हैं। आनन्दवाद (Hedonism), हेतुवाद (Rationalism)

१. Ethics may be defined as the study of what is right or good in conduct. —Manual of Ethics, P. 1.

२. According to legal theories, a law, either external or internal, is the ultimate moral standard.
—Manual of of Ethics, P. 113.

और पूर्णतावाद (Perfectionalism)[1] । आनन्दवाद मानवीय इच्छाओं की आनन्दमय तृप्ति में विश्वास करता है । ऐन्द्रिय स्व के सुख और संतोष को नैतिकता का अंतिम मानदण्ड मानता है । मनुष्य नित्य ही अपनी इच्छाओं की परिपूर्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है । इच्छापूर्ति से वह सुखी बनता है । इस मत के अंतर्गत मनोवैज्ञानिक आनन्दवाद (Psychological Hedonism), नैतिक आनन्दवाद (Ethical Hedonism), अहंवादी आनंदवाद (Egoistic Hedonism) और सार्वभौमिक आनन्दवाद (Universalistic Hedonism) आते हैं। मूल्यवाद ऐन्द्रिय स्व का दमन कर के विशुद्ध रूप में हेतुप्रधान 'स्व' का साक्षात्कार करना नैतिकता की अंतिम कसौटी मानता है । पूंर्णत्व का आदर्श स्व का पूर्णत्व अथवा संपूर्ण स्व का साक्षात्कार ऐन्द्रिय संवेगों और इच्छाओं के द्वारा होना ही नैतिकता क अंतिम मानदण्ड मानता है ।

नीतिशास्त्रान्तर्गत विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार करने से पता चलता है कि नीति के मूल में सुखप्राप्ति, पूर्णत्वप्राप्ति, इच्छाओं की सफलता, आनन्दप्राप्ति और अपने उद्देश्य की परिपूर्ति का हेतु रहा है । नीति के पालन में व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा समाजकल्याण और सामाजिक हितरक्षा का भाव विशेष है । व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की परस्पर सार्थकता का आदर्श नीति उपस्थित करती है । साथ ही अन्य मूल्यों के साथ नैतिक औचित्य की महत्ता मानवजीवन में अधिक रहती है। नीतियुक्त आचरण और व्यावहारिक प्रसंगों में नैतिक औचित्य विभिन्न प्रकार से परिलक्षित होता है यथा, गुणौचित्य, कर्मौचित्य, स्वभावौचित्य आदि ।

प्रत्यक्षतः नैतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति की धारा तीन प्रवाहों में बहती हुई प्रतीत होती है । वर्णाश्रमधर्म युक्त नीतिनियमों का पालन सूक्तियों के रूप में धर्म का रूप लेता है । जीवनादर्श (ideals) की उपलब्धि में वैचारिक प्रतिक्रिया शास्त्र बनती है और भावनात्मक स्तरपर नैतिक तत्त्व ही काव्य में अभिव्यक्त होते हैं ।

१. Hedonism regards pleasure and gratification of the sensuous Self as the ultimate moral standard.

It regards the realization of the purely rational self by suppressing the sensuous Self as the ultimate moral standard.

Perfection regards the perfection of the Self or realisation of the complete or total Self by regulating the sensuous impulse and desires with the help of reason as the ultimate moral standard.

—Manual of Ethics, P. 113.

सारे नीतिनियम समाज और मानव के परस्पर आदानप्रदान की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही बने हैं, जिनका पूर्वरूप नियम या रूढि मात्र था। जीवन एवं समाज की स्थितियाँ बदलने के कारण समाज में मान्य कुछ नियम भी परिवर्तित हो जाते हैं और साथ ही कुछ संस्कारों के रूप में स्थिर हो जाते हैं तथा कवि और अन्य लोगों को प्रभावित करते रहते हैं। समाजपरिवर्तन के साथ साधारण नीतिनियमों में अंतर अवश्य आता है, पर कुछ पक्के बने संस्कारों में अधिक अन्तर नहीं आता। नीतिशास्त्र के अनुसार नीति के नियमों को अपरिवर्तनशील माना गया है। उनका पालन कभी-कभी नहीं किया जाता। यह बहुत संभव है कि नीति के विशेष नियम जीवन की किसी भिन्न स्थिति में भिन्नत्व रखेंगे परंतु सामान्यतः उनके स्थूल नियम सार्वत्रिक ही होते हैं।

नीति के मूल में स्थित "शिव" तत्त्व की स्वीकृति तो सर्वमान्य है। प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, सत्य, क्षमादि गुण (virtues) भी शाश्वत हैं पर इन विभिन्न गुणों, धर्मों और आदर्शों का सन्दर्भ बदल जाने से उनके व्यावहारिक मूल्य में अंतर आ जाता है। नीति की इस परिवर्तनशीलता, सन्दर्भसापेक्षता और युगप्रभाविता के कारण ही उसे सार्वकालिक या शाश्वत नीति और परिवर्तनशील या समकालिक नीति में विभाजित करना पडता है।

समकालिक नीति अधिक परिवर्तनशील हो सकती है और वही व्यवहार में नैतिक औचित्य का रूप ग्रहण करती है। नैतिक औचित्य काव्यप्रसंगों की स्थिति पर निर्भर करता है और वहाँ अनौचित्य होने पर रसाभास की स्थिति उपस्थित होती है। नैतिक औचित्य की कल्पना-धारणाओंमें काल, युग, समाज और सन्दर्भसापेक्षता के कारण अंतर आ जाता है। देवर-भाभी के परम्परागत आचार-नियमों का उलंघन आज एकदम अनौचित्यपूर्ण एवं अनैतिक बन जाता है पर संभवतः अतिप्राचीन काल में नहीं था। ऋग्वेदकालीन भाई-बहन के सम्बन्ध यमयमी के प्रसंग से व्यक्त होते हैं, वे आज सर्वथा अनैतिक माने जाते हैं। जूए में अपनी पत्नी को बेच डालना किसी काल में नैतिकता से पूर्ण रहा हो, पर आज सर्वथा अनैतिक माना जायेगा। नैतिकता की धारणाएँ युगीन प्रभाव तथा समकालीन सामाजिक स्थिति की अनुकूलता में प्रचलित रहीं और समय-समय पर परिवर्तित होती रहीं। नैतिक औचित्य-अनौचित्य के निर्णय के लिए समकालीन सामयिक प्रभाव एवं प्रसंगविशेष का संदर्भ महत्त्वपूर्ण होता है। अतः नीति-अनीति की कल्पनाओं की परिवर्तनशीलता का रसास्वाद से निकट सम्बन्ध है। रसभास के नैतिक आधार का संकेत तो प्राचीन आचार्यों के विवेचन में मिलता है परंतु उसका स्पष्टतः उल्लेख **डॉ. आनन्दप्रसाद दीक्षित** ने अपने ग्रंथ में किया है।[1]

१. रससिद्धान्त : स्वरूप–विश्लेषण, पृ. २३६

नैतिक औचित्य–अनौचित्य की दृष्टि से प्राचीन काव्यप्रसंगों पर कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। किसी प्राचीन काव्यप्रसंग में अभिव्यक्त नैतिक तत्त्वों के औचित्य-अनौचित्य की चर्चा आज के नैतिक मानदण्डों की कसौटी पर करना अनुचित होगा। आज का नवीन बोध-संस्कारयुक्त पाठक यदि कोई प्राचीन काव्यप्रसंग पढ़ता है तो नवीन युग-बोध, परिवर्तित नैतिक मानदण्डों एवं औचित्य–अनौचित्य के संकेतों से विपरीत अंकन उसमें वह पाता है। ऐसे स्थानों पर यदि वह अपनी इस नवीन बोधपरक दृष्टि से उसका रसास्वाद करेगा तो अवश्य ही रसाभास की स्थिति उत्पन्न होगी और यदि इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है तो सारा-का-सारा प्राचीन काव्य ही रसाभासात्मक, अनैतिक, अनुचित एवं त्याज्य ठहर जायेगा। यह स्थिति उचित नहीं है। वस्तुतः हर समय प्राचीन काव्य पढ़ते समय रसाभास की स्थिति उत्पन्न नहीं होती इसका प्रधान कारण पाठक या सहृदय की आस्वादन-प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है।

प्राचीन काव्यप्रसंग पढ़ते हुए पाठक के सम्मुख दो दृष्टियाँ हो सकती हैं। एक यह कि उस पूरे काव्यप्रसंग, उसमें अंकित भावों, विचारों आदि को तत्कालीन परिवेश तथा सन्दर्भ–विशेष की सापेक्षता में ही पढ़ा जाय। उस युग एवं स्थान की संगति में उसका आस्वाद करने पर ही रसात्मक बोध सफलता से प्राप्त हो सकता है। रामद्वारा सीतात्याग की प्राचीन घटना आज गलत एवं अन्यायकारी कही जा सकती है और उस प्रसंग पर रसात्मक बोध में कुछ अनुचितता का एहसास उत्पन्न होकर वह प्रसंग रसाभास उत्पन्न कर सकता है। उस करुण रसमय प्रसंग पर इस नवीन बोधपरक एहसास से क्रोध उत्पन्न हो सकता है। उस सन्दर्भ–विशेष में युगीन संकेतों एवं आदर्शों से विच्छिन्न रखकर काव्यप्रसंग रसास्वाद किया जाने पर रसाभास का अनुभव हो सकता है। अतः किसी भी काव्यप्रसंग को युगविशेष और सन्दर्भविशेष में रखकर ही देखना उचित होता है।

रसास्वाद में पाठक की दूसरी दृष्टि नितान्त भिन्न एवं व्यक्तिगत होती है। वह काव्यप्रसंगविशेष को उस काल, स्थल या सन्दर्भ से विच्छिन्न करके आज के संदर्भों में देखता है। यहाँ पर काव्यगत मूल्य की अपेक्षा सामाजिक मूल्य अधिक प्रभावी हो जाता है। परिणामस्वरूप पाठक को बहुत बार रसास्वाद में खटकनेवाली अनुचित, अनैतिक बातें उपस्थित-सी लगती हैं, जिससे रसाभास की स्थिति उत्पन्न होती है।

सन्दर्भविशेष में देखना और सामयिक बोध से संपन्न होना ये दो स्थितियाँ भिन्न होते हुए भी पाठक में हो सकती हैं। यदि पाठक नवीन बोध-संस्कारसंपन्न नहीं होगा तो आधुनिक काव्यगत प्रसंगों के आस्वादन में वही स्थिति उत्पन्न होगी जो पुराने प्रसंगों के संदर्भ में नवीन संस्कारयुक्त पाठक की हो सकती है। इस समस्या को सुलझाने का मार्ग एक ही है कि कलागत या काव्यगत युग, स्थिति एवं सन्दर्भ की सापेक्षता में रसानुभूति करना। ऐसे कतिपय प्रसंग एवं स्थल प्राचीन काव्य में

हो सकते हैं, जिन पर आज आपत्ति उठाई जा सकती हैं, फिर भी, ऐसे काव्य का रसास्वाद इसीलिए सम्भव होता है कि उस काव्य प्रसंग को पढ़ते समय कुछ क्षणों के-लिए ही क्यों न हो, पाठक उस कलाकृति में व्यक्त परिवेश में पहुँच जाता है और उसकी सापेक्षता में उसे अनौचित्य की प्रतीति नहीं होती। फिर वहाँ रसाभास का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। किंतु दूसरे प्रकार के पाठकों के लिए अधिकांश प्राचीन काव्य रसाभासात्मक ही होगा।

श्लीलता-अश्लीलता का प्रश्न भी इसी प्रकार की सापेक्षता रखता है। इन कल्पनाओं पर युग और समाज का प्रभाव अत्यधिक होता है। समाज में या रंगमंच पर मुक्त रूप से चुम्बनालिंगनादि क्रियाएँ भारतीय समाज में अश्लील एवं अनैतिक मानी जाती हैं, परंतु पाश्चात्यों में नहीं। शराब पीने जैसी बातें भारतीयों ने निषिद्ध मानीं, पाश्चात्यों ने नहीं। विदेशियों में पुरुषों के लिए ही नहीं, स्त्रियों के लिए भी व्यवहारोपचार (manners) के अन्तर्गत उनको स्थान है। वहाँ की जलवायु, स्थिति और पर्यावरण के साथ ही सामाजिक मान्यताएँ हमसे भिन्न होती हैं और इसी सन्दर्भ में उसकी अधिक महत्ता होती है।

श्लीलता-अश्लीलता का सम्बन्ध नैतिकता से ही नहीं, अन्य कुछ तत्वों से भी है। कबीर की नायिका की सेजमिलन की बात अनैतिक और अश्लील कैसे हो सकती है! सूर के मुरली और श्रीकृष्ण शृंगार के पद या वृक्षलतामिलन का शृंगारिक रूप अश्लील नहीं माना जा सकता। अतः वह वर्णन जिस सन्दर्भ में किया गया है, उस का विशेष स्मरण इस विचार में रखना पड़ता है। विशेष रूप से समय युग, स्थान (देश), संस्कृतिभिन्नता, सुरुचि और काव्यगत सन्दर्भ में ये बातें इस विषय से सम्बन्ध रखती है।

श्लीलता-अश्लीलता की कल्पनाएँ युगानुसार बदलती रहती हैं। प्राचीन काल, मध्यकाल और आधुनिक काल में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का काव्य में जो चित्रण हुआ है उस पर समकालीन स्थिति का प्रभाव अवश्यमेव है। नैतिकता, शिष्टता, लोकाचार, पावित्र्य-अपावित्र्यादि की कल्पनाओं में पीढ़ियों के अन्तर आने के कारण अश्लीलता की कल्पना में भी अन्तर आता है। स्थानभेद से संस्कृति में भिन्नत्व आता है। पाश्चात्यों में चुम्बनादि, अर्धनग्नता एवं स्त्री-पुरुष का मुक्त व्यवहार आदि में किसी प्रकार की अशिष्टता एवं भद्दापन प्रतीत नहीं होता, जहाँ भारतीय संस्कृति उसे निषिद्ध मानती है। कपडे, फॅशन्स, जीवनपद्धति, शिष्टाचार के नियम, आदर्श, व्यवहार की कल्पनाएँ आदि के विषय में स्थानभेद से जो अन्तर आता है, वह वस्तुतः समाज और संस्कृति से सम्बन्ध रखता है।

डॉ. हरदेव बाहरी श्लीलता–अश्लीलता को सुरुचि और संस्कृति का प्रश्न मानते

हैं, नैतिकता का नहीं।[१] सांस्कृतिक स्तर पर ही विशेष रूप से सुरुचि का विकास होता है। संस्कृति ही मानव को पशुत्व से ऊपर उठाकर, पाशविकता के अंशों को दूर करके बुद्धि, इच्छा आदि पर संस्कार करके उसका मानसिक पक्ष सबल करती है। अतः सांस्कृतिक स्तर भेद के कारण ही श्लीलता की कल्पना में भिन्नत्व उत्पन्न होता है। आयु-भेद के कारण भी श्लीलता के मानदण्ड बदलते हैं। बड़े-बूढ़ों या बच्चों की रुचि आदि में भिन्नता होती है। आयुवृद्धि के साथ परिपक्वता (maturity) आती है और उसका प्रभाव संस्कार पर होता है।

सुरुचिसम्पन्नता संस्कार और शिक्षा से उत्पन्न होती है। ग्रामीण-नागरी, शिक्षित-अशिक्षित समाज के शिष्ट-अशिष्ट संस्कारों के कारण वाणी भाषा और भाषाभिव्यक्ति में अन्तर आता है। परंतु वस्तुतः कलात्मकता ही साहित्य या कला की श्लीलता-अश्लीलता की प्रधान एवं सर्वोच्च कसौटी मानी जा सकती है। अतः कलात्मक (Aesthetic) स्तर पर पहुँचकर अभिव्यक्त अनुभूति में अश्लीलता का प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

विवाह के पश्चात् लडकी के ससुराल जाने के समय बिदाई का प्रसंग, माँ-बाप का दुःख, "अर्थोऽहि कन्या परकीय एव" कहकर पिता का मूक रोदन, अन्य सारे व्यक्तियों द्वारा भारी हृदय से उसे बिदा करना आदि पूरे प्रसंगों की उचित अभिव्यक्ति भारतीय रंगमंच पर काव्य में सार्थकता एवं रसमयता रखती है। पाश्चात्यों के लिए वही अनुभूति बिलकुल पराई होने के कारण रसोत्कट नहीं बन सकती। ऐसा दृश्य मंच पर प्रस्तुत होता देखकर भारतीय संस्कारसम्पन्न व्यक्ति रसोत्कटता का अनुभव करेगा। परंतु उसे यदि कोई योरोपीय देखे या योरोपीय संस्कारबद्ध कोई भारतीय देखे (जैसे ईसाई), तो रसास्वाद में अवश्य ही अन्तर आयेगा। उस प्रसंगविशेष के साथ जुड़े हुए संस्कारों एवं भावात्मक संकेतों से अपरिचित होनेके कारण उनको रसात्मक अनुभव नहीं हो सकता। अतः रसात्मक बोध में संस्कार की विशेष महत्ता होती है।

परिवर्तित समाजस्थिति एवं मानवजीवन के कारण पुराने नीतिनियमों, सिद्धान्तों और नैतिक औचित्य की कल्पनाओं को उसी रूप में स्वीकार करना कठिन हो जाता है। वर्ण, जाति आदि भेदों पर आधारित मध्यकालीन समाजरचना की संकीर्णता ने समाज में एक दरार-सी उत्पन्न की थी। अधमपात्र, हीन या शूद्र, चाण्डालादि पात्रों में रतिव्यंजना अनुचित मानी गई। इसका कारण तत्कालीन कुलीनता का आदर्श एवं उच्चता की ओर उनका विशेष रूख है। आज मानवीय समानता का युग है। आज का स्वतंत्र व्यक्ति पूछ सकता है कि क्या अधमपात्र को प्रेम करने का अधिकार नहीं है? क्या उसमें भी वे भावनाएँ और सहज प्रवृत्तियाँ नहीं

१. आलोचना १७—१९५६

होतीं ? केवल बाह्य भेदों के आधार पर भिन्नत्व या विषमता को आज सर्वथा त्याज्य एवं गर्हणीय माना जाता है। जाति-विघटन के इस काल में जाति, वर्ग, स्तर आदि की गरिमा को महत्ता देनेवाला व्यक्ति दकियानुसी कहलाएगा। अतः आज काव्य में औचित्य की मर्यादा के लिये जाति, वर्ण आदि का प्रश्न उपस्थित नहीं हो सकता।

प्राचीन काल में साहित्यचित्रण में आदर्श एवं उच्चता पर विशेष बल था। उच्चता और कुलीनता का आधार स्पष्टतः वर्णविभाजन था। अतः आचार्यों ने ऐसी कल्पनाएँ कीं और काव्य में तत्कालीन कुलीनता एवं उच्चता के आदर्श के विपरीत वर्णन त्याज्य एवं रसाभास के कारण माने। आज समता एवं स्वातंत्र्य के युग में इन बातों में विश्वास नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः औचित्य तो केवल मनोवैज्ञानिक तथ्य की माँग करता है। यदि एक उच्च वर्णीय और निम्नवर्णीय पात्र में परस्पर रति व्यंजित है तो ठीक है। एक इसमें कुछ अनौचित्य नहीं है, परंतु दोनों मानसिक और बौद्धिक स्तर तथा चारित्रिक उच्चता में समान हों। शृंगार को उत्तम प्रकृति मानने में आचार्यों ने जाति और वर्ण के अनुसार परिष्कृति की ओर संकेत किया है और उस जमाने में कुलीनता उच्च वर्ग में ही होती थी। अधमपात्रगत रति के प्रदर्शन से यदि ग्राम्यता, अशिष्टता के साथ ही गोपनीयता का अभाव भी उत्पन्न होता है तो वह प्रसंग अश्लील या अनुचित प्रतीत होकर रसाभास उत्पन्न करेगा। परंतु अधमता की कल्पना युगानुसार बदलती है।

इस विषय में दो दृष्टियाँ हो सकती हैं। एक पक्ष प्राचीन आदर्शों को स्वीकार कर रसास्वाद में ऐसे नये प्रसंगों पर आपत्ति उठायेगा और वहाँ रसाभास अनुभव करेगा। परंतु दूसरा पक्ष उस प्रसंगविशेष को उसी पृष्ठभूमि पर परखते हुए औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करेगा।

पौराणिक या ऐतिहासिक कुछ प्रसंग व्यक्ति एवं उनके कार्य उस काल के नैतिक आदर्श के रूप में स्थापित होकर संस्कृति का महान भाग ही बन जाते हैं, परंतु युगसापेक्षता में परिवर्तित जीवनस्थिति एवं सामाजिक मूल्यों के अनुसार उन नैतिक आदर्शों एवं व्यक्तियों के कार्यों पर आपत्ति उठायी जाती है और शंकाएँ उपस्थित की जाती हैं। अतः आज की दृष्टि में प्राचीन आदर्शों, प्रसंगों एवं व्यक्तियों के कार्यों को देखने में एक प्रकार का खतरा है, जिससे साधारणीकरण भी नहीं हो सकता और रसास्वाद भी नहीं।

अतः उन प्राचीन चारित्रों के कार्य एवं आदर्शों को आज की नैतिक कसौटी पर, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक धरातल पर अनुचित प्रमाणित करना उनके साथ अन्याय करना होगा। आज व्यक्तित्व के नये पहलू के दिग्दर्शन की अभिलाषा उत्पन्न हुई है, तथा नववाद से प्रेरित होकर किसी प्रसंग या व्यक्ति के पुनर्मूल्यांकन के नूतन प्रयत्न हो रहे हैं। व्यक्तित्व के किसी नये पहलू का उद्घाटन करने तथा पारम्परिक चरित्र को नितान्त विपरीत रूप में

प्रतिष्ठित करने का यत्न है। इस स्थिति में प्राचीन आदर्श एवं पूर्वग्रह को लेकर इस नई सर्जना की परीक्षा करना उतना ही खतरनाक होगा, जितना आज के नैतिक निकषों पर प्राचीन कृतियों ओर प्रसंगों की उचितता-अनुचितता का निर्णय करना।

परंतु नैतिक मूल्यों एवं औचित्य के सिद्धान्तों की पर्याप्त चर्चा करने के उपरान्त भी रसाभास के सन्दर्भ में एक प्रधान समस्या समक्ष आती है कि काव्यास्वाद में व्यावहारिक नैतिक मूल्यों एवं सामाजिक आचार के नियमों एवं औचित्य-अनौचित्य का सम्बन्ध हो या न हो ? फिर क्या समाजनियमों तथा नीति-धर्म आदि के बन्धनों में काव्य-साहित्य बन्द रहे ? यह कदापि उचित नहीं हो सकता कि व्यावहारिक नीतिनियमों तथा औचित्य-अनौचित्य की कल्पनाओं का नियंत्रण साहित्य पर रहे। साथही एक बात स्पष्ट है कि साहित्यिक या कलात्मक नीति व्यावहारिक नीति से सर्वथा भिन्नता रखती है। व्यावहारिक नीतिनियमों में जो बात अनैतिक कही जाती है, कदाचित् कलात्मक परिवेश में वह नैतिक हो सकती है। अतएव कलात्मक नीति को व्यावहारिक नीति के निकष पर कसना हानिकारक हो सकता है। व्यावहारिक नीतिनियमों के आधार पर काव्य को कसना उसे संकीर्ण कठघरे बंद करना होगा। नैतिकता एवं व्यावहारिक औचित्य के बंधनों का आतंक साहित्य और कला पर होने के कारण वह अपनी कलात्मकता एवं साहित्यिकता खोकर नीतितत्वों से परिपूर्ण उक्तियाँ या उपदेश मात्र रह जायेगा। तब तो केवल समाजहित ही साहित्य का प्रयोजन बनेगा और फिर सारे उपदेश-ग्रंथों का अन्तर्भाव साहित्य में करना पडेगा। वस्तुतः यह देखा जाता है कि नैतिकता, बोधपरकता एवं उपदेशात्मकता के कारण काव्य में इतिवृत्तात्मकता आ जाती है और रस की हानि तो होती ही है, साथ ही काव्यत्व का भी पूर्णतः हनन हो जाता है।

ध्यान रखना होगा कि काव्यसर्जना की प्रक्रिया में यद्यपि कवि-व्यक्तित्व पर नैतिक नीतिनियम अधिक्षेप नहीं कर सकते, परंतु परिवेशगत समसामयिक नैतिक धारणाओं और औचित्य की कल्पनाओं से वह पूर्णतः अछूता एवं अप्रभावित भी नहीं रह सकता। नीति के बन्धनों में पडकर काव्यसर्जना करने के प्रयास में उसकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है और रसमय काव्य की सृष्टि हो ही नहीं सकती। कवि का संप्रेष्य संपूर्ण काव्य होता है। अपनी समग्र इकाई (totality) लिये वह व्यक्त होता है। काव्य में रसनिष्पत्ति उसकी समग्रता में ही संभव है। अतः व्यावहारिक नैतिक मूल्यों की छाया काव्य में होते हुए भी, उन नैतिक बन्धनों के परे कलात्मक नैतिकता का वह सर्जक होता है और वही कलात्मक नैतिकता और औचित्य कला का वास्तविक निकष बन जाता है।

यह समग्रता एवं इकाई कलाकृति में अनुस्यूत है पर रसास्वाद की प्रक्रिया में इसके दो पक्ष विश्लेषित किए जा सकते हैं।

काव्य को पढ़ते ही कवि का सम्प्रेष्य, उद्देश्य, कथावस्तु या आशय और साधारण रूप में विषय प्रधानतया पाठक के सम्मुख आता है। वहाँ पात्रों के सन्दर्भ तथा

कथावस्तु के विषय में पाठक के मन में कुछ पूर्वसंस्कार या पूर्वग्रह बना रहता है। ऐसे समय उन पूर्वकल्पनाओं एवं संस्कारों के विपरीत वर्णन आने पर रसात्मक बोध में बाधा आ जाती है। यह बात सत्य होते हुए भी कि विषय, आशय या कथ्य ही कलाकृति का पूर्णत्व नहीं, काव्यास्वाद की प्रक्रिया में पाठक के मन पर प्रथम प्रभाव विषय का ही किसी-न-किसी रूप में होता है। अतः उस आशय के संदर्भ में पाठक की प्रतिक्रिया तुरंत होती है। व्यक्ति पर किसी संस्कृति, परिवेश, युग तथा समाज और धर्मादि के संस्कार होते हैं, नीतिनियमों के संस्कार बने हुए होते हैं और औचित्य की कल्पनाएँ स्थिर बनी हुई होती हैं। अतः उसके मन में इन सबके अनुकूल प्रतिक्रिया होगी और बहुत सम्भव है कि उनके विपरीत वर्णन होने पर रसास्वाद में कुछ खटकेगा और रसाभास का अनुभव होगा। जहाँ विषय या कथावस्तु में कोई पूर्वसंदर्भ नहीं है; पाठक की नैतिक कल्पनाओं को जिस चित्रण से कोई ठेस नहीं पहुँचती, वहाँ यह प्रश्न उपस्थित ही नहीं हो सकता। वहाँ तो केवल रसास्वाद की प्रक्रिया की सफलता कलात्मक नैतिकता और औचित्य की कसौटी पर अवलम्बित होगी।

अपने कथ्य या आशय को कवि किसी विशेष रूप से भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति देता है, वही काम अन्य कलाकार अन्य माध्यम से करते हैं। यह कलाकृति का कलापक्ष होता है। कलाकृति या काव्य एक समग्र इकाई है। उसको आशय और अभिव्यक्ति में पूर्णतः विभाजित नहीं किया जा सकता। एक ही काव्यकृति के वे दो समान धरातल पर स्थित आयाम हैं। पाठक को विषय का ज्ञान भले ही काव्यास्वाद के आरम्भ में होता हो, परंतु काव्यास्वाद की प्रक्रिया कवि-अनुभूति को अनुभूत करने में ही होती है। अतः जिस रूप में कवि ने अपने कथ्य को अभिव्यक्त किया है, वही रूपभंगिमा एवं कलात्मकता काव्यास्वाद-प्रक्रिया में प्रमुख हो जाती है। कवि अभिप्रेत आशय के रूपायन से कलात्मक बनी हुई वह कृति पढ़तेसमय पाठक को उस समग्र रूप में औचित्य एवं नैतिकता का अनुभव होता है और वह कृति औचित्यपूर्ण प्रतीत होने पर रसास्वाद में विघ्न नहीं आता तथा रसाभास भी उत्पन्न नहीं हो सकता। उस संपूर्ण कलारचना में यदि कलात्मक औचित्य की कहीं कमी प्रतीत होती है तो पाठक के आस्वाद में 'किरकिरी' आती है ओर रसाभास की स्थिति उत्पन्न होती है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि कवि किसी उद्देश्य से काव्य में प्राचीन सन्दर्भो या पात्रों को नितान्त नये रूप में, प्राचीनता के विपरीत किसी स्वभाव या चरित्रविशेष के रूप में प्रस्तुत करता हैं। किसी प्रसंगविशेष को अपने हेतु के अनुसार रूप देकर अंकित करता है। यदि ऐसे समय पाठक पूर्वग्रहदूषित दृष्टि से रसास्वाद करने लगे तो उसमें अनुचितता की प्रतीति होकर रस का आभास मात्र होगा। अतः ऐसे स्थलों पर पाठक

को अधिक सतर्कतापूर्वक एवं पूर्वग्रहरहित दृष्टि से काव्य का आस्वाद करना होगा, अन्यथा आस्वाद की प्रक्रिया में दोष उत्पन्न होने की सम्भावना होगी।

कवि ने जिस प्रकार के पात्र की सृष्टि की है, उसमें पारम्परिक नीतिनियमों का उल्लंघन हो सकता है, औचित्य के विपरीत कार्य भी दिखायी दे सकता है क्योंकि निर्मित पात्र कवि या साहित्यकार की अपनी अलग सृष्टि है। इस पात्र या प्रसंग को जिस रूप में कवि उपस्थित करना चाहते हैं, उसके अनुकूल भावादि का अंकन होना स्वाभाविक है और आवश्यक भी। वीर नायक को भय से काँपते हुए दिखाना परम्परा के विपरीत है और काव्य के औचित्यविचार की दृष्टि से सर्वथा अनुचित एवं रसाभास का कारण माना गया है। परंतु यदि कविद्वारा निर्मित पात्र का चरित्र ही ऐसा हो कि वीरता के अतिरिक्त कुछ विशेषताएँ भी कवि उसमें चित्रित करना चाहता है तब उस स्थिति में वीर में कँपकँपी भरना, काव्यगत प्रसंग या वातावरण की सापेक्षता में उचित ही होगा, अनुचित नहीं। अतएव स्पष्ट है कि कलात्मक औचित्य ही रसास्वाद का वास्तविक एवं प्रधान आधार है तथा उसका अभाव रसाभास की स्थिति उत्पन्न करता है।

कवि काव्यगत वीर-नायक की वीरता का वर्णन करते हुए विपक्षी नेता या शत्रु को भी उतना ही वीर चित्रित करता है परंतु उसमें कुटिलता व्यंजित करता है। विपक्षी पात्र का वीर होकर भी कुटिल होना वस्तुतः वीरनायक की परम्परा के शास्त्रीय संकेत के विपरीत है और सामाजिक आदर्श के विरोध में है, फिरभी वहाँ उस विपक्षी के वीरतापूर्ण प्रसंग से रसास्वाद की प्रक्रिया में सहायता मिलती है। रसाभास की स्थिति पाठक के लिये रसास्वाद में अपूर्णता या क्षीणता लानेवाली ही नहीं होती, बल्कि कविद्वारा प्रत्याशित एवं अभिप्रेत रसास्वाद के उत्कट अनुभूति-ग्रहण में सहायक बनती है। शत्रु की अटूट वीरता एवं उसके कुटिलतापूर्ण कार्य से नायक की वीरता चमक उठती है।

कलात्मक अनौचित्य कलाकार की भावभंगिमा की अस्पष्टता, अतिवायवीता और कृत्रिमता से उत्पन्न हो सकता है। यदि कथ्यगत अनुभूति कवि द्वारा पूर्णतः अनुभूत नहीं होती है और वह अपनी अनुभूति को वैश्विक वस्तुरूप देकर अभिव्यक्त करनेमें यदि सफल नहीं बनता है तो वह आरोपित अनुभूति पाठकों को रसात्मक आस्वाद नहीं दे सकती। इस बात की ओर संकेत करते हुए **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने लिखा है, "आरोपित भाव यदि कवि अनुभव नहीं करता, कल्पना द्वारा लाता है, यदि कवि का भाव ही उदासीन है या अनौचित्य ज्ञान के कारण विरक्त है, तो आश्रय के भाव का वह केवल आरोपित या आहार्य रूप में करता है।"[1] अतिकाल्पनिकता और अतिवायवीयता आ जानेसे कवि-कल्पना आस्वाद्य नहीं बन

१. रसमीमांसा, पृ. ९१

सकती। अतिरंजकता और व्यक्तिनिष्ठता के कारण भी रसात्मक आस्वाद में पाठक को कुछ खटकता है और रसाभास की स्थिति उत्पन्न होती है। अतः कवि की भावभंगिमा और अभिव्यक्ति का कौशल रसास्वाद में सहायक होता है, अन्यथा कलात्मक अभिव्यक्ति में अनौचित्य आ जाने क कारण रसाभास उत्पन्न होता है।

किसी नायक-नायिका के रतिवर्णन में नायक रति प्रदर्शित करता हो पर यदि नायिका उदासीन ही हो तो उस स्थिति में पाठक शृंगार रस का आस्वाद नहीं कर सकता। वीर पुरुष की वीरता का वर्णन कवि करता हो और प्रतिद्वंद्वी दुर्बल हो या हाथ जोडे बैठा हो, तो पाठक को उक्त प्रसंग में वीर रस की अनुभूति प्राप्त नहीं हो सकती। प्राचीन आचार्यों ने आलम्बनगत क्षीणता या अनौचित्य के रूप में इस कमी को निर्देशित किया हैं। कवि द्वारा चित्रित प्रसंगगत विशेषताओं में विपरीतता आ जानेसे भी रसात्मक बोध में बाधा पहुँच सकती हैं। प्रेम, भय और आश्चर्य तीनों स्थितियों में मनुष्य में कँप-कँपी उत्पन्न हो सकती है। यदि इस स्थिति के चित्रण में कहीं अभाव या असंगति आ जाय तो अवश्य ही रसाभास की स्थिति उत्पन्न होगी।

सामाजिक या व्यावहारिक नीति-अनीति की कल्पनाओं और औचित्य-अनौचित्य के निर्णयों की पृष्ठभूमि में भावी अनिष्टताओं और हानियों से बचने की प्रवृत्ति होती है। काव्यगत या कलात्मक नैतिकता में हानि-लाभ का व्यावहारिक स्तर छूट जाता है और नितान्त कलात्मक स्तरपर निर्णय किया जाता है। कवि अपने कथ्य को वस्तुगत रूप में अभिव्यक्त करके पाठकतक पहुँचाता है। यदि कलाकृतिगत कवि-अनुभूति पाठक की अपनी अनुभूति बन जाने में सक्षम है तो वही कला का वास्तविक निकष है। उस समग्र कलाकृति के अन्तर्गत स्थित औचित्य और नैतिकता ही कलात्मक औचित्य होगा, जो रसास्वाद के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। प्रसाद के "धृवस्वामिनी" नाटक में चन्द्रगुप्त रामगुप्त को मारकर धृवस्वामिनी से विवाह करता है। क्या सामाजिक नैतिकता से चन्द्रगुप्त के कार्य की उचितता प्रमाणित हो सकती है? कदापि नहीं। परंतु काव्यप्रसंग में उसका कार्य कलागत, औचित्य और कलात्मक नैतिकता से पूर्ण है। कलागत नैतिकता देशकालपरिस्थिति की सापेक्षता न रखते हुए, सन्दर्भविशेष की सापेक्षता रखती है।

अतएव कलात्मक औचित्य ही रसास्वाद का प्रधान आधार है और वही औचित्य कलाकृति के सन्दर्भ में पाठक की मनस्थिति को अनुकूल तथा प्रतिकूल बनाकर रसास्वाद कराने में सहायक होता है। कलात्मक औचित्य को पाठक की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक ठोस आधार प्राप्त होता है। काव्य पढ़ते समय काव्यगत आशय और अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में पाठक की एक विशेष मनस्थिति बनने लगती है और उसमें यदि कलात्मक स्तरपर कोई बात नहीं खटकती है, तो वह रसप्रतीति कर सकता है, अन्यथा नहीं।

काव्यास्वाद के समय पाठक का निर्वैयक्तिक (impersonal) बनना और व्यक्तिगतता के परे कलात्मक स्तरपर काव्य का आस्वादन करना रसास्वाद में प्रधान माना गया है परंतु स्पष्ट है कि पाठक की आयु, रुचि, संस्कार आदि बातें रसास्वाद में कुछ प्रभाव डालती हैं। छोटा बालक शृंगार का आस्वाद नहीं कर सकता अतः उसकी आयु के अनुसार शृंगार रसमय काव्य उसके लिए रसाभासमय होगा। कोई गंभीर विद्वान अद्‌भुत रसानुभूति नहीं कर सकता। एक नास्तिक के लिए भक्तिरस का आस्वाद पूर्णतः प्राप्त नहीं हो सकता। पाठक जब काव्य में सर्वसाधारण व्यावहारिक औचित्य के विपरीत बातें पाता है, तो उसका मन उन्हें स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं रहता। बूढे में रति होना, कायर में वीरता होना मनोविज्ञान की दृष्टि से कुछ असंगत है और अस्वाभाविक भी। अतः यदि काव्यप्रसंग में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित बातें चित्रित की जाती हैं तो पाठक की मनस्थिति प्रतिकूल बनती है और कुछ खटकने से रसास्वाद में अपूर्णता आती है। मनोविज्ञान से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि मनुष्य की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को कोई प्रेरक (stimulus) आवश्यक होता है। आयुवृद्धि के साथ मानवी भावों का उन्मेष, उसके कारण एवं उसकी प्रतिक्रियाएँ आदि भिन्न होते हैं। वय और समाजगत स्थान (status) के अनुकूल काव्य में वर्णन होनेसे कलात्मक औचित्य की रक्षा होती है, अन्यथा नहीं। उसके विपरीत चित्रण होनेसे अनौचित्य उत्पन्न होता है और रसास्वाद में बाधा उत्पन्न होती है। इतना ही नहीं, वह वर्णन मनुष्य की मानसिक विकृति (mental conflict) और अवमानवीय मनोवैज्ञान का प्रश्न बन जाता है।

कवि काव्य में एक अत्यंत सुशीला एवं सहृदया परंतु कुरूप नायिका के वर्णन-द्वारा रति व्यंजित करते हैं। यहाँ रसास्वाद में पाठक की मनस्थिति कैसी होगी इस पर यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो कहा जा सकता है, मनोविज्ञान से यह बात मान्य है कि प्रेम के आंतरिक स्वरूप, गरिमा एवं महानता को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य में रूपाकर्षण का मोह तथा सौंदर्य का आकर्षण मूलतः होता है। अतः कुरूपा नायिका का वर्णन पढ़ते समय पाठक को मानसिक ग्लानि या घृणा का अनुभव होता है और उस प्रसंग में वह शृंगार रस का अनुभव नहीं कर सकता। काव्यगत पात्रों और प्रसंगों का अनुभव करते समय पाठक का मन व्यवहार में पायी जानेवाली सामान्य बातों एवं घटनाओं के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक धरातलपर कार्यशील रहता है। कवि द्वारा उपस्थित पात्रों, घटनाओं और चरित्रों के अनुकूल भावों, विभावों, अनुभावों आदि का चित्रण होना चाहिए, अन्यथा रसाभास की स्थिति उत्पन्न होगी।

परंतु पाठक की मनस्थिति अनुकूल होने के लिए फिर वही आधार ग्रहण करना पडेगा जो कवि के कथ्य और अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में बताया जा चुका है। कवि परम्परागत निम्न या उपेक्षणीय पात्र को लेकर सर्वथा नये दृष्टिकोण से सर्जना

करता है, उस समय उस प्राचीन पात्र को नितान्त नया रूप देकर नये व्यक्तित्व में ढालने में कवि की अपनी सर्जकता होती है। कर्ण, एकलव्य, रावण, कुन्ती, कैकेयी ऐसे कतिपय पात्रों को कवि द्वारा नूतनतम रूप में चित्रित किया गया है। वहाँ कवि के प्रधान उद्देश्य को समझना पडेगा। और पूर्वग्रह से रहित नितान्त कलात्मक दृष्टि अपना कर पाठक यदि उसका ग्रहण करेगा तो उसें पढ़नेके उपरान्त पाठक पर उसका अनुकूल परिणाम हो सकता हैं। पाठक उस काव्य को पढ़ना आरम्भ करता है तो प्रथमतः कर्ण या रावण के प्रति उसका पूर्वसंस्कार जाग्रत होकर रसाभास उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। अतः निरपेक्ष वृत्तिसे आस्वादन की महत्ता है। केवल ऐतिहासिक और पुराणकालीन पात्रों के साथ नये सन्दर्भ जोडकर कवि उपस्थित नहीं करते हैं, अपितु कुछ नये पात्र और प्रसंग भी कवि द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। जब कवि की उस पात्र के प्रति सहानुभूति होती हैं तब पाठक को भी संपूर्ण काव्य में अनुकूलत प्रतीत होती है। वस्तुतः सहानुभूतिपर ही रस का आस्वाद अवलम्बित होता है। नायक-नायिका के प्रणयप्रसंग में चित्रित शृंगार के विषय में भी इसका अनुभव पाठक कर सकता है। रावण और सीता में रतिव्यंजना अस्वीकार क्यों है ? वहाँ पाठक की सहानुभूति सीता की ओर होती है। शूर्पणखा और राम के प्रसंग में राम के प्रति श्रद्धा होने के कारण शूर्पणखा घृणा का पात्र बनती है और शृंगार रस के बदले रसाभास का अनुभव होता है। अतः जिस पात्रके प्रति पाठक के मन में अनुकूलता उत्पन्न होती है, उसके अनुसार रस का आस्वाद सुलभ एवं निर्विघ्न हो सकता है। एकाध विदूषक रास्ते में किसी सुन्दरी से प्रेमयाचना करता हो तो वहाँ शृंगार रसके बदले हास्य ही उत्पन्न होगा। अशोकवन में सीता के प्रति रावण की रतिव्यंजना शोक उत्पन्न करता है, शृंगार रस नहीं। यहाँ प्रसंगविशेष के सन्दर्भ में पाठक की सहानुभूति सीता की ओर है। अतः उसे भय या त्रास से परिपूर्ण अनुभूति ही होती है। इससे प्रमाणित होता है कि रसाभास का प्रधान आधार काव्यगत सन्दर्भ और उससे उत्पन्न पाठक की सहानुभूति है। कवि के द्वारा निर्मित व्यक्तित्व को कवि के उद्देश्य, रचना कौशल और काव्यगत संदर्भ के साथ परखकर औचित्य का निर्णय करना उचित होगा, अन्यथा विपरीत प्रभाव होकर रसाभास उत्पन्न होगा। इस दिशा में पाठक को अत्यंत सावधानी बरतनी होगी।

कवि द्वारा अभिव्यक्त ऐसे वर्णनों में यदि अभिधात्मक पद्धति का स्वीकार है तो रसास्वाद सरलतम हो सकता है और उसके उद्देश्य को सहज ही समझ सकने के कारण रसाभास की संभावना कम रहती है। परंतु यदि व्यंग्यात्मक ढंग से उसे प्रस्तुत किया गया हो या वक्रतापूर्ण चित्रण हो तो ग्रंथ की समाप्ति के पश्चात् पाठक के मन में अनुकूल भाव उत्पन्न होगा। कवि दिनकरजी के "रश्मिरथी" काव्य में पहले सें अंततक कर्ण के चरित्र को अत्यधिक ऊँचा उठाया है और सरलतम ढंग से चित्रित किया

गया है। कवि का उद्देश्य प्रथम से ही स्पष्ट हो जाता है और काव्य में अंकित कर्ण के व्यक्तित्व की महानता की सापेक्षता में, उस सन्दर्भगत सारे प्रसंग औचित्यपूर्ण एवं नैतिक लगते हैं, यहाँतक कि पाण्डवों के विपक्ष में उसका लड़ना उचित जान पडता है और कहीं रसाभास की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। "रावण महाकाव्य" में वैसी ही स्थिति है।

फिर कवि की यह जो नितांत नवीन सृष्टि है, वह उसकी अपनी है। उसके पात्र, प्रसंग और सन्दर्भ कला के रूप में समग्र इकाई बन जाते हैं और तब फिर व्यावहारिक स्तर की नैतिकता या औचित्य छूटकर कलात्मक औचित्य सामने आ जाता है। फिर यदि कोई वीर भय से काँपता है, कायर शूरता दिखाता है, राजा भीख माँगता है तो भी काव्यगत सन्दर्भ की सापेक्षता में वह उचित हो सकता है। उदाहरण के लिए शेक्सपीयर के नाटकों के पात्रों को लिया जा सकता है। मॅकबेथ वीर है, फिर भी खून से लथ पथ हाथोंसहित भयभीत रूप में उसका चित्रण है। आयागो भी वीर सैनिक के रूप में चित्रित है। परम्परा की दृष्टि से देखा जाय तो वीर पुरुष में कुटिलता, छल-कपट होना अनुचित एवं अनैतिक माना गया है। परंतु उस पात्र-विशेष को नाटक के सन्दर्भ में रखकर देखने से उसमें होनेवाली कुटिलता पाठक को नहीं खटकती और वह काव्यप्रसंग प्रभावी एवं उत्कट बन जाता है। उस पात्रविशेष के चरित्रविकास के सन्दर्भ में यदि कुये बातें संगति रखती हैं तो वहाँ अनौचित्य उत्पन्न नहीं होता। हत्या के उपरांत मॅकबेथ के मन में भय उत्पन्न होना, उसके व्यक्तित्व में धब्बा नहीं बल्कि यह व्यावहारिक अनौचित्य कलागत औचित्य बनकर कविद्वारा चित्रित वह व्यक्तित्व सफल एवं रसमय बन जाता है। हॅम्लेट के प्रतिशोधपूर्ण कार्य एवं प्रलाप निंद्य एवं अनुचित प्रमाणित नहीं होते बल्कि उसके काव्यगत चरित्र को उभारने में सहायक होते हैं। अतः वहाँ अनौचित्य उत्पन्न नहीं होता। आज कवियोंद्वारा मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की दृष्टि से मानव के अंतर्जगत के उद्‌घाटन का प्रयास किया जाता है। जहाँ चेतन, अवचेतन गत क्रिया-प्रतिक्रियाओं को कभी सीधे ढंग से तो कभी वक्रतापूर्ण तरीके से उद्‌घाटित किया जाता है, तब वहाँ उसमें कलात्मक औचित्य की ही अपेक्षा रहती है, व्यावहारिक औचित्य की नहीं। अतः उस चरित्रविशेष के सन्दर्भ में वह चित्रण अत्यन्त संगत, स्वाभाविक एवं औचित्यपूर्ण लगता है और रसास्वाद में सहायक होता है।

रसाभास के विचार में सामाजिक एवं नैतिक औचित्य–अनौचित्य के विचार के साथ धार्मिक एवं राजनैतिक परिवर्तनशीलता का भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। किसी विदेशी शासन के कारण उत्पन्न स्थिति की सापेक्षता में समकालीन काव्य में जो चित्रण होता है, उसके बारे में समसामयिक पाठकों का अनुभव भिन्न होता है। अंग्रेज़ शासनकाल में अंग्रेज़ों की प्रशंसा में लिखा गया काव्य

आज किसी अंग्रेज़ के और भारतीय के मन में रसास्वादात्मक भिन्न अनुभव उत्पन्न करेगा। उस काव्यप्रसंग में रसविशेष का अनुभव करते हुए भी, किसी कारणवश भारतीय पाठक उसका आस्वाद नहीं कर कसता। परस्पर वैमनस्य के कारण एक ही काव्य एक के लिए रसात्मक अनुभूति जगा सकता है तो किसी दूसरे में नहीं।

परंतु इतिहास नित्य ही मोड़ लेता है। दो संघर्षशील जातियों के काव्य परस्पर को रसास्वाद करानेमें समकालीन स्थिति में सक्षम न भी हो परंतु अगर कुछ कालान्तर से यह संघर्ष जब फीका पड़ जाता है तो सभी प्रकार के पाठकों को बिना कोई बात खटके, रसानुभूति होनी चाहिए। अन्यथा उस काव्य में कुछ कमी होने की संभावना है। सफल काव्य वही है, जो अपने कलात्मक औचित्य से परिपूर्ण समग्र इकाई सहित किसी-भी युग अथवा समाज के पाठक को आस्वाद्य बन सके।

काव्य में मानवपात्रों के भावों, संवेदनों और अभिव्यक्तियों के स्थानपर वनस्पतियों और पशुपक्षियों के चित्रण रसास्वाद में आपत्ति उठाई जाती है। प्राचीन काल में मानव का जीवन प्रकृति के सन्निध था और तबसे अपने निकटतम प्राकृतिक सौंदर्य में वह अपने भावों तथा संवेदनों की झाँकी देखता आया है। जीवनानुभूतियों को सजानेके लिए उद्दीपन रूप में कवियों ने भी साहित्य में प्रकृति को स्थान दिया है। प्रकृति उनके जीवन की निकटतम सहचरी रही और सुख-दुःख में उनका साथ देती रही। प्राचीन कवि ने नायिका के विरहवर्णन में बादलों को रूलाया, बारिश को बुलाया। पर आधुनिक प्रगत जीवन और सभ्यता के कारण विकसित एवं कृत्रिम जीवन में मानव प्रकृति से अधिकाधिक दूर जाता हुआ उसकी ओर आकर्षित भी होता जा रहा है। प्रकृति के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध एवं साहचर्य के स्थान पर कुतूहल जागृत हुआ है। वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक आविष्कारों के कारण जो ज्ञान उसे हुआ है, उसके फलस्वरूप वह प्रकृति में 'व्यक्तित्व' की झाँकी देखने लगा। उसमें सजीवता, सुखदुःखात्मकता का अस्तित्व मानकर कवि की कौशलपूर्ण सर्जनाशक्ति प्रकृति को स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान कर सूक्ष्म एवं संवेदनाक्षम बनाती रही। विशेष रूप में छायावादी कवियों ने प्रकृति का मानवरूप में वर्णन कर उसे स्त्री का और बिराट विश्वदेव का व्यक्तित्व प्रदान किया। प्रकृति के टूटे हुए निकट संपर्क को आज पुनः मानवजीवन से जोडते हुए उससे सम्बन्ध स्थापित करनेका प्रयत्न कवियों ने मानवीकरण के द्वारा किया है। फलस्वरूप प्राकृतिक उपकरणों में हावभाव-अनुभावादि की सफल व्यंजना कर काव्यसर्जना की जाती है।

ऐसे वर्णनों एवं प्रसंगों के विषय में वही समस्या पुनः उठती है और औचित्य पर प्रश्नचिन्ह लगाया जाता है। प्रकृतिवर्णनपरक प्रसंग जहाँ केवल उद्दीपक रूप में ही

चित्रित होते हैं, वहाँ रसमयता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। परंतु प्रकृति में चेतनत्व का अभाव होता है फिर भावों की उत्पत्ति, प्रकाशन और रसनिष्पत्ति करनेकी क्षमता उसमें कैसे आ सकती है? जब काव्य में प्रकृति को रूपक या अन्योक्ति के सहारे मानवीकरण के रूप में चित्रित किया जाय, तब उसमें पर्याप्त चेतनता, सेंद्रियता और संवेदनक्षमता उत्पन्न हो सकती है। अर्थात् यह कवि के कौशलपर निर्भर रहेगा। काव्य एक प्रकार की पुनःसृष्टि है, जो कवि की सर्जनात्मक क्षमता की उपज होती है। यदि कवि प्रकृति को भावुक, कार्यशील (active) और प्रभावी बनाने में सफल होता है तो साधारणीकरण के लिए भी कठिनाई पैदा नहीं हो सकती और काव्यास्वाद में भी बाधा उत्पन्न नहीं हो सकती।

मेघदूत में मेघ को दूत के रूप में व्यंजित करके जो रसात्मक काव्यसर्जन कालिदास ने किया है क्या उसकी प्रभाविता एवं रसात्मकता पर कोई आपत्ति उठा सकता है? निराला की "जूही की कली" में संयोग शृंगार की इतनी उत्कट व्यंजना है कि पाठक उसका आस्वाद करते हुए उसे किसी प्रकार अनुचित नहीं मानता। कवि अन्योक्ति, रूपक आदि के सहारे, ध्वन्यात्मकता के द्वारा रसात्मक सफल अभिव्यक्ति करता है।

जब प्रकृति में रति आदि भावों की व्यंजना होती है, तब उसके रसास्वाद में पाठक को प्रकृतिगत भावों का आस्वादन नहीं करते, बल्कि उनके माध्यम से मानव के भावों और अनुभूतियों का संस्पर्श उनको होता है। प्रकृति वहाँ साधन मात्र बन जाती है, पाठक को अन्ततः प्रतीति मानवीय भावों की ही होती है। ऐसी स्थिति में रसाभास ही उत्पन्न होता है। परंतु जहाँ कवि की सर्जनाशक्ति ने रूपक, अन्योक्तिद्वारा प्रकृति को ही रसात्मकता बोधतक पहुँचाया है, वहाँ रसाभास की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। उस स्थिति में रसात्मक बोध संभव है।

पशुपक्षियों की भी ऐसी कतिपय कहानियाँ हैं, जो उनके वास्तविक जीवन का परिचय कराती हैं। उनके द्वारा मानवसदृश भावभावनाओं, वासनाओं से युक्त जीवन का परिचय होता है। पशुजीवन की रति आदि की अभिव्यक्ति काव्यास्वाद में बाधक माननेका कारण यह हो सकता है कि उनमें भावप्रकाशन का अभाव, बुद्धिमत्ता की अक्षमता, और शिष्टता एवं संस्कार की सर्वथा कमी रहती है। परंतु आधुनिक काल में तो यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि हास्य एवं विस्मयादि के अतिरिक्त अन्य सारे भावों का उदय एवं अभिव्यक्ति पशुपक्षियों में संभव है। चकवाचकवी, चातक, हंस, चेतक, शेर आदि को प्राचीन कवियों ने उद्दीपक रूप में ग्रहण किया था। परंतु आज काव्य में वे आश्रय-आलम्बन बन गये हैं। आज न वे मानवजीवन की अनुभूतियों का संकेत मात्र करानेमें सहायक हैं, बल्कि स्वयं वीरता, भय, प्रेम, क्रोध

आदि कई भावों का प्रभावपूर्ण, उत्कट तथा हृद्य दर्शन कराते हैं। शिकारकथाएँ तथा पशुजगत से सम्बन्धित अन्य कथाएँ (जैसे मृग, सिंह आदि के परिवारगत सम्बन्धों की कथाएँ) मानवजीवन का प्रतीक ही नहीं बनतीं, बल्कि उनके मनोभावों को साहित्य के स्तरपर उपस्थित करती हैं। ऐसी कथाओं एवं वर्णनों के प्रति पाठक उदासीन नहीं रहता, भावविभोर होता है।

फिर ऐसे वर्णनों से उसे रसानुभव प्राप्त नहीं हो सकता इसका प्रधान कारण यही है कि इन कथाओं द्वारा मानवमन की रति आदि ही व्यक्त होती है, साथ ही पशुपक्षियों में भावाभिव्यक्ति और कार्य की निश्चितता एवं सूक्ष्मता का अभाव रहता है। अतः उन्हें रंगमंचपर प्रस्तुत करना और काव्य में दृश्यात्मक स्वरूप में लाना कठिन होता है। भाव, अनुभावादि की व्यंजना वहाँ कठिन है और कविकौशल से की भी जाय तो अस्पष्ट एवं सूक्ष्म होती है। रसपरिपोष के लिए जिस प्रकार की गहनता की आवश्यकता होती है, उसका अभाव वहाँ होता है। पशुपक्षियों के रतिभाव की अभिव्यक्ति को लक्ष्य करते हुए **आचार्य शुक्ल** ने लिखा है, "आचार्यों ने तिर्यक्विषयक रतिभाव का जो उल्लेख रसाभास के भीतर किया, उससे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि जिस भाव के प्रति कवि या श्रोता का मन उदासीन है, उसको भी रसाभास या भावाभास के भीतर ही रखना चाहते थे। मृगी के प्रति मृग जिस रति-भाव का अनुभव करता है, वह अनुचित नहीं, बात यह है कि मृगी-रूपी आलम्बन में मनुष्य श्रोता या पाठक अपने दाम्पत्य रति की पूर्ण चरितार्थता का अनुभव नहीं कर सकता।"[1]

अतएव प्रकृति और पशुओं में व्यंजित रति आदि की योजना कविकौशल से रूपकादि द्वारा होने पर रसाभास के अंतर्गत नहीं आती, इसका आधार भी कलात्मक औचित्य ही है।

उपर्युक्त विवेचन के आधारपर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रसाभास का प्रधान आधार नैतिक एवं सामाजिक औचित्य ही है। परंतु सामाजिक नैतिकता से कलात्मक नैतिकता एवं औचित्य भिन्न है तथा रसाभास के संदर्भ में यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। काव्य या कलाकृति के आस्वाद में पाठक को खटकनेवाली बातें सामाजिक आदर्श, नैतिकता एवं पूर्वपरम्परागत संकेतों से कुछ सम्बन्ध तो रखती हैं परंतु विशेषतः उनका सम्बन्ध कलात्मक औचित्य से होता है। कलात्मक औचित्य कलाकार या कवि का उद्देश्य और अभिव्यक्ति-कौशलपर निर्भर रहता है। विशेष काव्यप्रसंग के संदर्भ में पाठक के मन की प्रतिक्रिया मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुकूल बनती जाती है। उसके मन में किसी पात्रविशेष के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है और उसक अनुसार रसास्वाद या रसाभास की स्थिति उत्पन्न होती है। व्यावहारिक

१. रसमीमांसा, पृ. १५२

औचित्य की कल्पनाएँ देश, व्यक्ति, संस्कार, और सन्दर्भ की सापेक्षता में भिन्नता रखती हैं, पर कलात्मक औचित्य सार्वजनीनता रखता है। कला के सन्दर्भ में औचित्य का निर्वाह रसास्वाद की दृष्टि से प्रधानतम है, अन्यथा रसाभास ही उत्पन्न होता है।

■ ■

उपसंहार

समाजशास्त्र (Sociology), समाजमनोविज्ञान (Social Psychology), नीतिशास्त्र (Ethics), दैवतशास्त्र (Mythology), मानववंशशास्त्र (Anthropology) आदि विभिन्न सामाजिक शास्त्रों का मूल उत्स मानव का जीवन है। अतः मानव–जीवन से उनका निकट सम्बन्ध है और मानवसमाज ही उनकी आधारशिला है। इसी कारण रससिद्धान्त का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करनेके इस शोध कार्य में उपर्युक्त शास्त्रों से सहायता ग्रहण करनी पडी। इस मूल्यांकन के फलस्वरूप निष्कर्षतः कुछ बातें उपस्थित होती हैं।

कला, शास्त्र, साहित्य और समाज मानवनिर्मित है। मानव का जीवन आनुवंशिक विशेषताओं के अतिरिक्त पर्यावरण से प्रतिबद्ध होता है। मानवकृत पर्यावरण में समाज सबसे महत्त्वपूर्ण है जो मानवनिर्मित होते हुए भी मानव पर नियंत्रण करता है। अतः मानव और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। समाजविरहित मानवजीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। मानवकृत कलासर्जना पर समाज का प्रभाव किसी-न-किसी अंश में पडता ही है। अतः समाज और साहित्य का भी अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। कवि या कलाकार समाज का एक अंग है। उसकी अनुभूति का उससे अपने परिवेश से प्राप्त होना अपरिहार्य है। सामाजिक पर्यावरण के अन्तर्गत राजनीति, धर्म, समाज-व्यवस्था तथा विभिन्न विचारप्रवाहों के फलस्वरूप परिवर्तन आते हैं, जो साहित्य को नित्य ही प्रभावित करते हैं। शास्त्र भी मानव की प्रज्ञा से निर्मित होनेके कारण सामाजिक पर्यावरण से अतीव दूर नहीं हो सकता। इससे सामाजिक दृष्टि का शास्त्रीय सिद्धान्त से सम्बन्ध प्रमाणित हो जाता है।

रससिद्धान्त के प्राणाधार भाव हैं। मनोविज्ञान के अतिरिक्त मानववंशशास्त्र भी भावोन्मेष, भावविकास एवं भावाभिव्यंजना के अध्ययन में उपयुक्त सिद्ध होता है। आदिमानव से आज के मानव तक जीवन-विकासयात्रा के अध्ययन के फलस्वरूप

प्रमाणित हो जाता है कि मनुष्य को आदिम स्थिति में अकेलेपन का, विकास के प्रथम चरणपर ही द्वैत स्थिति का और तत्पश्चात् विकास के साथ समाज के अभिन्न अंग होनेका अनुभव हुआ। व्यष्टि से समष्टि की ओर मानव जीवन-विकास के साथ उसमें भावों का उदय एवं विकास हुआ। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ नये-नये भावों का उन्मेष हुआ, पूर्ववर्ती भावों के प्रेरकों (stimulii) में अंतर आया, कुछ भाव फीके पडते गये, कुछ तीव्र हुए। भावों में सम्मिश्रता एवं सूक्ष्मता आती गई। आरम्भ की स्थिति में भय, क्रोध एवं काम स्थूल प्राथमिक रूप में मनुष्य में उदित हुए, परन्तु सभ्यता और संस्कृति, सामाजिक पर्यावरण और मानव के परस्पर सम्पर्क सम्बन्ध के फलस्वरूप मानवजीवन का भावविश्व अधिकाधिक व्यापक एवं परिष्कृत बनता गया। समाजजीवन में अर्जित सौंदर्यदृष्टि, कलात्मक सर्जना एवं धर्मादि आस्थाओं ने उसके भावजगत् को प्रभावित एवं परिवर्तित किया है। भावोन्मेष, भावविकास एवं भावाभिव्यंजन की प्रक्रिया एवं परिवर्तनशीलता को देखनेपर प्रतीत होता है कि रससूत्र के भाव-विभाव-अनुभावादि की व्याख्या का यह आधार हो सकता है। अष्ट स्थायी भावों की स्वीकृति का प्रधान आधार सामाजिक श्रेय है। विभाव, आलम्बन, उद्दीपन को स्थिर मानना और अमुक रस का अमुक विभाव बताना युक्त नहीं; औचित्य ही उसकी वास्तविक कसौटी हो सकती है।

रससूत्र की चर्चा का ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुए उसे समकालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परखने पर कुछ विशेष तथ्य सामने आये हैं। समकालीन समाज जीवन एवं मानवजीवन की आदर्श दृष्टि इस विकासक्रम में स्पष्ट है। भरतमुनि सुधारवादी आचार्य थे, परन्तु वैदिक प्रभाव एवं युगीन प्रभाव और समाजस्थिति की प्रेरणा एवं मान्यताओं का प्रभाव उन पर अवश्य है। गुप्त-हर्षकाल के पश्चात् एकछत्र साम्राज्य की विरासत में प्राप्त दरबारी प्रभाव, सम्पन्न काव्यसाहित्य की उपलब्धि और दार्शनिक मतवादों के विकास के फलस्वरूप काव्यचर्चा दो धाराओं में बही। काव्य की चर्चा अलंकारादि के सन्दर्भ में विशेष हुई और कुछ आचार्य भरत के सूत्र को तार्किक मतवाद से सुलझाने में व्यस्त रहे। अतएव रस का स्थान इस काल में अपेक्षाकृत गौण हुआ, पर रस का विरोध किसीने नहीं किया। वंशीय राजसत्ता, राज्यविघटन और सामन्तवादी समाज में उत्पन्न अराजकता से और दार्शनिक क्रांति के प्रभावस्वरूप तंत्रवादादि की भी अतीवता से तत्कालीन रसचर्चा दार्शनिक मतवाद के आवरण में वेष्टित हुई और ध्वनिसिद्धान्त के सहारे उसे बल मिला। व्यंजना पर विशेष बल देनेसे काव्य की महत्ता बढ़ी। समकालीन समग्र रसचर्चा में दार्शनिक प्रभाव एवं आध्यात्मिकता के कारण सूक्ष्मता आई। नाट्यरस और काव्यरस का मिलनबिंदु और रस की विषयीगत चर्चा का आरम्भस्थल यही है। इसके पश्चात् रससूत्र की व्याख्यात्मक चर्चा के रूप में कई ग्रंथों की निर्मिति होकर रसनिष्पत्ति और रसास्वाद के सूक्ष्मतम विवेचन

का आधार दर्शन एवं तर्कशास्त्र बना। मुसलमानों के शासनकाल में भारतीय समाज, धर्म, संस्कृति और साहित्य की अवनति हुई और धर्मसंघर्ष, समन्वय एवं दार्शनिक विकास के फलस्वरूप रसचर्चा की एक धारा राजदरबारों में पण्डितों के द्वारा सम्पन्न हुई और दूसरी समकालीन वैष्णव आंदोलन से सराबोर होकर भक्ति रस से प्लावित हुई। मराठों के तथा अंग्रेजों के शासनकाल में हिन्दी काव्यशास्त्र का उदय एवं विकास हुआ। आधुनिक भारत में नवजागरण, पाश्चात्य प्रभाव एवं सामाजिक स्थित्यन्तर के परिणामस्वरूप रससिद्धान्त को नितांत नूतनतम दृष्टि से परखने की प्रवृत्ति बढी और विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टि से रसचर्चा होती रही। रसचर्चान्तर्गत अध्यात्मपरकता को नकारा गया और नये विचारबोध ने रससिद्धान्त को चुनौती देकर उसकी आवश्यकता पर प्रश्नचिन्ह उपस्थित किया गया। इस सारे परिप्रेक्ष्य में समाज-विकास एवं परिवर्तन की सापेक्षता में रसचर्चा के परिवर्तन द्रष्टव्य है।

समसामयिक विदग्ध गोष्ठियों ने काव्यचर्चा एवं रसचर्चा को नित्य ही प्रभावित किया है। अतः नाट्यरस से काव्यरस तक रसचर्चा के प्रमाण को इन गोष्ठियों के विकास की सापेक्षता में परखने पर कुछ तथ्य सामने आते हैं। काव्यगोष्ठियों का स्वरूप प्रारम्भ में संस्थागत (Institutional) था। परन्तु युग एवं समाज-परिवर्तन के साथ उसमें अधिकाधिक व्यक्तिपरकता आती गई। उसके फलस्वरूप रस-चर्चा समूहवादी वस्तुपरक यथार्थ दृष्टि से हटकर, अध्यात्मपरक, आत्मनिष्ठ, व्यक्तिगत एवं विषयीगत (subjective) बनती गई। नाट्यरस के स्थानपर काव्यरस की चर्चा के प्रतिष्ठान का रहस्य इन कविगोष्ठियों के विकास में प्राप्त होता है। एक अन्य बात इस सन्दर्भ में प्रमाणित हो जाती है कि समकालीन समाजस्थितियों ने रस के आस्वादक की व्यक्तित्वधारणा को अत्यधिक प्रभावित किया। अपने काल की स्थिति के अनुरूप आस्वादक के व्यक्तित्व की धारणा का अंकन आचार्यों द्वारा किया गया। रस का सन्दर्भ नाट्य से हटकर काव्य से स्थापित होनेपर आस्वादक में विशेष गुणों का होना आवश्यक प्रतीत हुआ और उसके व्यक्तित्व की धारणा बदलती गयी। रसचर्चा के रंगमंचपर आस्वादक विभिन्न कालोंमें विभिन्न रूपों एवं भूमिकाओं को धारण करके उप-स्थित हुए। ये भूमिकाएँ क्रमशः अधिकाधिक सुक्ष्मतम होती, चिन्तनपरकता से परिवेष्टित होती गई। सुमनस प्रेक्षक, प्रमाता प्रेक्षक, सामाजिक, सहृदय रसिक, रसिक योगी, भक्त आदि सभी व्यक्तित्वधारणाओं के अभिधान समकालीन समाज-दर्शन, विशेष दृष्टि एवं जीवनबोध का ही प्रतिबिम्ब है।

भरतमुनि द्वारा योजित रस के देवता एवं वर्ण के अध्ययन में भारतीय दैवतशास्त्र का आधार लिया गया है। देवता एवं वर्ण की योजना के मूल में भरतमुनि की व्यक्ति-गत सूझ के बावजूद वैदिक प्रभाव एवं देवताओं के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में तत्कालीन समाज की मान्य धारणाएँ तथा जीवनादर्श हैं। सृजनत्व एवं उर्वराशक्ति के प्रतीक

विष्णु शृंगार रस के देवता, राष्ट्रीय वीरत्व का द्योतक इन्द्र वीर रस के देवता, संहारकर्ता के रूप में लाल पीठवाले रुद्र रौद्र के देवता और यम करुण रस के देवता माने गये हैं। शिवजी के विचित्र प्रमथों की हास्य के, विश्वनिर्माता ब्रह्मा की अद्‌भुत के, भयावह महाकाल को भयानक के और स्मशानवासी कालदेव की बीभत्स के देवता के रूप में योजना यथार्थ प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त भरतमुनिपश्चात् आजतक विभिन्न विद्वानों द्वारा इस योजना के खण्डन एवं नूतन प्रस्तावादि के पीछे व्यक्तिगत सूझ, नूतनता का आग्रह और देवताविषयक परिवर्तित कल्पनाओं का विशेष हाथ है। वर्णयोजना के पीछे सांस्कृतिक संकेत और रंगों के भावात्मक मूल्य की महत्ता है।

रससिद्धान्त की चर्चा में इस प्रश्न की गौणता होते हुए भी रससंख्या की वृद्धि, संकोच तथा प्रधान-गौणत्व का प्रश्न बहुचर्चित है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में इसे परखने पर प्रमाणित होता है कि रससंख्या के निर्धारण एवं मान्यता को पहले से ही समकालीन साहित्यिक उपलब्धि, युगीन सांस्कृतिक प्रभाव, जीवनादर्श एवं सामाजिक भाव (social tone) ने प्रभावित किया है। भरतमुनि द्वारा स्थापित अष्टरसों में तत्कालीन अभिजात जीवन की गहरी छाप है। शान्त और भक्ति को अष्टवर्ग में स्थान न मिलने का कारण बौद्ध धर्म के प्रभावस्वरूप उत्पन्न निवृत्तिपरकता से बचनेका महान प्रयास करनेवाले सुधारवादी एवं ब्राह्मणधर्म के हिमायती भरतमुनि की दृष्टि हैं। तबसे समाजपरिवर्तन के साथ विभिन्न राजनीतिक स्थितियों, धार्मिक क्रांतियों, साहित्यिक चेतनाओं एवं व्यक्तिगत सूझ के कारण विभिन्न रसों की माँग एवं स्थापना की गई। समाजप्रवाह एवं साहित्य में कुछ बचे और अनावश्यक सिद्ध होने पर नष्ट हुए।

समाजपरिवर्तन के क्रम में आधुनिक काल में तीव्रतम गति प्राप्त हुई। पूर्ववर्ती रूढियों, विचारप्रवाहों, जीवनदृष्टि, मूल्यों आदि में नये संस्कार होकर समाजजीवन बदलता गया और उसकी सापेक्षता में मानव जीवनमूल्यों एवं नैतिकता-अनैतिकता की कल्पनाओं तथा समाजगत व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों में भी पहले की अपेक्षा अन्तर आया है। एक हज़ार वर्ष पूर्व अभिजात जीवन के आदर्श एवं मानदण्ड, मध्यकालीन दरबारी जीवन की आधीनता एवं असहायता, अंग्रेजों के शासन में जकड़े हुए व्यक्ति-जीवन की प्रतिबद्धता और स्वतन्त्रता के पश्चात गणतंत्रवादी समाजरचना में वैज्ञानिक युग से बद्ध मानवजीवन का अनुभव, इस सारे जीवनविकास ने संस्कारों, परस्पर सम्बन्धों, संकेतों, मूल्यों एवं व्यक्ति के स्थान (status) में अन्तर उत्पन्न किया है।

इन सारी परिवर्तनशील मान्यताओं, परिस्थितियों एवं विश्वासों ने हर युग में व्यक्ति के भावों एवं विकारों एवं साहित्य को भी प्रभावित किया है। हर युग की संवेदना भिन्न रही है। अतः प्रत्येक युग के साहित्य का भी एक विशेष टोन रहा है। संस्कारों के परिवर्तन से तथा संवेदना के अन्तर से साहित्य में एक समाज एवं युग में

विभिन्न कोटि के काव्य द्वारा एक ही प्रकार की अनुभूति व्यक्त हुई अथवा एक काल की एक ही अनुभूति को दो कवियों ने भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। इसी लिए भक्तिकालीन संवेदना से रीतिकालीन संवेदना भिन्न रही।

वैज्ञानिक युग में इस पूरे परिवर्तन का क्रम बेहद तेज़ी से बढ़ता रहा। उसने युग के साहित्यशास्त्रीय विचार को प्रभावित किया। इस आमूलाग्र परिवर्तन से आज काव्यास्वाद के नये विभिन्न आयाम उत्पन्न हुए हैं। इस समसामयिकता के संदर्भ में रसास्वाद की स्थिति को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परखने पर रससिद्धान्तगत रसाभास, साधारणीकरण, आनन्दवाद आदि के सन्दर्भ में समसामयिकता और संस्कारों की अधिक महत्ता प्रतीत होती है। रसास्वाद की स्थिति में अन्तर आनेसे पूर्ववर्ती तत्त्वों का पुनःपरीक्षण अनिवार्य हो जाता है। व्यक्ति-व्यक्ति में होनेवाली रूचिभिन्नता, स्थानीय संस्कार, विशिष्ट मनस्थिति, पर्यावरण के भिन्न संस्कार, लिंगभिन्नत्व, आयु आदि के साथ समकालीन समाज एवं युग का संस्कार रसास्वाद की स्थिति में विचारणीय है।

रसात्मक बोध की स्थिति को समूह मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में परखने पर कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित हो जाते हैं। समूह, व्यक्ति और रसात्मक स्थिति नाटक, काव्य का पाठ और मौनपाठ के स्तर पर भिन्न बन जाती है। नाटक के प्रेक्षक की भूमिका से रसास्वाद और उसी नाटक का मौनपाठ करते हुए रसास्वाद, मंचीय काव्यपाठ से रस का आस्वाद और उसी काव्य के मौनपाठ से रसास्वाद इन सभी आस्वादप्रक्रियाओं में अन्तर विभिन्न स्थितियों को आन्तरक्रिया (interaction) के स्तर पर परखनेसे प्रमाणित होता है। रसास्वाद की सफलता के लिये नाट्य का प्रयोग, प्रेक्षकगण का अस्तित्व महत्त्वपूर्ण होते हैं, जो भरतमुनि को अपेक्षित है। काव्यपाठ से रसमय काव्य का प्रभाव श्रोताओं पर होता ही है। लय और छन्द का काव्यपाठ में विशेष महत्त्व होता है। नवीन भावबोधसम्पन्न काव्य का पाठ भी सुग्राह्यता उत्पन्न करने में सहायक होता है। भावात्मकता का अंश होने पर लयात्मक काव्यपाठ से श्रोताओं को काव्यानुभूति में अधिक सुलभता एवं सफलता होती है। रस का अभाव होनेपर भी यदि भावसामग्री किसी अंश में उस काव्य में हो तो रस आता है। बुद्धिप्रधान काव्य का पाठ पाठकों के आस्वाद में सुकरता उत्पन्न करता है और सुप्त भावात्मक क्षमता व्यक्त करने की सामर्थ्य भी रखता है।

साधारणीकरण के सन्दर्भ में भी व्यक्ति-भिन्नता, समाज की परिवर्तनशीलता एवं भाषा के संस्कार को विशेष महत्ता देनी चाहिये। समसामयिक स्थिति में पाठक और कवि की संवेदना में वर्षों का व्यवधान महत्त्वपूर्ण है। काल के परिवर्तन से काव्य के आलम्बन वे ही रहनेपर भी उनके सन्दर्भ बदल जाते हैं। अतः नई संवेदना से युक्त पाठक द्वारा प्राचीन काव्य का आस्वाद और प्राचीन अभिरूचिसंपन्न पाठक द्वारा

आधुनिक भावबोधयुक्त नूतनतम काव्य का आस्वाद इनमें अन्तर उपस्थित होता है। निष्कर्षतः प्रतीत होता है कि साधारणीकरण में समकालीन संस्कार एवं सामाजिक युगबोध का प्रभाव रहता है। काव्यभाषा संस्कार का महत्त्व इस दृष्टि से अधिक है।

आचार्यों द्वारा स्थापित आनन्दवाद सम्बन्धित संपूर्ण शब्दयोजना पर मध्यकालीन अध्यात्मपरक संस्कार एवं प्रभाव है और चिन्मयानन्द, तन्मयीभवन, तादात्म्य, निर्विकल्प समाधि आदि स्थितियों को आज स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है। व्यक्ति की परिवर्तित संवेदना, अभिव्यक्ति एवं आस्वाद में अन्तर लायी है। नितान्त आनन्द के स्थान पर अन्य कुछ संमिश्र संवेदना काव्य जगाता है। अखण्ड आनन्द की स्थिति आज कैसे सम्भव हो सकती है यह भी समस्या है। ब्रह्मानन्द, अलौकिक जैसे विशेषण आनन्द की उच्चतम स्थिति के प्रतीक हैं, जो आज स्वीकार्य नहीं है। फिर भी काव्य के आस्वाद से जो प्राप्त होता है वह मात्र आनन्द नहीं, और कुछ होता है। उसकी व्याख्या करना कठिन है। पर आज कवि का भोगा हुआ क्षण अभिव्यक्ति पाता है, घुटन, संत्रास, उदासी, उद्वेग आदि सबकुछ नूतनतम ढंग से अभिव्यक्ति पाता है और पाठक को विचलित कर देता है अवश्य। अतः काव्यास्वाद के दो स्तर मानना अधिक उचित होगा। एक रसानुभूति, रसमग्नता या रसविभोरावस्था और दूसरी काव्यानुभूति है। नवीन भावबोधसम्पन्न काव्य से काव्यानुभूति का अनुभव अवश्य होता है।

रसाभास के मूल में प्राचीन आचार्यों द्वारा अनौचित्य को प्रधान माना गया है। नैतिक आधार पर रसाभास की चर्चा भी आधुनिक विद्वानों ने की है, परन्तु सामाजिक परिप्रेक्ष्य में औचित्य-अनौचित्य, नैतिकता-अनैतिकता की कल्पनाओं का परीक्षण करने से प्रमाणित होता है कि ये तत्त्व पूर्णतः गतिशील, परिवर्तनशील एवं समाजस्थितिसापेक्ष होते हैं। अतः ये रसाभास के स्थिर मानदण्ड नहीं हो सकते। अनौचित्य की प्राचीन मान्यताएँ आज ढह चुकी हैं। नैतिकता को नया सन्दर्भ प्राप्त हुआ है। अतः रसाभास की वे मान्यताएँ अब उपयुक्त नहीं हैं। रसाभास का प्रधान आधार सामयिक संस्कार, मनोविज्ञान एवं कलात्मक औचित्य ही माना जा सकता है और नये-पुराने सभी काव्य का रसास्वाद समसामयिक संदर्भ में ही सफलता से किया जा सकता है, अन्यथा सारा काव्य रसाभासात्मक लगेगा।

सामाजिक परिवेश में इन सारी बातों का परीक्षण करनेपर वर्तमान नये काव्य के संदर्भ में रससिद्धान्त मानदण्ड के रूप में अपूर्ण, अधूरा होने का प्रमाण मिलता है। रससूत्र के अनुसार भावविभोरावस्था की स्थिति, रस की गहनतम अनुभूति आज संभव नहीं है। कुछ नवकविताओं में भावबोध अमूर्त एवं अस्पष्ट होते हुए भी इतना उत्कट होता है कि पाठकों के मन में भाव जगाने की सामर्थ्य रखता है। मानवजीवन यंत्रयुग

से बद्ध विचारबद्ध एवं बौद्धिक बनता जा रहा है । परन्तु जब तक मानवका मन और चेतना जिन्दा है, भाव स्पर्श खण्डित रूप में ही क्यों न हो होता रहेगा तथा तबतक काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता। और जबतक काव्य का अस्तित्व है, आलोचना की विभिन्न प्रणालियों के बावजूद भविष्य में भावस्पर्श का अन्वेषण बना रहेगा इसमें कोई शंका नहीं है।

■ ■

प्रमुख सहायक ग्रन्थ एवं पत्रिकाएँ

हिन्दी के ग्रन्थ

अनुसंधान और आलोचना : डॉ. कन्हैयालाल सैगल, चिन्मय प्रकाशन, जयपूर ३

आचार्य दण्डी और संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास–दर्शन : डॉ. जयशंकर त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

आत्महत्या के विरुद्ध : रघुवीर सहाय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ६.

आधुनिक कविता में मनोविज्ञान : डॉ. उर्वशी सूरती, अनुसन्धान प्रकाशन, कानपूर, १९६६

आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना : डॉ. पुत्तुलाल शुक्ल, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

आधुनिक हिन्दी–मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन : डॉ. मनोहर काले, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर प्रा. लि., बम्बई, १९६३

आधुनिक हिन्दी साहित्य में वात्सल्य रस : डॉ. श्रीनिवास शर्मा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली ६, १९६४

आलोचना के मान : शिवदानसिंह चौहान, रणजित प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली, १९५८

आलोचना और साहित्य : डॉ. इन्द्रनाथ मदान, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६४

करुण रस : डॉ. व्रजवासीलाल श्रीवास्तव, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली ६, १९६१

कला और साहित्य : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली १६

कविता के नये प्रतिमान : डॉ. नामवरसिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ६, १९६६

कहानी स्वरूप और संवेदना : राजेन्द्र यादव, नॅशनल पब्लिकेशन हाऊस, दिल्ली, १९६८

काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद, १९५८

काव्यचर्चा : आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल, साहित्यशोध, कलकत्ता
काव्यदर्पण : पण्डित रामदहिन मिश्र, ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर
काव्यशास्त्र : पण्डित जगन्नाथ तिवारी, अभिनन्दन ग्रन्थ, सं. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९६६
चाँद का मुँह टेढ़ा है : गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६९
चिन्तन के क्षण : विजयेन्द्र स्नातक, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली ६, १९६६
चिंतामणि : पहला भाग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन पब्लिकेशन प्रायवेट लिमिटेड, प्रयाग, १९६३
जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त : डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, १९६३
तारसप्तक (प्रथम) : सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण
तीसरा सप्तक : सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तुलसी : आधुनिक वातायन से—डॉ. रमेशकुन्तल मेघ, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
गोस्वामी तुलसीदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा
तुलसीदास : एक विश्लेषण—पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली
दूसरा सप्तक : सं. अज्ञेय, प्रगति प्रकाशन, नयी दिल्ली
नया हिन्दी काव्य : डॉ. शिवकुमार मिश्र, अनुसन्धान प्रकाशन, कानपुर
नयी कविता का परिप्रेक्ष्य : डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८
नयी समीक्षा : अमृत राय, हिन्दुस्थानी पब्लिशिंग हाऊस, बनारस
प्रगति और परम्परा : डॉ. रामविलास शर्मा, किताबमहल, इलाहाबाद
गतिशील साहित्य के मानदण्ड : डॉ. रांगेय राघव, सरस्वती पुस्तक सदन, आग्रा, १९५४
प्राचीन भारतीय कलात्मक विनोद : डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९५२
बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य : डॉ. कृष्णदेव झारी, शोध प्रबन्ध प्रकाशन, नई दिल्ली ५, १९६६
भारतीय कला का सिंहावलोकन : पब्लिकेशनं डिवीजन, भारत सरकार
भारतीय चित्रकला : वाचस्पति गैरोला, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद
भारतीय कला के पदचिन्ह : डॉ. जगदीश गुप्त, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९६१

भारतीय प्रतीकविद्या : जनार्दन मिश्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद

भारतीय संस्कृति और कला : डॉ. राधाकमल मुकर्जी, राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली

भारतीय साहित्यशास्त्र : डॉ. बलदेव उपाध्याय, प्रसाद परिषद, काशी

भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : सत्यकेतु विद्यालंकार, सरस्वती सदन, मसूरी

भाषा और समाज : डॉ. रामविलास शर्मा, पीपल्स पब्लिशिंग हाऊस प्रा. लि., दिल्ली १

भाषा और संवेदना : डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी ५, १९६४

मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध : डॉ. रमेशकुन्तल मेघ, रामकृष्ण प्रकाशन, १९६९

मूल्य आणि मूल्यांकन : डॉ. रामरतन भटनागर

रसकलश : स्व. पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, १९६१

रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन : डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, १९६२

रसमीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण

रसविमर्श : श्री. राममूर्ति त्रिपाठी, विद्यामंदिर, वाराणसी, १९६५

रससिद्धान्त : डॉ. नगेन्द्र, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९६४

रससिद्धान्त की दार्शनिक तथा नैतिक व्याख्या : डॉ. तारकनाथ बाली, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९६४

रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण—डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, १९६०

वाङ्मयविमर्श : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, १९५७

विचार और विवेचन : डॉ. नगेन्द्र, गौतम बुक डेपो, दिल्ली १९५३

वीर रस का शास्त्रीय अध्ययन : बटेकृष्ण, सरस्वती मन्दिर, बनारस, १९५६

वैदिक देवशास्त्र : डॅ. सूर्यकान्त, भारत भारती प्राइवेट लि., दिल्ली ६, १९६१

संस्कृति के चार अध्याय : रामधारीसिंह दिनकर, राजपाल ॲन्ड सन्स, दिल्ली

संस्कृति और समाजशास्त्र : डॉ. रांगेयराघव, श्री. गोविन्द शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९६१

संस्कृति और साहित्य : डॉ. रामविलास शर्मा, किताब महल, द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद १९५३

सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा . डॉ. मुकर्जी, सरस्वती सदन, मसूरी

साहित्य का मर्म : डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, लखनऊ विश्वविद्यालय

साहित्यानुशीलन : शिवदानसिंह चौहान, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ६, १९५५

सौन्दर्यशास्त्र और रससिद्धान्त : डॉ. निर्मला जैन, नॅशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली ७, १९६७

स्वतंत्र कलाशास्त्र : डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा प्रकाशन

हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन : वासुदेवशरण अग्रवाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटन

हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास : डॉ. भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

हिन्दी नीतिकाव्य : डॉ. भोलानाथ तिवारी, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा १९५८

हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास : जितेन्द्रनाथ पाठक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

हिंदी साहित्य में हास्य रस : डॉ. बरसानेवाले चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली

मराठी के ग्रंथ

अभिनव काव्यप्रकाश : रा. श्री. जोग, व्हीनस बुक स्टॉल, पुणे २.

काव्यालोचन : द. के. केलकर, मनोहर ग्रंथमाला, पुणे २.

खडक आणि पाणी : गंगाधर गाडगीळ, पॉप्युलर बुक डेपो, मुंबई ७.

गीतारहस्य : लोकमान्य टिलक.

टीकाविवेक : श्री. के. क्षीरसागर, पॉप्युलर प्रकाशन, मुंबई, १९६५.

प्रतिभाविलास : ना. सी. फडके, विश्वकर्मा साहित्यालय, १९६६.

प्राचीन भारतीय कलादर्शन : डॉ. रा. शं. वालिम्बे.

भारतीय साहित्यशास्त्र : ग. त्र्यं. देशपांडे, पॉप्युलर बुक डेपो, मुंबई, १९६०.

भावगंध : मा. गो. देशमुख, विदर्भ प्रकाशन, अकोला.

रसविमर्श : डॉ. के. ना. वाटवे, वि. ह. दामले, नवीन किताबखाना, पुणे २.

वैदिक देवतांचे अभिनव दर्शन : डॉ. रा. ना. दाण्डेकर, शिक्षण-प्रसारक मंडळी, पुणे २, १९५१.

संस्कृत साहित्य शास्त्राचा इतिहास : पां. वा. काणे, पहिली आवृत्ति, अनु. के. ल. ओगले, आंग्रेवाडी, गिरगाव बॅक रोड, मुंबई ४.
संस्कृत काव्याचे पंचप्राण : के. ना. वाटवे, मनोहर ग्रंथमाला प्रकाशन, पुणे.
साहित्य निर्मिती व समीक्षा : दि. के. बेडेकर, पॉप्युलर प्रकाशन, मुंबई, १९६६
साहित्यविचार : प्रा. दि. के. बेडेकर, पॉप्युलर प्रकाशन, मुंबई, १९६४.
साहित्य आणि समीक्षा : प्रा. वा. ल. कुलकर्णी, पॉप्युलर प्रकाशन, मुंबई ७.
सौंदर्यशोध आणि आनन्दबोध : रा. श्री. जोग, व्हीनस प्रकाशन, पुणे.
हास्य-विनोद मीमांसा : न. चिं. केळकर, कॉन्टिनेन्टल प्रकाशन, पुणे १९५८.
वाङ्मयीन टीका आणि टिप्पणी : प्रा. वा. ल. कुलकर्णी, पॉप्युलर प्रकाशन, मुंबई ७.

संस्कृत के ग्रंथ

अभिनव भारती : भाग १, (हिन्दी-) आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
औचित्यविचार चर्चा : चौखम्बा, १९३३
कामसूत्र : जयमंगला टीका-हिन्दी : देवदत्तशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत, वाराणसी १, १९६४
काव्यमीमांसा : हिन्दी-अनु० केदारनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषापरिषद, पटना, १९५४
काव्यप्रकाश मम्मट : अनु० विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६०
काव्यादर्श : भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिटयूट, पुणे, १९३८
काव्यालंकार : भामह, अनु० देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६३
कौटिलीय अर्थशास्त्रम् : हिन्दी व्याख्या-वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२
ध्वन्यालोक : अनु० जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा, वाराणसी, १९६५
दशरूपक : धनंजय, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, मुंबई, १९२७
नाट्यदर्पण : हिन्दी : सं० डॉ. नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मनुस्मृति : मनु, कलकत्ता युनिवर्सिटी, कलकत्ता
भरत का नाट्यशास्त्र : डॉ. रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४
साहित्यदर्पण : विमला टीका-शालीग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१

अंग्रेजी के ग्रंथ

An Introduction to Anthropology : P. Beals & H. Hoizer, The MacMillon Company, New York, 1963.

Art & Images : Dinkar Kowshik, Allied Publishers Pvt. Ltd., Bombay, 1963.

Ancient India : Radha Kumud Mukerjy, Indian Press Publications Private Ltd., Allahabad, 1956.

Art through the Ages : Helen Gardner, Harcourt Bruce and Company, New York.

Art and Society : Herbert Read, Faber & Faber London.

A Manual of Ethics : Dr. Jadunath Sinha, The Central Book Agency, Calcutta, 1952.

Creative Imagination : John Downey; Kegan Paul, Trench, Trubner & Co. Ltd., London.

Cultural Society : J. L. Gillin & J. P. Gillin, The MacMillon Company, New York.

The Epic of Man : Time Life International, Nethertand.

The Expressions of Emotions in Man and Animal : Charles Darwin, Thinkers Library, Third Impressions.

Evolution in Indian Culture : Lunia B. N., 1967, Laxmi Naraian Agarwal, Educational Publications, Agra.

Essentials of Social Psychology : Dr. Ram Nath Sharma, Oriental Publishing House, Kanpur, 1965.

From Savagery to Civilization : Graham Clerk, Henry Schuman's College, Paperbacks 71:1 I 3 54284.

Gupta Art : Vasudev Sharan Agarwal.

Handbook of Social Psychology : Kimball K. Young, 4th Edition, 1961, Rontledge Kegan Paul Ltd., London.

The Heritage of Indian Art : Vasudev S. Agarwal, Publication Division, Govt. of India, 1964.

General and Social Psychology : Robert H. Thoules, University Tutorial Press, London, 1947.

The History of a Man : Carleton Coon, Alfred A. Knox, 1955, New York.

The Principles of Literary Criticism : I. A. Richards, Rontledge Kegan Paul Ltd., London.

Papers on Vedic and Other Subjects : Dr. R. N. Dandekar, Poona.

Primitive Culture : Tylor.

Sociology of Social Problems : E. J. Ross.

The Story of Man : Carleton S. Coon, New York, Alfred A. 1955.

Society : R. M. Maclever & C. H. Page, MacMillon & Co. Ltd., London, 1959.

Selected Essays : T. S. Eliot, Faber & Faber Ltd., London.

Sanskrit Drama : A. Berriedale Keith, Oxford University Press, 1964.

Society : R. T. Lapiere, McGrow Hill Book Company Inc., London.

The History and Culture of Indian People : Vol. I, II, III Bharatiya Vidyabhavan, Mujumdar & Others.

History of Sanskrit Literature : D. N. Dasgupta and S. K. De, University of Calcutta, 1947.

Illusion and Reality : Cristopher Caudwell, Peoples Publishing House Ltd., Delhi 1956.

Manual of Ethics : University Mackenzie I. S. Tutorial Press, London.

Mind, Self & Society : G. M. Mead, The University of Chicago Press, Chicago.

Number of Rasas : Dr. Raghavan, The Adyar Library, Adyar, 1940.

Psychology as Science : Weld H. P., Mathuen & Co. Ltd.,

The Psychology of Society : Morris Ginsberg, Mathuen & Co. Ltd , London, 1954.

Sociology : Arnold W. Green. 1956 Second Edition, McGrow Hill Book Company Inc., London.

Social Life in Ancient India : Haran Chandra Chakladar, Greater India Society, 1929:

Social Psychology : Alport F. H., Honghton Miffin Company, U. S. A.

Social Psychology : Lapiere and Farnesworth, McGrow Hill Book Company Inc., London, 1949.

Social Psychology : Sprott W. S. H., Mathuen and Co. Ltd., London, First Edition, 1952.

The History of Arts : German Bazin, Bonanza Books, New York.

The Elements of Social Science : R. M. Maclever, Mathuen and Co., Ltd., London.

The Theory of Literature : Rene Welleck, Penguin Books.

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना
कल्पना
जनभारती
नयी कविता
भारती पत्रिका
माध्यम
वातायन
समालोचना
सप्तसिन्धु
साहित्यसंदेश
ज्ञानोदय
Historical Quarterly, 1954

कोश

हिन्दी साहित्य कोश

मानककोश

शब्दकल्पद्रुम

प्राचीन चरित्र कोश

सांस्कृतिक कोश

Dictionary of Psychology—Drever.

Dictionary of Non-classical Mythology
—Egerton Sykes.

■ ■

नाम-सूची

अभिनवगुप्त, आचार्य ६२, ६४, ९७, ९८, १०७, १०८, ११०, १२१, १२२, १२३, १२९, १३०, १३९, १५३, १७०, २१०, २१५
अमृतराय १२८, १८४
अज्ञेय १७१, १८२, १८८, १८९, २०५
आनन्दवर्धन ९६, ९७
आलपोर्ट १५२
ओल्डनबर्ग ११४
इलियट ४२, ४३
उद्भट ५४, ५५, १२९, १३८
काणे डॉ. पां. वा. ५१
काका कालेलकर १७०
काडवेल, ख्रिस्टो. १, १२८, १७०, १८४
कार्लाइल, थॉमस २१
कीथ डॉ. १२५
कुन्तक ६४
कून, कार्लेटन २०, २१
केशवदास ७३
केळकर, न. चिं. १३४, १३५, १७०
कौटिल्य ४८
क्रॅइम क्लार्क २१, २२, २३
कृपाराम ७२
गिलीन, जे. एल. ५
गिसबर्ट २
गिन्सबर्ग ३, ४
गुप्त, डॉ. गणपतिचन्द्र १३०
गोल्डनेर ११०
गोल्डनवायझर २१
ग्रीन, ए. डब्ल्यू. ५
चतुर्वेदी, डॉ. बरसानेवाले ११७
चिपळुणकर विष्णुशास्त्री १४२
जयदेव ७०
जैन, डॉ. निर्मला ९३, ९७
जावडेकर, आचार्य १३०
जोग, डॉ. रा. श्री.
झारी, डॉ. कृष्णदेव १०८, १११, ११६, १२१, १२५, १३३, १३५
टायलर २१
डाउने मिसेस १२४
डार्विन चार्लस २७, २८
ड्रिवर ६
डे. एस. के. ५४, १३८
डेविस डाचेस २००
तालवार डॉ. १३१
त्रिपाठी डॉ. जयशंकर ५५, ८६, १७१
त्रिपाठी राममूर्ति १७१
थाऊलेस, रॉबर्ट एच. १४६
थॉमस कार्लाइल २१
दण्डी, आचार्य ४४, ५४, ५५, ८५, ८६, १४१
दाण्डेकर, डॉ. रा. ना. १०३, १०४, ११०, १११, ११२, ११५
दीक्षित, अप्पय ७१
दीक्षित, डॉ. आनन्दप्रकाश ५५, १३७, १४१, १५८, १६९, १७०, १७५, २२५
देशपांडे ग. त्र्यं. ८९, ९५, १३१
देशपांडे आ. रा. 'कवि अनिल' १३०
द्विवेदी डॉ. हजारीप्रसाद ८९
धनंजय ७०, ७१, १२९, १३९
नगेन्द्र डॉ. ५५, १७०

नन्ददास ७३
नामवरसिंह डॉ. २११
पटवर्धन (माधव ज्युलियन) १७०
पण्डितराज जगन्नाथ ४५, ७१, ९०, १२९, १७०, २१५, २१६
परांजपे शि. म. १३०
प्रसाद जयशंकर १४१, १९१
पंत सुमित्रानन्दन १६१
पाण्डेय डॉ. कान्तिचन्द्र ५७
फडके ना. सी. १७०
बटेकृष्ण १०८
बलदेव उपाध्याय १५६
बाणभट्ट ८०, ८६
बाहरी डॉ. हरदेव २२, ९७
बीलस २१, २२, २३
बेडेकर दि. के. १८, ४९, १०५, १०६, १३०, १३२, १३५
बेंजामिन फ्रँकलिन २१
ब्रीट एस. एच. १५०
भटनागर, डॉ. रामरतन ४३
भट्टतौत १३९
भट्टनायक ५४, ५६, ६३, ९५, ९६, १३९, १९१
भट्टलोल्लट ५४, ५६, १२९
भरतमुनि ४४, ४९, ४९, ५०, ५६, ७०, ८४, ९०, ९१, ९३, ९९, १०५, १०८, १२९, १११, ११७, १२८, १३०, १३१, १३६, १३८, १५२, १५४, १६१, १७०, १९१, २०७, २१५
भानुदत्त १२९, १३९
भामह ४४, ५४, ५५
भोज ६४, ९८
मदान डॉ. इन्द्रनाथ १४३
मधुसूदन सरस्वती ७१
मनु ४८
मम्मट ६२, ६४, १३९, २१६
महिमभट्ट ७०
मॅकलिवर १०, १४६
मॅकेंझी २१८
मॅगडुगल २८
मॅथ्यू ऑर्नाल्ड ७
मॉर्गन २१
माचवे डॉ. प्रभाकर २०५
मिश्र केशवप्रसाद १७०
मिश्र डॉ. भगीरथ १२, ७३
मीड जी. एम. ६
मुकर्जी राधाकमल ६१
मुकर्जी राधाकुमुद ८, ४६
मुक्तिबोध २०४
मेघ डॉ. रमेशकुन्तल ९४, ९६, १०२, १७८, १९२
युंग, के. के. १०२, १४६, १४८, १४९, १५३, १५४, १५७
रघुवीर सहाय १६६
राघवन डॉ. ९८, १३६, २१६
राजशेखर ८८, ८९, ९०, ९६, १५६
राजेन्द्र यादव १९७
रामचंद्र गुणचंद्र ७०, १२९
रांगेय राघव २०६, २०८, २०९, २११
रॉस २
रुद्रट ५४, ५६, १२९, १३९
रुद्रभट्ट ५४, ५६, १२९
रुय्यक ५५, ७०
रूपगोस्वामी ७१, १२९
लुनिया, बी. एन. ५८, ५९, ६०, ७३
लेपियर आर. टी. १५०, १५४
लोकमान्य तिलक २२२

वाटवे डॉ. के. ना. १३०, १३१, १३४, १३५
वामन ५४, ५५
वात्स्यायन ८०, ८१, ८२, ८३, ८४
वॉटसन २६
विश्वनाथ आचार्य ४५, ७१, ९९, ११९ १२२, १२९, १७०, २१६
वुंड १२४
वेबर १३८
वेल्ड २६
शमशेर १६७
शर्मा डॉ. रामविलास १९८, २१२
शंकुक ५४, ५६, १३९
शुक्ल डॉ. पुत्तुलाल १६१
शुक्ल आचार्य रामचंद्र ३४, ३८, ३९, ५६, १३०, १७०, १७८, १८४, २१२, २३२, २३९
श्यामसुन्दरदास, आचार्य १७०
श्रीवास्तव डॉ. परमानन्द १६८
श्रीवास्तव डॉ. व्रजवासीलाल १२०, १२३, १७७
सहस्त्रबुद्धे डॉ. पु. ग. १३०, १४२
सुधांशु डॉ. १९९
सूर्यकान्त डॉ. ११३
सेन राजेन्द्रकुमार ५१
स्नातक डॉ. विजयेन्द्र १६२
स्प्राउट १४९
हरिऔंध १०७
क्षेमेन्द्र आचार्य ६२, ६४, १३९, २१७
क्षीरसागर, श्री. के. १७९

■ ■

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
३	१९	मॅक्रलिव्हर	मॅक्लिवर
१२	१८	उमनेवाले	उगनेवाले
२१	३०	कूल	कून
२३	२३	सई	सुई
४६	२७	राधाकुमुद	राधाकमल
१२५	१९	२	३
१४३	१	मदन	मदान
१६७	२८	हवा मे	हवा में
१७०	१३	रामप्रकाश	रामचंद्र
२१७	–	सराभास	रसाभास

■ ■

रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त क
रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त क
रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का
सासिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का
सिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का साम
न्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजिक

रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त
रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त
रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का
ससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का
सिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का साम
न्त का सामाजिक मूल्यांकन रससिद्धान्त का सामाजि